भागवत संप्रदाय

Bhagavat-Sampradaya

(भारतवर्ष के मुख्य वैष्णव संप्रदायों का एक गम्भीर अध्ययन)

स्व० मुं० देवीप्रसाद
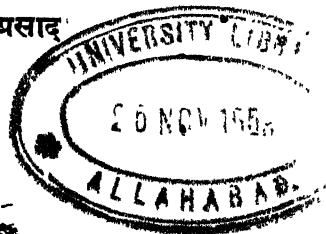
लेखक
बलदेव उपाध्याय
हिंदू विश्वविद्यालय, काशी

प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक—महताबराय, नागरीमुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण सं० २०१० वि०, २००० प्रतियाँ
मूल्य ६)

माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम-काल के भारतीय इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता और प्रेमी थे, तथा राजकीय सेवा के कामों से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने में ही लगाते थे। हिंदी में उन्होंने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे हैं जिनका हिंदी संसार ने अच्छा आदर किया।

श्रीयुत मुंशी देवीप्रसाद की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशन की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिए उन्होंने ता० २१ जून १९१८ को ३५०० रुपया अंकित मूल्य और १०५०० रु० मूल्य के बंबई बंक लि० के सात हिस्से सभा को प्रदान किए थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पीछे से जब बंबई बंक अन्यान्य दोनों प्रेसीडेंसी बंकों के साथ सम्मिलित होकर इंपीरियल बंक के रूप में परिणत हो गया, तब सभा ने बंबई बंक के हिस्सों के बदले में इंपीरियल बंक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अंश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हीं से होनेवाली तथा स्वयं अपनी पुस्तकों के बिक्री से होनेवाली आय से चल रही है। मुंशी देवीप्रसाद का वह दान-पत्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा के २६ वें वार्षिक विवरण में प्रकाशित हुआ है।

भगवत्-प्रार्थना

१

परब्रह्मानन्दे सकल सुरवन्द्ये स्वरसतः
क्षतद्वन्द्व-मन्दाकृतिदनुजकन्दाङ्कुरहरे ।
श्रियः कन्दे नन्दात्मज उदितचन्द्र-स्मितमुखे
मुकुन्दे स्पन्दो मे भवतु मनसो द्वन्द्वविरतेः ॥

—सदानन्द

२

सत्यानन्ताचिन्त्य-शक्त्येकपक्षे
सर्वाध्यक्षे भक्तरक्षातिदक्षे ।
श्रीगोविन्दे विश्व-सर्गादिकन्दे
पूर्णानन्दे नित्यमास्तां मतिर्मे ॥

—बलदेव विद्याभूषण

साधक-शिरोमणि महामहोपाध्याय पूज्यपाद पण्डित गोपीनाथ कविराज जी। उनके मौलिक लेखों तथा मौखिक उपदेशों से मैंने बहुत कुछ तत्त्व-ज्ञान की बातें सीखी हैं। उनके लिए मैं उनका चिरऋणी तथा नितान्त आभारी हूँ। उन्हें धन्यवाद देने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं।

संप्रदाय के प्रवर्तक कतिपय आचार्यों के चित्र भी यहाँ दिये गये हैं। ये चित्र नितांत प्रामाणिक हैं तथा तत्तत्संप्रदाय में बड़ी आस्था तथा निष्ठा से पूजार्ह माने जाते हैं। भिन्न भिन्न स्थानों से इनका संग्रह यहाँ किया गया है।

स्वामी रामानंद जी के जीवनचरित्र को अंकित करनेवाली 'प्रसंग पारिजात' नामक एक नवीन पुस्तक की पूरी हस्तलिखित प्रति सभा में हाल में सगृहीत की गई है। उस का पूरा विवरण यहाँ षष्ठ परिच्छेद के अन्त में परिशिष्टरूप मे दिया जा रहा है। इसके लिए मैं खोज विभाग के कार्यकर्ता श्रीजुगाल जी का अनुगृहीत हूँ। निंबार्क मत तथा राधावल्लभीय मत के विषय में कतिपय आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करने के लिए मैं क्रमशः वृंदावनवासी वेदांताचार्य पण्डित व्रजवल्लभ शरण जी तथा बाबा हितदास जी का विशेष आभार मानता हूं। ग्रंथ के प्रकाशन कार्य में अनेक प्रकार की सहायता देने के लिए मैं अपने चिरंजीवी पुत्र गौरीशंकर उपाध्याय, एम० ए, शास्त्री तथा गोपाल शंकर उपाध्याय तथा पुत्री मालती देवी को शुभ आशीर्वाद देना उचित समझता हूं जिन्होंने प्रेस के लिए कापी तैयार करने में, प्रूफ संशोधन में तथा अनुक्रमणिका बनाने में विशेष परिश्रम किया है।

अंत में मैं इस ग्रंथ को अखिलरसामृतमूर्ति रसिक-शिरोमणि श्री निकुंजविहारी के चरणारविन्दों में भक्तिगद्गद हृदय से समर्पित कर अपने परिश्रम को सफल मानता हूँ।

असदविषयमङ्घ्रिं भाव-गम्यं प्रपन्नान्
अमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपट-युवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीन्
तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि ॥

निर्जला एकादशी
सं० २०१०
२३—६—५३
काशी

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

परिशिष्ट

—०—

भागवत संप्रदाय

(१)

वैष्णव धर्म की महत्ता

(१) उदार दृष्टि
(२) अहिंसा का शंखनाद
(३) कलात्मक अभिव्यक्ति
(४) 'भक्तिरस' का अविर्भाव
(५) विजय गाथा
(६) साहित्य पर प्रभाव

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। यहाँ का वायुमंडल धर्म की पुकार से गूँजता है। यहाँ की पृथ्वी के कण-कण में धर्म की भावना भरी पड़ी है। इसी लिए इसे हम 'धर्मप्रधान' न कह कर 'धर्मप्राण' कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। यह अत्यंत प्राचीनकाल से नाना धर्मों तथा धार्मिक संप्रदायों का क्रीड़ा-निकेतन बना हुआ है। भारत-मही पर पनपने वाले वैदिक धर्म की अवांतर शाखाओं में दो ही मुख्य हैं—शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म। इन दोनों धर्मों ने अपनी उदार शिक्षा, उच्चतम आदर्श तथा उन्नत तत्त्वज्ञान के द्वारा भारतवर्ष का बड़ा ही कल्याण संपन्न किया है।

धर्म का पर्यवसान आचारशिक्षण में है। वह धर्म, जो सदाचार की शिक्षा पर आग्रह नहीं करता, अपने महत्त्वपूर्ण अभिधान के धारण की क्षमता ही नहीं रखता। इसीलिए आचार धर्म का मुख्य अंग गिना गया है—आचारः प्रथमो धर्मः। जिस धर्म के अनुयायियों में सदाचार की उपलब्धि कम होती है, वह धर्म उतना महत्त्वशाली नहीं माना जा सकता। धर्म के माहात्म्य तथा गौरव मापने की एक तुला है जिसे हम 'सामाजिक उन्नतिकरण' के नाम से पुकार सकते हैं। किसी भी धर्म को प्रभावशाली बतलाते समय हमें उसके रूप तथा प्रभाव को इसी

कसौटी पर भली भाँति कसने की आवश्यकता होती है। जो धर्म मानवसमाज के जीवन-स्तर को उदात्त बनाने में कृतकार्य होता है, उसकी हीन संकीर्ण प्रवृत्तियों को हटाकर उसमें उदार, उन्नत तथा विशाल भावनाओं के उदय में समर्थ होता है वह बिना संदेह महनीय धर्म माना जाता है। जो धर्म मानवहृदय में सौंदर्य तथा माधुर्य भावों की वृद्धि कर उसे सरस, रसस्निग्ध तथा विकसित बनाता है वह निःसंशय महिमामय धर्म की पदवी धारण करता है। जो धर्म मानव के भौतिक जीवन की उपेक्षा न करके उसके आध्यात्मिक जीवन के साथ संपूर्ण सामंजस्य उपस्थित करता है वह अवश्यमेव उदात्त धर्म गिना जाता है। तात्पर्य यह है कि जो धर्म मानव के भीतर मानवता के समस्त गुणों का उदय कर उसे पूर्ण मानव बनाता है उसका हम जगतीतल पर जीवन को विशाल, उदार तथा स्निग्ध बनाने के प्रधान साधक होने के हेतु विशेष रूप से आदर करते हैं। इस कसौटी पर कसे जाने पर हमें वैष्णव धर्म भारतवर्ष के विभिन्न धर्मों में ही नहीं, प्रत्युत संसार के धर्मों में, नितांत उदात्त तथा महत्त्वशाली प्रतीत होता है; इसमें संदेह करने का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है।

—❀—

१—उदार दृष्टि

वैष्णव धर्म उदारता का प्रतीक है। एक तो वैदिक धर्म स्वयं उदार धर्म है और उसमें भी वैष्णव धर्म तो और भी उदार है। वैष्णव धर्म की दृष्टि सदा ही औदार्य से मंडित रही है। इसका उपजीव्य ग्रंथ (श्रीमद्भगवद्गीता) भारतीय साहित्य में अपनी समन्बय दृष्टि के लिए सदा से विख्यात रहा है। वैष्णव धर्म को वर्णाश्रम धर्म में पूर्ण आस्था है, परंतु फिर भी वह भक्ति के राज्य में, उपासना के क्षेत्र में, सबका समान अधिकार मानता है। कर्मकांड के अनेक विधानों में शूद्र अधिकार से वचित रखा गया है, परंतु भक्ति के राज्य में वह ब्राह्मणादिकों के समान ही सच्चा तथा पक्का अधिकारी माना गया है। वैष्णव धर्म भक्ति प्रधान धर्म है—और भक्ति का संबंध मानव हृदय से है। मानव हृदय की एकता सर्वदा उद्घोषित की गई है। फलतः वैष्णव धर्म किसी भी मानव को भगवत्प्रेम से वंचित रखने के लिए उद्यत नहीं है। उसका द्वार समभावेन सबके लिए सर्वदा उन्मुक्त है।

इतिहास इस औदार्य दृष्टि का सर्वथा परिचायक है। बाहर से आनेवाली अनेक विदेशी जातियों को वैष्णव धर्म के अंतर्गत स्थान मिला। वे वैष्णव धर्म में घुल-मिलकर पूर्ण भारतीय बन गईं। यवनों के लिए भी वैष्णव धर्म ने अपना द्वार जब खोल रखा था, तब यह कहना विशेष महत्त्व नहीं रखता कि वह भारतवर्ष तथा एशिया की विभिन्न जातियों के प्रवेश के लिए सदा मुक्तद्वार था। श्रीमद्भागवत ने इस प्रसिद्ध पद्य में उन विभिन्न जातियों का—जैसे हूण, आंध्र, पुलिंद, पुल्कस, आभीर, यवन, खस आदि का—नामोल्लेख भगवान् विष्णु के आश्रय ग्रहण से शुद्धि प्राप्त करनेवाली जातियों में बड़े आग्रह के साथ किया है—

किरात - हूणांध्र - पुलिंद - पुल्कसा
आभीर - कङ्का यवना खशादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यंति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(भागवत स्कंध २, अ० ४, श्लो० १८)

विदेशी जातियों के वैष्णव धर्म में दीक्षित होने तथा उसका प्रकृष्ट अनुरागी बनने की घटना का परिचय हमें प्राचीन भारतीय इतिहास से, विशेषतः शिलालेखों से, सप्रमाण मिलता है । इस प्रसंग में परम भागवत 'हेलियोडोरस' नामक यवन-दूत की चर्चा नितांत उचित है । वह पश्चिमोत्तर प्रदेश के ग्रीक शासक एण्टि-अलकिडास का दूत बनकर विदिशामंडल के राजा काशीपुत्र भागभद्र के दरबार में आया था और यहीं उसने भगवान् विष्णु की पूजा के निमित्त गरुड़ध्वज का स्थापन किया था ।[१] इस शिला-लेख में 'हेलियोडोरस' अपने नाम के साथ भागवत की उपाधि धारण करता है । इससे स्पष्ट है कि वह वैष्णव धर्म में सर्वतो भावेन दीक्षित हो गया था । यह उदार दृष्टि वैष्णव धर्म को महत्त्वपूर्ण बनाने में प्रथम हेतु है ।

—❀—

२—अहिंसा का शंखनाद

आधुनिक भारतीय समाज में पवित्रता का जो वायुमंडल उपलब्ध होता है, आतर शौच तथा बाह्य शौच का जो पर्याप्त परिचय हमें मिलता है इसका श्रेय हमें वैष्णव धर्म को देना चाहिए । इस भव्य भारतवर्ष के प्रांगण में वैष्णव धर्म ने ही

१ द्रष्टव्य-बेसनगर शिलालेख

सर्वप्रथम अहिंसा का शंखनाद फूँका था जिसका अनुकरण कर जैन तथा बौद्धधर्मों ने कालांतर में इतनी ख्याति प्राप्त की। इस धर्म के ऐतिहासिक वृत्त से परिचित न होने के कारण ही पाश्चात्य विद्वानों ने तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने भी अहिंसा मंत्र के प्रचार का श्रेय सर्वप्रथम बौद्ध धर्म को और तदनंतर जैन धर्म को प्रदान किया है। इस निर्देश का हेतु उनका भागवत धर्म से अपरिचय ही है। वे लोग प्रथमतः बौद्धधर्म के सिद्धांतों से परिचित हुए। अतः इस धर्म का ही वैशिष्ट्य अहिंसा मंत्र का प्रचार माना गया। परंतु जब प्रबल युक्तियों के आधार पर जैन धर्म की बौद्ध धर्म से पूर्वभाविता निःसंदेह सिद्ध हो गई, तब यही धर्म इस श्रेय का अधिकारी माना जाने लगा। परंतु ऐतिहासिक तथ्य यह है कि वैष्णवधर्म ने ही वैदिकधर्म के भीतर से ही सर्वप्रथम वेद के हिंसामय यज्ञों के विरुद्ध विरोध का झंडा ऊपर उठाया। वैष्णवधर्म पूर्ण रीति से वैदिक है, परंतु वैदिक कर्मकांड की उपयोगिता मानते हुए भी हम यहाँ हिंसाप्रधान यज्ञों के प्रति विरोध भावना पाते हैं।

महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शांतिपर्व, ३३६ अध्याय) में भागवतधर्म के अनुयायी राजा उपरिचर का आख्यान इस प्रसंगमें विशेष महत्त्व रखता है। राजा ने वैदिक यज्ञ किया, परंतु इस यज्ञ में यवों के द्वारा ही आहुति प्रदान की गई। अश्वमेध यज्ञ में पशु के आलम्भन का ही विधान है, परंतु राजा ने अश्वमेध में भी पशुघात नहीं किया, क्योंकि वह स्वभावतः 'अहिंस्र' तथा शुचि था—

संभूताः सवसंभारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत्॥
(शान्ति पर्व ३३६।१०)

भगवान् ने स्वयं वैष्णव धर्म के सिद्धांत बतलाते हुए ब्रह्मादिक देवों से उसी देश में रहने की शिक्षा दी थी जिसमें वेद, यज्ञ, तप, सत्य तथा दान अहिंसा धर्म से संयुक्त होकर प्रचलित हों—

यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा
अहिंसाधर्म–संयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः
स वो देशः सेवितव्यो..............॥८९॥
(शान्ति पर्व, ३४० अ०)

इसी अहिंसा के पक्षपाती होने के कारण ही सांख्य-योग का संबन्ध भागवत धर्म के साथ माना गया है। इन दोनों दर्शनों का संबंध भागवत धर्म के साथ महाभारत में ही स्वीकृत नहीं है, प्रत्युत जैन दार्शनिक गुणरत्न ने भी 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका में इन दर्शनों के अनुयायियों को 'भागवत' नाम से उल्लिखित किया है। गुणरत्न जैन ग्रंथकार थे। उनका उल्लेख इसका प्रमाण है कि वैदिक परंपरा से बाहर भी यह संबंध मान्य तथा प्रामाणिक माना जाता था। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि पशुयाग के विषय में दो प्रकार के मत हैं—मीमांसक मत तथा सांख्य मत। (१) **मीमांसकों का मत** यह है कि पशुयाग श्रुति-संमत होने के कारण कर्तव्य कर्म है, यजमान की दृष्टि से भी तथा पशु की दृष्टि से भी। यजमान को तो अदृष्टफल या अपूर्व की सद्यः प्राप्ति हो जाती है तथा पशु भी यज्ञ में हिंसित होने पर पशुभाव को छोड़ कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के बिना ही देवत्व को सद्यः प्राप्त कर लेता है। अतः दोनों दृष्टियों से पशुयाग उपादेय है।

(२) **सांख्य मत**—इसके अनुसार पशुयाग में हिंसा अवश्यमेव होती है; पशु को प्राण वियोग की असह्य यंत्रणा भोगनी ही

पड़ती है। अतः इस क्लेशदान के कारण समग्र पुण्य में से किंचित् पुण्य घट जाता है—इतनी हिंसा होने से पुण्य की समग्रता नहीं रहती। व्यासभाष्य (२।१३) में इसका नाम है—'आवापगमन'। सांख्याचार्य पञ्चशिख का यही मत था। एतद्विषयक उनका सूत्र है—स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति। इसी तथ्य के अनुसार सांख्ययोग की दृष्टि में समस्त यम नियमों में 'अहिंसा' ही मुख्य सार्वभौम धर्म है। यह बात ध्यान देने की है कि सत्य तथा अहिंसा के पारस्परिक विरोध के अवसर पर 'अहिंसा' की ही विधि मानी गई है।

'अहिंसा' भागवत धर्म का मुख्य सिद्धांत है। इस धर्म की विशिष्टता यही है कि पूर्ण वैदिक होकर भी यह अहिंसायाग का पक्षपाती है। मेरी दृष्टि में जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म ने अहिंसा-सिद्धांत का ग्रहण भागवतों से ही किया है। इस प्रकार वर्तमान समय में भारतीय समाज में शुचिता तथा पवित्रता की भावना जगाने में तथा अहिंसा मंत्र के 'अहिंसा परमो धर्मः' उद्घोष करने में वैष्णव धर्म की प्रभुता सर्वातिशायिनी है।

३—कलात्मक अभिव्यक्ति

भारतीय समाज में कला का स्थान सदा से महत्त्वपूर्ण तथा गौरवमय माना गया है। भारतीय कला भारतीय संस्कृति का एक सुंदर संदेश-वाहक बन कर अपने भव्य रूप की संपत्ति से संपन्न है। आध्यात्मिकता की छाप उसके ऊपर इतनी है कि उपयोगी कलायें भी इस रूप से विहीन नहीं हो सकी हैं। महाकवि भवभूति की मर्मभरी वाणी कला के विषय में कह रही है—

मंगल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गंगेव च ॥

कला वही है जो मनोहर होते हुए भी जगत् की मंगल साधिका है। मनोहरत्व तथा मंगल-संपन्नता का जहाँ भी योग होता है वही कला का अपना रूप है। जगत् में कला की मंजुल प्रतीक है—जननी तथा जाह्नवी। रमणीय रूप की संपत्ति से संपन्न जननी में जितनी मधुरिमा का भार रहता है, उतना ही अपने संतान के शाश्वत कल्याण की कामना मूर्तिमती बन कर हमें पद पद पर आश्वासन, आवर्जन तथा आह्लादन किया करती है। जाह्नवी का जीवन तथा रूप मंगल तथा माधुर्य का अनुपम संमिलन है। जब प्रातः काल प्राची के तिलक-रूप सूर्य की सुनहली किरणें प्रसन्नसलिला भागीरथी के वक्षःस्थल पर कमनीय क्रीड़ा का विस्तार करती हैं तब पिघले हुए सोने की ढलकती धारा किस सौंदर्योपासक के हृदय में आध्यात्मिक सौंदर्य की छटा नहीं छलकाती? रजनी की मस्ती में जब सुधाकर की रश्मियाँ अठखेलियाँ करती हुईं गंगा की सेज पर रजत की चादर बिछाती हैं, तब किस खूसट का भी हृदय इस दृश्य से पिघल नहीं उठता? गंगा जगती का हार तथा शृंगार ही नहीं है, प्रत्युत कल्याण की

कल्पवल्ली है और मांगल्य की मधुमय अभिव्यक्ति है। वह व्यवहार की संपादिका है तथा अध्यात्म की आह्वानकर्त्री है। भारतवर्ष में कला का भी यही रूप है। सच्ची कला वही है जो प्राणियों के हृदय को आकर्षण करने की क्षमता रखती है तथा साथ ही साथ उनका परम शाश्वत मंगल साधन करती है। इस कला के ऊपर वैष्णवधर्म का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा है। यह तो विवाद-रहित तथ्य है कि भारतीय कला धर्म के महनीय आधार पर खड़ी है तथा धार्मिक भावना से अनुप्राणितता उसकी अपनी विशिष्टता है। भारत के नाना धर्मों के भीतर वैष्णव धर्म की कलात्मक अभिव्यक्ति जितनी मंजुल तथा मनोज्ञ हुई है उतनी किसी अन्य धर्म की नहीं।

मूर्तिकला पर वैष्णव प्रभाव

वैष्णव मंदिर का निर्माण, तक्षणकला के भीतर मूर्तियों की रचना तथा चित्रों का विरचन वैष्णव धर्म की भावना से ओत-प्रोत है। प्राचीन भारत में गुप्त सम्राटों के स्वर्णयुगके इस वैष्णव प्रभाव की मात्रा तत्कालीन गुप्त कला में प्रचुर रूप से दृष्टिगोचर होती है। गुप्तवंशीय सम्राट् भगवान् विष्णु के पादारविंद के रसिक मधुकर थे, इसका स्पष्ट प्रमाण उनकी 'परम भागवत' की उपाधि ही नहीं देती, प्रत्युत उस समय की नाना ललित कलाओं का विलास इसका सुंदर साक्ष्य उपस्थित करता है। गुप्त कालीन मूर्ति कला के ऊपर वैष्णव प्रभाव का एक दिग्दर्शन ही यहाँ कराया जा सकता है। विष्णु के नाना रूपों की तथा उनके नाना अवतारों की मूर्तियाँ इतनी मधुरिमा के साथ प्रस्तुत की गई हैं कि कला का पारखी उन्हें देखकर आत्मविस्मृत हो जाता है और अतृप्त नेत्रों से उनकी सुंदरता निरख कर भी वह नहीं अघाता।

झाँसी जिले में स्थित देवगढ़ नामक स्थान पर शेषशायी विष्णु की सुन्दर प्रतिमा उपलब्ध होती है। भगवान विष्णु शेष के चिक्कण देह पर लेटे हुए हैं। शिर पर किरीट, कानों में कुंडल, गले में हार तथा वनमाला तथा हाथों में कंकण शोभायमान हैं। पैरों की ओर लक्ष्मीजी भगवान् का पादसंवाहन करती हुई दीख पड़ती हैं। उनके समीप दो आयुध पुरुष खड़े हैं। नाभि से निर्गत कमल के ऊपर आसन जमाये ब्रह्माजी की मूर्ति है जो अपने वाम हस्त में कमंडलु धारण किये हैं। यह अनंतशायी विष्णु की नितांत कलापूर्ण प्रतिमा है। इसी प्रकार विष्णु के अवतारों में वराह आदि नाना अवतारोंकी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। भिलसा के समीप उदयगिरिकी गुहाकी दीवाल पर वाराह की एक विशाल मूर्ति मिलती है। इस मूर्ति का पूरा शरीर मनुष्य की आकृति का है, केवल मुख वाराह का दिखलाया गया है। 'भू वाराह' या 'आदिवाराह' की संज्ञा से विख्यात इस मूर्ति का निर्माण कमनीय कला की कोमल अभिव्यंजना का परिणाम है। इसी समय बंगाल की मूर्तिकला के ऊपर भी वैष्णव धर्म का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है। राजशाही जिले के 'पहाड़पुर' नामक स्थान की खुदाई से मिली हुई मूर्तियाँ इसका प्रमाण हैं। यहाँ मंदिर की दीवालों पर प्रस्तर की अनेक मूर्तियाँ अंकित हैं जिनमें रामायण तथा महाभारत की कथाओं के अतिरिक्त कृष्ण-चरित संबंधी नाना लीलाएं प्रदर्शित की गई हैं। अन्यत्र भी राधाकृष्ण का मूर्तिविधान कम कमनीय नहीं है, परंतु पहाड़पुर के शिल्पकारों का राधाकृष्ण का अंकन नितांत मनोज्ञ तथा मधुरिमासंपन्न है। भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन संबंधी नाना घटनाओं का यहाँ अंकन दीख पड़ता है। कृष्ण का जन्म, बालकृष्ण को गोकुल लाना, गोवर्द्धन धारण तथा यमलार्जुन का भेदन—आदि घटनाएँ बड़ी

सजीवता से दिखलाई गई हैं। गुप्तकाल के अनंतर उत्तरी भारत के नाना स्थानों में भगवान् विष्णु के विशाल मंदिरों के निर्माण का कार्य हुआ और उनमें विष्णु की तथा उनके अवतारों के भव्य विग्रहों की रचना का गई।[1] गुप्तकाल में वैष्णवधर्म का प्रचुर प्रचार था। वह राजधर्म माना जाता था। गुप्त सम्राट अपने 'परम भागवत' की उपाधि का उल्लेख करते गौरव तथा महत्त्व का बोध करते थे। इसीलिए तत्कालीन शिलालेखों में विष्णु की प्रशंसनीय स्तुति उपलब्ध होती है। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ लेख में विष्णु की यह स्तुति कितनी प्रांजल भाषा में की गई है—

> श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां
> त्रिदशपतिसुखार्थं यो बलेराजहार।
> कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः
> स जयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः॥

पाल तथा सेन युग

पाल तथा सेन युग (८ शतक—११ शतक) में भी भारत के पूर्वी प्रदेश में वैष्णव मूर्तियों का प्राचुर्य उपलब्ध होता है। मूर्तिशास्त्र की जानकारी के लिए अग्निपुराण तथा पद्मपुराण में नितांत उपादेय सामग्री उपलब्ध होती है। इन पुराणों में विष्णु के २४ रूपों का वर्णन मिलता है। विष्णु की चार भुजाओं में चार आयुध वर्तमान रहते हैं और इन आयुधों की विभिन्न स्थिति के कारण ही रूपों में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

---

१ द्रष्टव्य-प्रोफेसर वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग २, पृ० २७०—२७२

कुछ विलक्षण मूर्तियाँ भी इस काल में मिलती हैं—(१) त्रैलोक्य-मोहन विष्णु की भुजाएँ संख्या में आठ हैं तथा (२) हरिशंकर नामक विष्णु-मूर्ति के मुख ४ होते हैं तथा भुजायें २० होती हैं और इन भुजाओं में भिन्न भिन्न बीस आयुध रहते हैं। विष्णु के ये दोनों रूप तो अपवाद-स्वरूप हैं। नियमतः विष्णु की चार ही भुजायें होती हैं, परंतु इनमें स्थित आयुधों की विलक्षणता के कारण ये मूर्तियाँ अनेक नामों से पुकारी जाती हैं। चतुर्व्यूह—(१) वासुदेव, (२) संकर्षण, (३) प्रद्युम्न, (४) अनिरुद्ध की उपासना इस युग में प्रचलित थी। इस लोकप्रियता का प्रमाण इन मूर्तियों की बहुलता है। विष्णु मूर्तियों में भी वासुदेव की मूर्ति ही विशेष भावेन मिलती है। वासुदेव मूर्ति की विशेषता है—

ऊपरी दक्षिण हाथ में गदा धारण;
निचले दक्षिण हाथ में पद्म धारण;
ऊपरी वामहाथ में चक्र धारण;
निचले वामहाथ में शंख धारण;

यही मूर्ति जब गदा के स्थान पर हल तथा चक्र के स्थान पर मूसल धारण कर लेती है तब यह हो जाती है संकर्षण की मूर्ति। इसी प्रकार स्थान-विनिमय तथा अस्त्र-विनिमय के कारण यही मूर्ति प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की प्रतीक बन जाती हैं। विष्णु की ये मूर्तियाँ पूर्वी भारत के नाना स्थानों पर उपलब्ध होती हैं। दशावतारों में मूर्तिकला की दृष्टि से तीन अवतार मुख्य हैं—वाराह, नरसिंह तथा वामन। वाराह की मूर्ति का प्रचलन गुप्त-काल में भी विशेषरूप से था, क्योंकि इसके नाना भेदों—भू

वाराह, आदि वाराह, श्वेत वाराह—की सत्ता उस समय स्थान स्थान पर मिलती है[1]।

विहार तथा बंगाल के इतिहास में एकादश शतक बुद्धधर्म के प्रति विरोध तथा विद्वेष के कारण भागवत धर्म के प्रचार का महनीय युग है। इसका प्रमाण है उपलब्ध विष्णु प्रतिमा की बहुलता तथा लोकप्रियता। एकादश तथा द्वादश शतक में प्रस्तुत मूर्तियों में सबसे अधिक मूर्ति वासुदेव की ही मिलती है, कृष्ण की नहीं। परंतु १५ शतक तथा उससे पीछे के शतकों में राधाकृष्ण की मूर्तियों की प्रचुरता है और इसका मुख्य कारण चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा तथा वैष्णवधर्म का पुनरुद्धार है।

चित्रकला पर वैष्णव प्रभाव

मध्ययुगी चित्रकला के ऊपर वैष्णव धर्म का इतना अधिक प्रभाव है कि इस युग में दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध दृष्टि-गोचर होता है। भगवान श्रीकृष्णचंद्र की ललित लीलाओं का अंकन कलावंतों ने अपनी तूलिका से इतनी सुंदरता से किया है तथा उसमें रंगों की कलाबाजी दिखलाई गई है कि समग्र चित्र दर्शकों के नेत्रों के सामने एक मंजुल कलात्मक वस्तु के रूप में उपस्थित हो जाता है। उस युग में नाना प्रकार की चित्रशैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें 'राजपूत कलम' तथा 'काँगड़ा या पहाड़ी कलम' की ख्याति अपने चारु वैचित्र्य के लिए विशेष रूप से थी। इन दोनों शैलियों के विकास तथा श्रीसंपन्नता के ऊपर वैष्णव

---

१ इन मूर्तियों के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य R. D. Banerjee—Eastern Indian School of Mediaeval Sculpture pp. 101—109.

धर्म की छाप पड़ी हुई है। श्रीराधाकृष्ण के चित्रों में इतनी मंजुलता, इतनी रुचिरता तथा इतनी सफाई है कि भक्तों के नेत्रों के सामने उनके आराध्यदेव का मनोज्ञ रूप अपनी स्वाभाविक भव्यता के साथ झटिति उपस्थित हो जाता है। राधाकृष्ण की लीलाओं का विषय ही विशाल है तथा हृदयावर्जक है। जिस प्रकार मध्ययुगीन यूरोप की चित्रकला के ऊपर रोमन कैथलिक धर्म का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है, उसी प्रकार भारतवर्ष के मध्ययुग में वैष्णव धर्म का विस्तृत तथा विशाल प्रभाव तत्कालीन चित्रकला के ऊपर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

हिमाचल चित्रकला

पहाड़ी तथा काँगड़ा शैली की चित्रकला का उचित नाम होना चाहिए हिमाचल चित्रकला, क्योंकि यह शैली हिमाचल के अंचल में ही पनपी तथा समृद्ध बनी। राजपूत शैली इससे कहीं प्राचीन है। हिमाचल कला का स्वर्णयुग था १८ वीं शताब्दि। काँगड़ा के राजा संसारचंद्र (१७७४ ई०—१८२३ ई०) पहाड़ी चित्रकला के लिए उसी प्रकार संवर्धक हुए जिस प्रकार समुद्रगुप्त तथा विक्रमादित्य गुप्तकाल के पूर्व युग में। इस चित्र-शैली का ध्रुवबिंदु सुंदर नारी है। नारी का जो बारहमासी तथा अष्टयाम जीवन वर्तमान है उसी के ताने-बाने से इस चित्रशैली का सुंदर पट बुना है। जिस आनंद का साहित्यिक चित्रण रीति कालीन कवियों ने—सूरदास से लेकर बिहारी तक ने—शब्दमय मूर्त्ति के द्वारा किया है उसी का रंगीन चित्र इस युग के चित्र-कारों ने अपनी तूलिका से प्रस्तुत किया है। मानव जीवन को स्वर्गोपम बनाने का प्रधान साधन प्रेम है और इसी प्रेम की अनुभूति के बिना मानव जीवन एक निःसार मरुभूमि जैसा बीहड़

बन जाता है। यह प्रेम भक्ति का आशीर्वाद पाकर ही उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाता है। प्रेमी दंपती की अपनी स्वार्थ-भावना होती ही नहीं ; वह तो दूसरे के लिए जीवित रहता है और इसी लिए वह विश्वमानव का एक प्रतीक होता है। प्रेम की अभिव्यंजना हिमाचल चित्रकला का मुख्य उद्देश्य है।

रसिक शिरोमणि श्री कृष्ण तथा राधिका की भक्तिभावना से अनुप्राणित होने के कारण ही यह चित्रशैली इतनी मधुर है तथा भव्य भावों की उद्भाविनी है। इस शैली की भाषा ही है—राधा-कृष्ण की लीला, किशोर-किशोरी का शृंगारमय जीवन और यह भाषा मानवमात्र के लिए समभावेन सुलभ तथा सुबोध है। वैष्णवधर्म ने काव्यकला तथा चित्रकला को ऐसी रसमयी अनुभूति प्रदान की है कि दोनों का वैभव खिल उठता है। वैष्णव कवि की काव्यमाधुरी को ही वैष्णव चित्रकारों ने अपनी तूलिका से अंकित कर एक भौतिक आधार प्रदान किया है जो नितांत समुज्ज्वल, जीवंत तथा अनुरंजक है। तथ्य यह है कि वैष्णवधर्म के प्रभाव के कारण यह चित्रशैली भावुकता तथा सहृदयता का आकर है। इस शैली में स्वाभाविकता के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ है। इसलिए आलोचकों की मान्य सम्मति है कि गुप्तकाल के अनंतर पहाड़ी शैली में ही भारतीय चित्रकला ने बहुत ऊँची उड़ान ली। हमारे जीवन के मधुर पक्ष से संबद्ध ऐसा कोई विषय नहीं जिसका रमणीय चित्रण इसके कलावंतों ने नहीं किया। यह है वैष्णव-धर्म की कलात्मक अभिव्यक्ति का एक संक्षिप्त चित्रण[1]।

---

१ हिमाचल चित्रकला के विशेष वर्णन के लिए देखिए—

४—भक्तिरस की उद्भावना

भक्ति भावना का पूर्ण विकाश वैष्णव धर्म की अन्यतर विशिष्टता है। 'भक्ति' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस धर्म के शास्त्रीय ग्रंथों मे बड़े ही पुंखानुपुंख रूप से किया गया है। भक्ति-शास्त्र का जितना प्रामाणिक विवरण वैष्णव ग्रंथकारों ने किया है, उतना किसी अन्य धर्मावलंबी ने किया है, इसमें हमें संदेह है। वैष्णव भक्तों की दृष्टि में मुख्यतम रस भक्तिरस ही है, अन्य रस तो इसी प्रकृतिभूत रस की विभिन्न विकृतियाँ हैं। अन्य आलंकारिक देव-विषया रति अर्थात् भक्ति को भाव के अंतर्गत मानकर तज्जन्य आनन्द की गणना हीन कोटि में किया करते थे, परंतु वैष्णवों ने, विशेषतः गौडीय वैष्णवों ने, भक्ति को भाव-दशा से ऊपर उठाकर केवल रसदशा में ही नहीं माना है, प्रत्युत इसे सब रसों से श्रेष्ठ, प्रधान अथवा प्रकृति-रस माना है। भक्ति का ही उत्कृष्टतम रूप मधुर भाव के नाम से भक्तिसंसार में प्रख्यात है। इसके विवेचन के लिए रूप गोस्वामी कृत हरिभक्तिरसामृतसिंधु तथा उज्ज्वल नीलमणि पांडित्य तथा वैदग्ध्य गुणों से मंडित होने से नितांत मननीय हैं।

इस प्रकृष्ट भक्ति भावना का रहस्य मेरी दृष्टि में भगवत्तत्त्व के स्वरूप में अंतर्निहित है। भगवत्तत्त्व के दो रूप होते हैं—ऐश्वर्य तथा माधुर्य। ऐश्वर्य भावना में भगवान् कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थ हैं। वे हमारे सर्व-शक्तिशाली ईश्वर हैं और

(क) डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का एतद्विषयक लेख कल्याण, हिंदू-संस्कृति-अंक, सन् १९५० जनवरी; पृ० ७११-७१४।

(ख) राय कृष्णदास—भारत की चित्रकला पृ० १६२-१६८।

भक्त लोग उनके दास हैं। इस भावना में बड़े अदब के साथ विधि विधानों को मानते हुए शिष्टाचार की पद्धति से उनके पास जाना पड़ता है। परंतु माधुर्य भावना में भगवान् हमारे प्रियतम हैं, उच्चतम प्रेम के पूर्ण आधार हैं तथा भक्त उनके प्रेम को चाखनेवाला नाना प्रकार की प्रियतमा है। इस माधुर्य भाव की भक्ति का अवसर वैष्णवजनों को प्राप्त हुआ भगवान् रसिक-शिरोमणि श्री कृष्ण की उपासना के प्रसंग में। इसीलिए वैष्णव शास्त्रों में भक्ति के जिस रूप का मंजुल विश्लेषण किया गया है उसका दर्शन भी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

५—वैष्णवधर्म की विजय गाथा

भारतवर्ष के चतुर्दिक्—पूरब से पश्चिम तक तथा उत्तर से लेकर दक्षिण तक—प्रत्येक प्रांत में वैष्णव धर्म का प्रसार तथा प्रचार संपन्न हुआ था। इसने इस प्रकार भारत की अधिकांश जनता के आचरण, शील तथा सदाचार के ऊपर अपना भव्य प्रभाव जमाया, यह कम महत्त्व की बात नहीं है। परंतु हमारा वैष्णव धर्म भारतवर्ष की चहार-दीवारी के भीतर ही कभी सीमित तथा संकुचित नहीं रहा। उल्लासपूर्ण भारतीयों की विजय वैजयंती के साथ वैष्णवधर्म ने भी अपना क्षेत्र विस्तृत किया, वह उन स्थानों पर पहुँचा जहाँ वीर भारतीयों ने अपने नये नये उपनिवेश स्थापित किये। वैष्णवधर्म के प्रसार की यह गौरवमयी गाथा किस भारतीय के हृदय को उल्लसित नहीं बनाती? वह युग ही दूसरा था, संघर्ष के उस समय में अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के प्रसार की लगन प्रत्येक भारतवासी के नसों में रक्त की धारा उत्तेजित किया करती। इसी लालसा की पूर्ति ने ब्राह्मण तेज तथा क्षात्र बल का आश्रय लेकर वैदिक

धर्म की वैजयंती उन सुदूर, समुद्र से पृथक्कृत, देशों में फहरा दिया जो आजकल 'ग्रेटर इंडिया' बृहत्तर भारत के नाम से ऐतिहासिकों में विख्यात है।

बृहत्तर भारत के द्वीपों तथा प्रदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना विशेषतः गुप्तकाल में संपन्न हुई। सामान्य परिचय तथा यातायात की घटना ईस्वी सन् के प्रथम शती से ही आरंभ होती है। विभिन्न प्रांतों में हिंदुओं का प्रदेश तथा उपनिवेश स्थापन विभिन्न शतियों से संपन्न हुआ, परंतु चतुर्थ शतक के आरंभ काल तक अर्थात् गुप्तों के अभ्युदय काल के पूर्व ही हम इन द्वीपों में वैदिक धर्मावलंबी राजाओंको अपना शासन दृढ़तया स्थापित करते पाते हैं। जावा की एक दंतकथा के अनुसार प्रथम हिंदू राज्य की स्थापना ५६ ईस्वी में हुई थी। जावा सम्वत् के आरंभ का समय है ७८ ईस्वी जिस समय शक संवत् का प्रारम्भ भारत में हुआ। सुमात्रा के सर्वप्राचीन हिंदू राज्य का नाम है श्रीविजय जिसकी स्थापना चतुर्थशतक ईस्वी के पहिले ही हुई थी। श्रीविजय राज्य की अभिवृद्धि का समय सप्तम शतक का अंत काल है जब इसने मलयु (आधुनिक जंबी) नामक हिंदूराज्य को अपने में सम्मिलित कर अपने देशों की वृद्धि कर ली थी। सबसे पूर्वी द्वीप बोर्नियों में भारतीय संस्कृति का आरंभ चतुर्थ शतक के पहिले ही संपन्न हो चुका था क्योंकि इसी युग के चार संस्कृत लेखों से पता चलता है कि राजा कुडुङ्ग (कौण्डिन्य) के पौत्र तथा अश्ववर्मा के पुत्र राजा मूल-वर्मा ने यूपों की स्थापना कर विशाल याग का समारंभ किया था जिसका नाम था बहुसुवर्णक तथा जिसमें ब्राह्मणों को वप्रकेश्वर क्षेत्र में बीस सहस्र धेनु दक्षिणा के रूप में दी गई थीं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि ईस्वी के चतुर्थ शतक तक

हिंदुओं ने बोर्नियों द्वीप के पूर्वी भाग में अपना राज्य स्थापित कर लिया था तथा यागमय वैदिक धर्म का प्रचलन उस देश में अच्छी तरह से हो चुका था।

बाली द्वीप में आज भी हिंदू संस्कृति का भव्य रूप हमें कम आश्चर्य चकित नहीं करता जब समग्र देश ने मुसलमान धर्म स्वीकार कर अपने को यवनमय बना लिया है। प्राचीन औपनिवेशिक हिंदू धर्म के स्वरूप का सच्चा अनुशीलन प्रस्तुत करने का श्रेय इसी लघुकाय द्वीप को प्राप्त है। यहाँ ब्राह्मण पंडितों के द्वारा समग्र धार्मिक कृत्यों का विधान संपन्न कराया जाता है। बाली में पंडितों की संज्ञा है पदंड। इन पदंडों के मुख में निवास कर रहा है एक विशाल संस्कृत साहित्य जिसका संरक्षण वे बिना एक अक्षर समझे ही बड़े प्रेम तथा समधिक श्रद्धा से आज भी कर रहे हैं। सस्कृत भाषा के एक वर्ण से भी अनभिज्ञ इन पदंडों का मस्तिष्क सचमुच एक विचित्र पेटिका है जिसमें वेद, उपनिषद्, तथा स्तोत्रों से संबद्ध अनेक ग्रंथ तह पर तह रखे गये उपलब्ध होते हैं। आज से सत्तरह साल पहिले फ्रेंच विद्वान् डा० सिल्वाँलेवी ने इन मुखस्थ ग्रंथों को स्वयं लिपिबद्ध कर 'बालिद्वीपग्रंथाः' के नाम से प्रकाशित किया (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज नं० ६७, १९३३)। इनमें से कतिपय संस्कृत ग्रंथों का मूल भारतीय संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध होता है, परंतु अन्य ग्रंथों का निर्माण इसी द्वीप के प्राचीन पंडितों के द्वारा किया गया था। इन स्तोत्रों की भाषा विशुद्ध संस्कृत है जिनमें अपाणिनीय प्रयोगों का सर्वथा अभाव है। बिना समझे किसी अपरिचित भाषा के इतने ग्रंथों को अपनी स्मृति के पटल पर ही निबद्ध रखना सचमुच एक आश्चर्य-जनक घटना है। अपने धार्मिक कृत्यों में बालि के पदंड आज

भी गायत्री का प्रयोग करते हैं, परंतु न तो वे उसके नाम से परिचित हैं और न अर्थ से। भारतीय संस्कृति के अध्ययन की इतनी जीवन्त सामग्री अन्य द्वीपों मे उपलब्ध नहीं होती।

(१) **जावा**–इन द्वीपपुंजों में शैव धर्म की प्रधानता व्यापक रूप से विद्यमान थी। वैष्णवधर्म शैवधर्म से गणना में द्वितीय होने पर भी जीवन स्तर पर प्रभाव की दृष्टि से सर्वथा अद्वितीय ही रहा। बृहत्तर भारत के मुख्य प्रांतों में विशिष्ट राजवंशों में वैष्णव धर्म का सम्मान तथा आदर शैव मत की अपेक्षा कहीं अधिक तथा विस्तृत था। जावा में भगवान विष्णु, उनकी शक्ति लक्ष्मी तथा उनके वाहन गरुड़ की मूर्तियों का निर्माण कलात्मक दृष्टि से भी नितांत स्पृहणीय तथा श्लाघनीय है। लक्ष्मी अपनी चार भुजाओं के साथ अंकित की गई हैं और इन भुजाओं में वे कमल, धान की बाली, माला आदि धारण करती हैं। विष्णु-वाहन गरुड़ की मूर्ति जावा में बहुतायत से पाई जाती है। विष्णु के नाना अवतारों की मूर्तियाँ यहाँ उपलब्ध होती हैं जिनमें मत्स्य, वाराह, नरसिंह, राम तथा कृष्ण की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। विष्णु के आयुधभूत शंख, चक्र, गदा तथा पद्म का पृथक् रूप से अंकन भी हमें वहाँ मिलता है। वैदिक धर्म के नाना देवताओं के विग्रहों से मंडित विशालकाय मंदिर भारत तथा जावा की संवलित कला के कमनीय उदाहरण माने जाते हैं। इस प्रसंग में प्रंबानन घाटी के लारा-जोंगरंग का बृहदाकार मंदिर इस संवलित कला का मनोज्ञतम तथा रमणीयतम दृष्टांत है। इसकी रचना ईस्वी सन् के नवम शतक में हुई थी। इसके तीन मुख्य मंदिरों में मध्यमंदिर में भगवान् भूतभावन महादेव की प्रतिष्ठा है, उत्तर में विष्णुविग्रह का प्रतिष्ठान है तथा दक्षिण में ब्रह्मा जी विराजमान हैं। इस प्रकार हम

इसे 'त्रिदेव मन्दिर' भलीभाँति कह सकते हैं, परंतु प्राधान्य है महादेव मंदिर का ही जो विशालता, अलंकार-विधान तथा सौंदर्य में सबसे अप्रतिम है। इसके भीतर रामायण-संबंधी दृश्य अंकित हैं जो बयालीस पट्टों में अंकित किये गये हैं। इनमें रामजन्म से आरंभ कर लंका-विजय तक की घटनाएँ बड़ी सुंदरता से अंकित की गई हैं। इन प्रतिच्छायाओं के ऊपर ही लारा जोंगरंग के मंदिरों की सुषमा तथा भव्यता आश्रित मानी जाती है। कला दृष्टि से यह भास्कर्य अप्रतिम माना जाता है। कांबोज के अंकोरवाट की तुलना में यह भास्कर्य-कला कहीं अधिक मनोज्ञ तथा कमनीय मानी जाती है। इसमें रामायण की घटनावली का अंकन इतनी कलाबाजी, सूक्ष्मता तथा विशदता से किया गया है कि प्रतीत होता है कि ये दृश्य द्रष्टा के नेत्रों के सामने अपनी भव्य झाँकी दिखला रहे हों। कई शताब्दी के अनंतर पूर्वी जावा के 'पनतरण' नामक स्थान में भी सुंदर मंदिरों का निर्माण हुआ परंतु मध्य जावा के प्रंबानन की कला की दृष्टि से इनका स्थान निम्नतर तथा हीनतर है। इनमें भी हमें वैष्णव धर्म का प्रभाव लक्षित होता है। बेल्हन नामक स्थान में विष्णु की एक उदात्त तथा मधुर मूर्त्ति है जिसमें औदार्य तथा. शांतिभाव का विचित्र मिश्रण है। परंतु कला-बिशारदों की संमति है कि यह देवता के रूप का चित्रण नहीं है, प्रत्युत एक व्यक्ति की यथार्थता-संपन्न अभिव्यक्ति है। यह ऐरलंग (११ शतक) नामक विख्यात राजा की आकृति से इतना मिलता जुलता है कि यह उसी की प्रतिकृति माना जाता है। जो कुछ भी तथ्य हो, इतना तो हम निःसंदेह कह सकते हैं कि जावा के सामाजिक जीवन तथा कलात्मक चित्रण में वैष्णव धर्म का विपुल प्रभाव स्पष्टतः अंकित है।

(२) चम्पा के इतिहास में भी वैष्णव धर्म की मान्यता कम नहीं दीख पड़ती। यहाँ भी विष्णु के अवतारों की मूर्तियाँ पाई जाती हैं जिनमें राम और कृष्ण के शौर्यमंडित चरित का चित्रण विशेष रूप से उपलब्ध होता है। कृष्ण की समग्र प्रसिद्ध घटनावली यहाँ अंकित की गई है—विशेषतः गोवर्धन-धारण तथा कंसवध का दृश्य। विष्णु अनेक नामों के द्वारा अभिहित किये गये हैं यथा पुरुषोत्तम, नारायण, हरि तथा गोविंद। उनकी शक्ति लक्ष्मी, पद्मा तथा श्री के नाम से चम्पा की मान्य देवी मानी जाती हैं तथा विष्णु का वाहन गरुड़ चम्पा में एक लोकप्रिय पक्षी माना जाता है तथा उसकी मूर्ति अनेक स्थानों में मिलती है।

(३) स्याम (थाइलैंड) में प्रधानतः बौद्धधर्म ही राज्यधर्म के रूप में स्वीकृत किया गया है। प्राचीनकाल में बुद्धधर्म के प्रभाव में आने से उसके अनेक राजा बुद्ध भगवान् के अष्टांगिक मार्ग के प्रशस्त पथिक थे और आज भी वह देश तथागत के सिद्धांतों का ही अनुयायी है। तथापि इस देश में भी विष्णुधर्म के प्रति श्रद्धा तथा सम्मान की भावना कम नहीं है। चौदहवीं शती के मध्यकाल में (१३५० ई०) सुवनपुनी या ओटंग के राजा ने अजुथिआ (अयोध्या) नामक नवीन राजधानी की स्थापना की और 'रामाधिपति' के नाम से स्वतंत्र राजा बनकर राज्य करने लगा। अयोध्या के राज्य ने कम्बोज देश के एक बड़े भाग पर अपना अधिकार जमाया परंतु बर्मी राजाओं के आक्रमण के कारण उसे विशेष क्षति हुई और चार सौ वर्षों के अनंतर वह राजधानी के गौरव से वंचित हो गया। इस प्रकार बौद्धप्रधान देश में राम और अयोध्या अज्ञात तथा अपरिचित अभिधान नहीं हैं।

(४) कंबोज देश (कंबोडिया) में भी वैष्णवधर्म को शैव-धर्म के समान ही मान्यता प्राप्त थी। इस देश के महनीय महीपालों ने भगवान् विष्णु के प्रति अपनी असीम भक्ति तथा अपार श्रद्धा का प्रदर्शन शिलालेखों में तथा विशालकाय मंदिरों में भली भाँति किया है। अन्य देशों की अपेक्षा इस देश ने भारतीय सस्कृति का ग्रहण विशेष रूप से किया था। अतः वैष्णव ग्रंथों के विपुल प्रचार से हमें कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता। यहाँ के हिंदू मंदिरों में रामायण, महाभारत तथा पुराणों के प्रतिदिन प्रवचन की व्यवस्था की गई थी। इन ग्रंथों के अनुशीलन से प्रभावित होकर वैष्णव काव्यों की विशेष रचना नवम तथा दशम शतियों में सपन्न हुई। यहाँ के मानी राजन्यों में सूर्यवर्मा द्वितीय (१११३ ई०–११४५ ई०) का नाम इस प्रसंग में विशेष महत्त्व रखता है जिसकी अगाध सौंदर्यानुराग और विष्णुभक्ति का उज्ज्वल उदाहरण 'अँगकोरवाट' का विख्यात कंबोज मंदिर है। इस मंदिर की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।[1] यह भारतीय तथा कंबोज कला के परस्पर मिश्रण का अतीव उज्ज्वल दृष्टांत माना जाता है। यह विशालकाय मंदिर परिखा से वेष्टित है जो चौड़ाई में लगभग ७०० फीट है। इसे पार करने के लिए एक परम रमणीय सेतु बाँधा गया है जो सप्तशिरस्क नागों की स्तंभ-पंक्ति पर स्थित ३६ फीट चौड़ा है। भीतर जाने पर विशाल गैलरियोंमें प्रभावशाली सम्राटोंकी, उनकी चामरग्राहिणी सेविकाओं से आवृत रमणीय रानियों की, महामहिम मंत्रियों की

१—द्रष्टव्य-वेदव्यास रचित 'कम्बोडिया का हिंदू उपनिवेश' पृ० २४२–पृ० २५३; R. C. Mazumdar : Hindu Colonies the Far East. पृ० १८६–१८८

तथा प्रभावसंपन्न सेना-नायकों की प्रतिच्छायायें इतनी सजीवता से अंकित की गई हैं कि वे दर्शकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव उत्पन्न कर देती हैं। मुख्य मंदिर में भारतीय वैष्णव साहित्य को अंकित करनेवाली प्रतिच्छायाओं की प्रधानता है जिनमें रामायण, महाभारत और हरिवंश के दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। आरंभ मे हम कुरुक्षेत्र की समर-स्थली को पाते हैं जहाँ लड़ते हुए योधाओं की अगली पंक्ति में गीता के वक्ता-श्रोता कृष्ण और अर्जुन विराजमान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन से संबद्ध लगभग चार प्रतिच्छायायें और हैं, परंतु रामकथा से सबद्ध ग्यारह घटनाओं का अंकन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वैष्णव दृश्यों का यह प्राधान्य तथा साथ ही राजा का, जो ऐतिहासिक गैलरी में केंद्रस्थ व्यक्ति है, 'परम विष्णुलोक' का पारमार्थिक नाम हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि यह अँग-कोरवाट निश्चय ही विष्णु मंदिर है; इसमें संदेह का लेश भी नहीं है। राम की प्रतिच्छायाओं में उल्लेखनीय दृश्य हैं विराध राक्षस की मृत्यु, राम का सुवर्ण मृग के पीछे दौड़ना, राम सुग्रीव की मैत्री, सुग्रीव बालि का मल्लयुद्ध, हनुमान् का लंका में सीता की खोज, लंका का समर-क्षेत्र तथा भयानक संग्राम तथा अंत में पुष्पक विमान के. द्वारा राम का अयोध्या-प्रत्यावर्तन। इनमें से प्रथम छः दृश्य मध्य जावा में उपलब्ध प्रंबानन मंदिर (नवम शतक) में अंकित राम प्रतिच्छायाओं से विशेष मिलते हैं। कला पारखी जनों ने इन दोनों विष्णु मंदिरों में अंकित रामायण की घटनाओं की परस्पर तुलना की है। उनकी दृष्टि में दोनों की अपनी निजी विशेषतायें हैं, यद्यपि कई बातों में वाल्मीकीय रामायण का अनुसरण न करने पर भी प्रंबानन का रामायणीय अंकन कहीं अधिक कलात्मक माना जाता है। अँगकोरवाट का

त्वष्टा प्रकृति की भाँति शून्यता से घृणा करता है। यदि कहीं थोड़ा भी स्थान उसे रिक्त मिलता है तो वह किसी न किसी पौधे या पक्षी की प्रतिकृति बैठा देता है जिससे प्रभाव में न्यूनता आ जाने पर भी वह पूरा दृश्य आप्लावित हो उठता है।

अँगकोरवाट वैष्णवधर्म की संसार की महती कलात्मक देन है। यह संसार के गण्यमान्य कलासंपन्न मंदिरों से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मंदिर की सजावट उसकी महनीय समष्टि के अनुरूप ही है। सर्वत्र सीढ़ियों के सिरों पर बृहत्काय सिंह तथा वीथिकाओं के पार्श्वों में बहुशिरस्क सर्प स्थित हैं। दीवारों की सजावट में आढ्यता है तथा तक्षणों में लालित्य है। दीवारों पर कोनों में स्थित स्वर्गीय चेतोहारिणी अप्सरायें अपने वक्षःस्थल की पीनता तथा रत्नाभरणों की प्रचुरता से दर्शक की दृष्टि मोह लेती हैं। ऐसे प्रचुर कला-संपन्न मंदिर के विस्तृत निर्माण की प्रेरणा तथा स्फूर्ति जिस वैष्णव धर्म से मिली उस धर्म के सांस्कृतिक महत्त्व का अंकन किस प्रकार किया जा सकता है?

(५) बालिद्वीप में हिंदूधर्म का आज भी उतना ही बोलबाला है जैसा कभी प्राचीन काल में था। यवनों के प्रबल आक्रमणों ने बालिद्वीप की हिंदू जनता का बाहरी धर्म परिवर्तन तो अवश्य कर दिया है, परंतु उनका हृदय आज भी हिंदूधर्म की प्रगाढ़ भक्ति से ओत-प्रोत है। पूरे द्वीप में हिंदू संस्कृति अपने विशुद्ध रूप में आज भी विराजमान है। वहाँ के पदण्डों की चर्चा हम पीछे कर आये हैं जो आज भी वहाँ के निवासियों के धार्मिक उत्सवों तथा संस्कारों के कर्ता तथा विधाता हैं। बालि में अनेक हिंदू देवताओं की उपासना प्रचलित है जिनमें भगवान्

विष्णु की भक्ति विशेष महत्त्व रखती है। विष्णु की स्तुति में बालि में दो स्तोत्र प्रसिद्ध हैं जिनमें एक तो विशुद्ध भारतीय 'विष्णुपञ्जर' स्तोत्र है और उदात्त संस्कृत गद्य में निबद्ध दूसरा 'विष्णुस्तव' बालि के पदण्डों के पांडित्य तथा प्रतिभा का प्रकृष्ट प्रतिनिधि है। विष्णुपञ्जर स्तोत्र हमारे यहाँ विशेष प्रसिद्ध है जिसमें विष्णु से नाना रूपों में रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। उदाहरण के लिए दो-तीन पद्य उद्धृत किये जाते हैं[1]—

पादौ रक्षतु गोविन्दो जंघाभ्यां च त्रिविक्रमः।
उर्वन्तं केशवो रक्षेद् रक्षेद् गुह्यं तथा हरिः॥
उदरं पद्मनाभश्च कटिं चैव जनार्दनः।
नाभिकमच्युतो रक्षेत् पृष्ठं रक्षतु माधवः॥

बालिद्वीप में एक नितांत साहित्यिक 'विष्णुस्तव' नामक गद्यात्मक स्तोत्र उपलब्ध होता है जो भाषा तथा भाव उभय दृष्टियों से विशेष महत्त्वशाली, प्रौढ़ तथा प्रांजल है। इस श्लाघनीय स्तुति का प्रवाह देखिए—

ॐ नमोऽस्तु पुरुषोत्तमाय परमरिपु-पर-पुर - हरण - पराक्रमाय परमबलभटोलटोल -लोलित - गलित - महाबलाय च जाग्रत - सुप्त - तूर्य चतुर्भुजाय नारायणाय नरसिंह - वामनाय नारायणार्दनाय नरगदायुद्धे दानवान्तकरिपुमर्दनपाञ्चजन्य - सुदर्शनायुधाय दैत्यदानवयज्ञ - राक्षस-पिशाच-भूतगणधरनीधर-धीरदराय च गन्धर्वमधुरगीत-सुरविद्याधर-ऋषि प्रभृति सेविताय च परमरिपुरावणार्जुन - धेनुक - प्रलम्ब - केशराविष्टक

---

1. बालिद्वीपग्रंथाः (बडोदा, गायकवाड सं० सीरीज नं० ६७) पृ० ५६-५७।

मेनिगजबल तरगमिस-सृगालादि निधनाय च पुरुषोऽनन्तसमुद्राश्रयः खगवरवरेन्द्रः श्रीप्रियो धनदप्रियो वैश्रवणाङ्कोऽस्मान् रक्षतु अस्मान् गोपायतु स्वाहा।

इस स्तोत्र का अनुशीलन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि बालि द्वीप में नारायण के मुख्य अवतारों का ज्ञान, विशेषतः कृष्ण तथा उनकी विपुल लीलाओं की जानकारी, सर्वत्र प्रचलित था। इस स्तोत्र की रचना बालि में ही प्रतीत होती है, क्योंकि इसका मूल रूप भारतवर्ष के सस्कृत साहित्य से अब तक उपलब्ध नहीं है। भाषा की प्रौढ़ता के कारण यह स्तव स्तोत्र साहित्य का एक समुज्वल हीरक माना जा सकता है।

भगवान् नारायण की पत्नी श्रीदेवी के नाम से बालि में विशेषतः प्रसिद्ध है, परंतु उनके विषय में नवीन कल्पना भी दृष्टि-गोचर होती है। श्रीदेवी धानकी देवता है। इसीलिए वह श्रीताण्डुली अथवा धान्यराशी के नाम से विख्यात हैं—

श्रीताण्डुली महादेवी श्रीमत्कमलशोभिता
ददासि मे महाभोग्यं सर्वद्रव्यहितं धनम् ॥

श्रीदेवी शालि के समान कमनीय रूपवाली मानी जाती है। चावल के समान उनका शरीर स्निग्घ तथा चिकना होता है—

श्री शालिकान्तरूपा त्वं स्निग्धगात्रं च ताण्डुलम्।
ददाति मे सदा चित्रं सौभाग्यं लोकपूजितम् ॥

बालि निवासियों का यह दृढ़ विश्वास है कि श्रीदेवी का संबंध धान्य की उत्पत्ति तथा खेती के साथ मुख्य रूपेण है। इस विषय में एक पौराणिक कथा भी प्रसिद्ध है जिसमें विष्णु के उपवन में स्नानासक्ता श्री-देवी का किसी दैत्य द्वारा हरण किये जाने का वृत्तांत है। श्रीदेवी की मृत्यु के अनंतर उनके शरीर से

नाना पौधों की उत्पत्ति होती है—उनके नाभिस्थल से धान के पौदे की उत्पत्ति होती है। धान्य के भिन्न अवस्थाओं के भाम भी भारत की देवियों के नाम पर होते हैं। श्रीदेवी धान के पौदे का नाम है जो काटा गया तो होता है, पर उसमें से पीटकर चावल अलग नहीं निकाला गया होता। धान के बीज का नाम है उमादेवी। धान के नवीन पौदे का नाम है गिरिनाथ। धान का पौदा एक स्थान से हटा कर जब दूसरी जगह लगाया जाता है तब उसका नाम होता है गंगीदेवी। जोते हुए खेतों में श्रीदेवी के ग्रामीण मंदिर अधिकतर पाये जाते हैं। श्रीदेवी के नाम से बालि में एक सुंदर स्तुति उपलब्ध होती है जो भाषा की दृष्टि से सुंदर तथा रोचक है। इसके दो पद्य नमूने के तौर यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

श्रीदेवी महावक्त्रा चतुर्वर्णा चतुर्भुजा।
प्रज्ञावीर्य-सारज्ञेया चिंतामणि कुरुस्मृता॥
श्रीधनदेविका रम्या सर्वरूपवती तथा।
सर्वज्ञान-मणिश्चैव श्रीश्रीदेवि ! नमोऽस्तु ते॥[1]

इस प्रकार बृहत्तर भारत के धार्मिक आचारों की मीमांसा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि भारत के इन सुदूर उपनिवेशों में वैष्णव धर्म का प्रभाव बड़ा ही गहरा, तलस्पर्शी तथा व्यापक था। इसका स्थान शैवधर्म की अपेक्षा कुछ घट कर था परंतु इन देशों के निवासियों के जीवन को शुद्ध, पवित्र तथा सदाचरमय बनाने में वैष्णव धर्म की उपयोगिता बहुत ही अधिक थी। इन देशों की संस्कृति तथा सभ्यता को भारतीय आदर्श में ढालने का तथा उस उदात्त कोटि में पहुँचाने

---

१ द्रष्टव्य—बालिद्वीपग्रंथाः, पृष्ठ ६१ तथा पृष्ठ ६२

का महनीय कार्य संपन्न किया वैष्णव धर्म ने और इसलिए इन देशों की नाना ललित कलाओं के ऊपर वैष्णव धर्म का प्रबल प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर हो रहा है।

—:※:—

६—साहित्य पर प्रभाव

वैष्णव धर्म का प्रभाव भारतीय साहित्य पर बड़ा ही गहरा तथा तलस्पर्शी है। भगवान विष्णु के अवतार-भूत राम तथा कृष्ण में भगवत्तत्त्व के द्विविध पक्ष का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र में ऐश्वर्य भाव का प्राधान्य विद्यमान है, तो लीलापुरुषोत्तम कृष्णचंद्र में माधुर्य भाव का। एक मर्यादा-पुरुष है, तो दूसरे लीलापुरुष। रामभक्त कवि राम के लोकसंग्रही रूप के चित्रण करते समय जीवन के नाना पक्षों के प्रदर्शन में कृतकार्य होता है। कृष्णभक्त कवि का वर्ण्य विषय है—बालकृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित लीलायें। फलतः उसकी दृष्टि कृष्ण के 'लोकरंजक' रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। क्षेत्र सीमित होने पर भी वह भावसमुद्र के अंतरंग में प्रवेश करता है और नाना चमकते हुए हीरों तथा मोतियों के ढूँढ़ निकालने में सफल होता है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति में कृष्ण कवि सर्वथा कृतकार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णव धर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य सौंदर्य तथा माधुर्य का उत्स है; जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है; जीवन सरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करनेवाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में

प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा श्रृंगार की नाना अभिव्यक्तियों के चारु चित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रसस्निग्ध है उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से।

यह साहित्यिक प्रभाव भारतवर्ष की प्रत्येक प्रांतीय भाषा के ऊपर पड़ा है। इन भाषाओं का सुंदरतम साहित्य वही है जो भागवत भावनाओं से स्पंदित, उत्साहित तथा स्फुरित होता है। इन भाषाओं में वैष्णव साहित्य हीं सबसे अधिक उत्कृष्ट, सरस तथा हृदयानुरंजक है। भारतवर्ष के इतिहास का मध्ययुग भक्ति-भावना के उपबृंहण तथा परिवर्धन का युग है। फलतः समग्र भारतवर्ष में १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी में लिखित साहित्य भक्तिभाव से पूरित ही नहीं है, प्रत्युत वह नितांत स्निग्ध, रस-पेशल तथा समधुर है। वैष्णव साहित्य भारतवर्षीय साहित्य का सर्वोज्ज्वल तथा उत्कृष्ट साहित्य है। ललित गीति, गायनों तथा पदावली साहित्य के उदय का यही काल है।

हिंदी पाठक उत्तरीय भारत में पनपने वाले साहित्य के उदय की गतिविधि से अधिक परिचित हैं, परंतु दक्षिण भारत के साहित्य से उसका परिचय नितांत स्वल्प है। इसीलिए यहाँ दक्षिण भारतीय भाषा साहित्य के ऊपर वैष्णव प्रभाव का सामान्य परिचय विशेषतः दिया जा रहा है। तामिल, तेलगु, कन्नड़ तथा मलयालम के साहित्य में वैष्णव साहित्य का उतना ही प्राधान्य तथा महत्त्व है जितना बंगला, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती तथा हिंदी साहित्य में। वैष्णव साहित्य निःसंकोच इन साहित्यों का हृदय माना जा सकता है।

तमिळ

'तमिळ साहित्य में शैव साहित्य की प्रधानता है। 'शैव सिद्धांत' नामक शैवदर्शन की एक विशिष्ट धारा का द्रविड़ देश उद्गमस्थान है। यह सिद्धांत मुख्यतया द्वैतप्रधान है और इस सिद्धांत के प्रतिपादक आगमों की विशेष सत्ता तमिल साहित्य में है। तथापि आळवारों की पदरचना तमिलभाषा में ही निबद्ध हुई है। समस्त अलवार तमिल-भाषा-भाषी थे। इन लोगों ने अपने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति जिन पदों के द्वारा की है वे तमिळ साहित्य में विशेष मान्य हैं। श्रीवैष्णव लोग तो इन पदों को 'द्रविड़ वेद' के नाम से पुकारते हैं तथा इनकी पवित्रता में असीम श्रद्धा रखते हैं। जैसे वैदिक मन्त्रों का उपयोग भगवान की पूजा अर्चा के समय किया जाता है वैसे ही इन पदों का भी प्रयोग ऐसे शुभ अवसर पर दक्षिण के वैष्णव मंदिरों में आज भी किया जाता है।

सुप्रसिद्ध अलवार विष्णुचित्त स्वामी रचित 'दिव्यप्रबन्ध' के केवल छः पद्य उदाहरण के निमित्त यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। इस प्रसंग का अर्थ यह है कि यशोदाजी कृष्णचन्द्र को नाना पुष्पों से भूषित कर उनकी शोभा देखना चाहती हैं। इसलिए वे कृष्ण को पुकार रही हैं कि वत्स, आवो और इन सुगंधित फूलों को पहनो। इस दशक की बड़ी ख्याति तथा लोकप्रियता है। आज भी वैष्णव मन्दिरों में भगवान को पुष्पसमर्पण के अवसर पर द्रविड़ भक्त लोग इन पदों को गद्गद कण्ठ से गा कर भगवान को फूल चढ़ाते हैं। यहाँ मूल तमिळ पद्य के साथ उसका संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जाता है।

आनिरै मेय्क्क नीपोदि अरुमरुन्दावदरियाय् ॐ
कानहमेल्लाम् तिरिन्दु उन्करियतिरुमेनिवाड ॐ

पानैयिलू पालैप्परुहिप्पत्तादारेल्लाम् शिरिप्प ॐ
तेनिलिनियपिराने ! शेणूपहप्पूच्चूट्टवाराय् ॥१॥

श्लो० ॥ गास्संचारयितुं प्रयासि नहि वेत्स्यात्मप्रभावं हरे !
कान्तारे बहु संचरन् बत ! वपुर्ग्लानिं समासीदसि ।
भाण्डे चूषसि दुग्धमित्यहह भो मित्रेतरैर्हस्यसे
पीयूषादपि भोग्य चम्पकसुमं वोढुं समागच्छतात् ॥१॥

हे कृष्ण ! अपने दिव्य शरीर की कोमलता को थोड़ा भी न जानते हुए स्वयं जंगल में गाय चराने के लिए जाते हो । बारंबार घूमने से तुम्हारा सुंदर मुख अत्यंत म्लान हो रहा है । घर में रह कर तुम बरतन में रखे हुए दूध को पी जाते हो । इसलिए शत्रु लोग तुम को हँसते है । वे भले हसे, परंतु आपकी समस्त चेष्टायें हमारे आनंद के लिए होती हैं । अमृत से भी अधिक भाग्यशाली कृष्ण, मैं तुम्हारे मस्तक पर चपक फूल अर्पित कर रहा हूँ । उसे धारण करन के लिए तुम आवो ॥१॥

करुवुडै मेहङ्ङळकण्डालुनैक्कण्डालोक्कुम् कण्कळ् ॐ
उरुवुडैयाय् उलहेळुमुण्डाह वन्दु पिरन्दाय् ॐ
तिरुवुडैयाळ् मणवाळा तिरुवरङ्गत्ते किडन्दाय् ॐ
मरुविमणम् कमळकिन्न मल्लिकैप्पूच्चूट्टवाराय् ॥२॥

श्लो० ॥ जीमूतो जलगर्भनिर्भर इवानन्दं दृशोर्वर्धयन्
सौन्दर्याञ्चित ! सर्वलोकविततीरक्षार्थमत्रोदित ।
लक्ष्मीनायक ! रङ्गनाम्नि निलये शेषे शयान प्रभो
सौगन्ध्याधिकमल्लिकास्त्रजमिमां वोढुं समागच्छ भोः ॥२॥

हे कृष्ण, वर्षा करने वाले घनश्याम के देखने से जितना आनंद उत्पन्न होता है, उतना आनंद तुम्हारे देखने में भी होता है । हे सुंदर, सब संसार की रक्षा करने के लिए आविर्भूत,

श्रीरंगम् में शेष की शय्या पर सोनेवाले कृष्ण, इस सुगंध से युक्त मल्ली की माला पहनने के लिए तुम चले आवो ॥२॥

मच्चोड्डुमाळिहैयेरि मादर्हळ् तम्मिडम् पुक्कु ❀
कच्चोड्डु पट्टैकिळित्तु काम्बुतिहिलवै कीरि ❀
निच्चलुम् तीमैहळ् शेय्वाय् नीळ् तिरुवेङ्कडत्तेन्दाय् ❀
पच्चैत्तमनहत्तोड्डु पादिरिप्पूच्चूट्टवाराय् ॥ ३ ॥

श्लो० ॥ आरुह्य प्रसभं महत्तरगृहप्रासाददेशादिषु
प्राप्य स्त्रीजनतान्तिकम् शिथिलयन् तच्चोलचेलाविकम् ।
नित्यं दुश्चरितोत्सुक ! क्षितिधरे शेषाभिधे सन् प्रभो !
वोढुं सद्मनं च पाटलसुमं स्वामिन् समागच्छ भोः ॥३॥

हे कृष्ण, ऊँचे महलों के ऊपर जहाँ जहाँ स्त्रियाँ निवास करती है। उन उन स्थानों के पास जाकर उनके कञ्चुक वस्त्र को तुम ढीला कर देते हो। इस प्रकार की दुश्चेष्टाओं क लिए तुम नित्य उत्सुक रहते हो। शेषाचल के शिखर पर निवास करने-वाले भगवन्, तुम दमनक तथा पाटल फूल को पहनने के लिए यहाँ आवो ॥ ३ ॥

तेरुविन्कण्णिन्निळवाय्च्चिमार्हळैत्तीमै शेय्यादे ❀
मरुवुम् मदनकमुम् शीर्मालैमणङ्कमळ्किन्न ❀
पुरुवम् करुङ्कुळल्नेत्तिप्पोलिन्द मुहिल्कन्नुपोले ❀
उरुवमळहिय नम्बि उहन्दिवैशूट्ट नीवाराय् ॥ (४)

श्लो० ॥ स्थित्वा वीथिषु बालगोपललनागोष्ठीषु दुश्चेष्टितं
स्वैरं मा कुरु नीलकेशललितभ्रू रम्यफालोज्ज्वल ।
भास्वन्मेघशिशूपमेय सुषमासंपूर्ण कृष्ण प्रभो
वोढुं सौरभसंभृतं दमनकं श्रीपल्लवं चाव्रज ॥ (४)

हे सर्वाङ्गसुन्दर, मेघशावक के समान श्यामल, किशोर कृष्ण, व्रज की गलियों में बालिकाओं के साथ मनमानी दुष्ट कर्मों का आचरण मत करो। दमनक तथा मरुवकोळुंद नामक श्रीपल्लव को पहनने के लिए कृपया इधर तो आवो ॥ ४ ॥

पुळ्ळिनैवाय् पिळन्दिट्टाय् पोरुकरियिन् कोम्बोशित्ताय् ❀
कळऴवरक्कियैमूक्कोडु कावलनैत्तलैकोण्डाय् ❀
अळिळनीवेण्णेय् विळुङ्ग अञ्जादडियेनडित्तेन् ❀
तेळिळयनीरिलेळुन्द शेङ्कळुनीर्शूट्टवाराय् ॥५॥

श्लो ॥ वक्त्रं दैत्यबकस्य दीर्णमतनोः दन्तं गजस्याहरः
राक्षस्याः किल नासिकां व्युदसृजः रक्षःपतिं चावधीः ।
नाथ ! त्वां नवनीतजग्धिसमये निर्भीरह प्राहरं
तत्त्वास्तां विमलाम्बुनिर्गतमिदं कह्लारमुत्तंसय ॥५॥

हे भगवन्, तुम्हारा एक एक चरित्र अत्यन्त मनोहर होता है तथा साथ साथ अत्यन्त भयानक भी होता है। बकासुर के मुख को तुमने फाड़ा था। कुवलयापीड हाथी के दाँत को तुमने तोड़ा था। राक्षसी के नाक काट कर तुमने राक्षसपति रावण को मारा था। परन्तु तुमको मैंने चोरी से मक्खन खाने के समय पर मारा था। इस बात पर आप तनिक भी ध्यान न दें। कल्हार फूल पहनने के लिए तुम यहाँ आवो ॥ ५ ॥

एरुदुहळोडु पोरुदि एदुमुलोवाय् काण्नम्बि ❀
करुदियतीमैहळ् शेय्दु कञ्जनैक्कालकोडु पाय्न्दाय् ❀
तेरुविनूकण् तीमैहळ् शेय्दु शिक्कन मल्लर्हळोडु ❀
पोरुदुवरुहिन्न पोन्गे पुन्नैप्पूच्चूट्टवाराय् ॥ ६ ॥

युद्धं दारुणमाततन्थ वृषभैः गात्रे विरक्तो निजे
स्वच्छन्दं च विचेष्टसे चरणतः कंसं प्रहृत्याहरः।
रथ्यायां कटुचेष्टितानि कलयन् मल्लैस्समं युद्धम-
प्याधायागत ! हेमरम्य शिरसा पुंनागपुष्पं वह ॥६॥

'हे कृष्ण, तुमने बैलों के साथ घोर युद्ध किया था (नीला देवी के साथ विवाह करने के निमित्त)। अपने शरीर की रक्षा पर तनिक भी बिना ध्यान दिये तुम स्वच्छन्द चेष्टा करते हो। तुमने पाद के प्रहार से कंस को मार डाला। मथुरा की गलियों में कटु चेष्टित करते हुए तुमने मल्लों के साथ युद्ध किया। सुवर्ण के समान स्पृहणीय शरीरवाले कृष्ण, पुन्नागफूल को पहनने के लिए आवो ॥६॥

तेलुगु

तेलुगु साहित्य का सबसे सुंदर भाग वही है जो वैष्णव भक्ति के द्वारा प्रभावित तथा स्पंदित होता है। तेलुगु भक्ति-साहित्य का अत्यंत सुंदर तथा लोकप्रिय ग्रंथ है महाकवि पोताना (१४००—१४७५ ई०) रचित भागवत पुराण का अनुवाद। यह अनुवाद नहीं है, प्रत्युत स्वतंत्र काव्य ग्रंथ है जो मात्रा में मूल ग्रंथ से कहीं अधिक बढ़ चढ़कर है। इसके 'गजेंद्र-मोक्ष' तथा रुक्मिणी कल्याण' मानव हृदय के भावों की अभि-व्यंजना में सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य माने जाते हैं। पोताना ने निर्धनता में जीवन बिताया, परंतु उसने किसी राज दरबार का आश्रय स्वीकार कर अपने आत्मा का हनन नहीं किया। पोताना का तेलुगु भागवत भक्ति—रस से स्निग्ध ही नहीं है, प्रत्युत साहित्यिक चमत्कार से भी नितांत पूर्ण है। विजयनगर के अधी-श्वर महाराज कृष्णदेवराय (१५०६ई०—१५३० ई०) तथा अच्युतराय

का राज्यकाल तेलुगु तथा कन्नड़ साहित्य का स्वर्णयुग है। कवियों के आश्रय देने वाले ये महाराज स्वयं वीणापाणि शारदा के उपासक थे। कृष्णदेव राय का 'विष्णुचित्तीय' काव्य विष्णुचित्त अलवार तथा गोदा के प्रसिद्ध वैष्णव कथानक का रसमय प्रबंध है जो मानव हृदय की कमनीय अभिव्यक्ति के साथ साथ साहित्यिक चमत्कार का भंडार है। इनके दरबार के अष्टरत्नों (अष्ट दिग्गजों) में से महाकवि पेद्दना तथा तिम्मन्ना ने वैष्णव काव्यों का प्रणयन किया है। पेद्दना को अपनी विशिष्टता के कारण 'आंध्र कविता पितामह' की उपाधि से कृष्णदेवराय ने ही मंडित किया था। इनका 'मनुचरित्र' भाषा के सौंदर्य तथा भावों की अभिव्यक्ति उभय दृष्टियों से श्रेष्ठ काव्य माना जाता है। तिम्मन्ना का 'पारिजात हरण' श्रीकृष्णचंद्र के जीवन की एक विख्यात घटना को लेकर निर्मित रसमय काव्य है। विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में यह काव्य तेलुगु भाषा के उत्कृष्ट माधुर्य का सूचक है तथा सुकुमारभावों की अभिव्यंजना में एकदम बेजोड़ है। इस प्रकार तेलुगु साहित्य का सुवर्णयुग वैष्णव भक्ति से स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण कर इतना उदात्त, महनीय तथा महत्त्वशाली हो सका है।

भीष्म पितामह ने भगवान् कृष्ण की प्रशस्त स्तुति की है। इस प्रसंग के दो चार पद्य नीचे दिये जाते हैं—

हयरिंखा - मुख - धूलि - धूसर - परिन्यस्तालकोपेतमै
रय-जात श्रम-तोय-बिन्दु-युतमै राजिल्लु नेम्मोमुतो।
जयमुं बार्थनु किच्चु वेड्क ननिना शस्त्राहतिं जाल नो
च्चियु, बोरिंचु महानुभावु मदिलो जिंतिंतु नश्रांतमुन्।

आशय—भगवन्, घोड़ों के खुरोंसे उठने वाली धूलि के कारण आप के केश धूसर हो गये हैं। पार्थके रथ हाँकने में आप ने जो अधिक परिश्रम किया है उस के कारण पसीने की बूँदों से आप का ललाट शोभित हो रहा है। इस युद्ध में पार्थ को विजय देने की इच्छा से आप अपने ऊपर शस्त्र का प्रहार सहकर भी स्वयं युद्ध कर रहे हैं। ऐसे आप के रूप को मैं अपने चित्त में अश्रांत भाव से नित्य चिंतन करना चाहता हूँ।

२

भगवन्, आपका मुखमंडल माधुर्य का परम निकेतन है—

त्रिजगन्मोहन-शीलकान्ति-दनुवुद्दीपिंप ब्राभात नी—
रज-बन्धु-प्रभ-मैन-चेलमुं पयिन् रेजिल्ल नीलालक—
व्रज-संयुक्त मुखारविंद-मति-सेव्यं बै विजृंभिंप मा—
विजयुं जेरेडु वन्नेकाडु मदिलो ना वेशिंचु नेल्लप्पुडुन् ॥

(दनु = तनु; ब्राभात = प्रभात; पयिन्=ऊपर; मा विजयुं = हम लोगों को विजय देने के लिए; वन्ने काडु = चित्रविचित्र कार्य करने वाले; नेल्लप्पुडुन्=सदा सर्वदा.)

आशय—तीनो जगत् को मोहित करने वाले शील तथा कांति से आपका शरीर उद्दीप्त हो रहा है। प्रातः काल खिलनेवाले कमलों के बंधु दिवाकर की प्रभा के समान आप का पीताम्बर चम चम चमक रहा है। नीले केश पाश के बिखरने से आप का मुखारविंद अत्यंत शोभित हो रहा है। हम लोगों को विजय देने के लिये आप सदा उद्युक्त हैं तथा नाना प्रकार के चित्रविचित्र कार्य करने वाले हैं। ऐसे आप को मैं अपने चित्त में सर्वदा चिंतन किया करता हूँ।

३

कुंती की स्तुति

श्री कृष्णा यदुभूषणा नरसखा शृंगाररत्नाकरा
लोकद्रोहि-नरेन्द्र-वंशदहना लोकेश्वरा देवता–
नीक-ब्राह्मण-गोगणार्तिहरणा निर्वाणसंधायका
नीकुन् ओक्केद् ढुंपवे भवलतल् नित्यानुकम्पानिधी ॥

इस संस्कृतगर्भित स्तुति का तात्पर्य है कि हे नाना विशेषणों से विभूषित भगवान्, इस संसाररूपी लता के काट डालने के लिए मैं सदा आपको प्रणाम करता हूँ। आप सर्वदा दया के निधान है। आप की कृपा से यह संसार-रूपी वृक्ष छिन्न भिन्न हो जावेगा।

कन्नड

कन्नड साहित्य का आरंभ होता है जैन-धर्म-विषयक काव्यों तथा आख्यानों से। लिंगायत (वीरशैव) मतावलंबी कवियों ने अपनी रचनाओं से इसे पुष्ट किया (१२ शतक से लेकर १५ शतक तक), परंतु कन्नड़ साहित्य का सुवर्ण युग वैष्णव कवियों की सुंदर रचनाओं तथा मनोहर प्रतिभासम्पन्न काव्यों का परिणत फल है। श्री रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य— वैष्णव मत के दोनों आचार्यों ने कन्नड़ देश को अपने धर्म प्रचार का केन्द्र बनाया। फलतः १६ वें शतक के आरंभ से कन्नड़ साहित्य में वैष्णव काव्यों का निर्माण आरभ हुआ जो इस साहित्य का नितांत महत्त्वशाली काल है। आलोचकों की दृष्टि में वैष्णव कवियों की कृपा से कन्नड़ भाषा अपने मध्यकालीन रूप को छोड़ कर अर्वाचीन भाषा के रूप में परिणत होती है।

इस युग में कुमार-व्यास (मूलनाम नारणप्पा) ने महाभारत का, कुमार वाल्मीकि ने रामायण का तथा चाटु विट्ठलनाथ ने भागवत का (रचना काल १५३० ई०) कन्नड़ भाषा में अनुवाद कर वैष्णव साहित्य को अग्रसर किया, परंतु कन्नड़ देश के गाँव गाँव में घूम घूम कर कृष्ण—लीला तथा भगवन्नाम के प्रचार करने का श्रेय है उन वैष्णव संतों को जो 'दास' के नाम से साहित्य में विख्यात हैं। उन्हें स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली मध्वाचार्य के उपदेश से तथा चैतन्य महाप्रभु के १५१० ई० के आसपास दक्षिण भारत की यात्रा में किये गये कीर्तनों तथा भजनों से। इन दासों की रचना 'दास पदावली' (दासर पदगलु) के नाम से विख्यात है। इनमें दो संतों की मधुर पदावली कन्नड़ साहित्य का प्राण है।

इनमें सबसे प्रसिद्ध थे पुरंदर दास जो पण्ढरपुर में ही रहकर भगवान् विट्ठलनाथ की स्तुति में अपने कमनीय पद गाया करते थे। अच्युतराय के समय में ये विजयनगर में आये थे, परंतु इनकी मृत्यु पढरपुर में ही भगवान् विट्ठल के कीर्तन तथा भजन में दिन बिताते १५६४ ईस्वी में हुई। कनकदास इनके समसामयिक संत थे। ये जाति से नीच गड़ेरिया थे, परंतु मध्वमत के आचार्य व्यासराय की कृपा से वैष्णवधर्म की दीक्षा प्राप्त कर इतने बड़े संत हुए। इनके अतिरिक्त विट्ठलदास, वेंकटदास, विजयदास तथा कृष्णदास की इस विषय में विशेष प्रसिद्धि है। इन संतों की पदावली भावों की दृष्टि से नितांत सहज, स्वाभाविक तथा सरस है। इनके सुंदर गायन सुनने से श्रोताओं के हृदय में एक विचित्र आकर्षण होता है।

इन संत पदकारों के अतिरिक्त लक्ष्मीश का 'जैमिनिभारत' कन्नड़ साहित्य का सबके श्रेष्ठ, सुंदर तथा प्रसिद्ध प्रबंध काव्य है। कवि का समय है १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध। कथानक तो वही है जो महाभारत के आश्वमेधिक पर्वका, परंतु इसका मुख्य उद्देश्य है भगवान् श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन तथा भगवन्नाम के कीर्तन और जप के विलक्षण प्रभाव का विवरण। यह काव्य भक्ति—भावना से नितांत स्निग्ध, शोभन तथा मधुर माना जाता है। भाषा तथा भाव उभय दृष्टियों से यह निःसंदेह महत्त्वशाली है तथा कन्नड़ साहित्य का तो जाज्वल्यमान हीरक ही है। इसी से कतिपय उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं:—

'ताम्रध्वज' कृत कृष्ण स्तुति—

जय जय जगन्नाथ	वर सुपर्ण वरूथ।
जय जय रमाकान्त	शमित दुरितध्वान्त।
जय जय सुराधीश	निगम निर्मल कोश
	कोटि सूर्य प्रकाश॥
जय जय क्रतुपाल	तरुण - तुलसीमाल
जय जय क्षमापेन्द्र	सकल सद्गुणसान्द्र
जय जयतु यदुराज	भक्तसुमनोभुज

जय जयतु एनुतिर्दनु॥ (सर्ग २६, पद्य ७०)

इस ललित स्तुति में समस्त पद देववाणी के हैं। केवल अंतिम पद—एनुतिर्दनु—कन्नडभाषा का है जिसका अर्थ है—वह कह रहा था॥

यौवनाश्वकृत कृष्णस्तव—

कमलदळनयन काळियमथन किसलयो-
पमचरण कीशपतिसेव्य कुजहरकूर्म ।
समसत्कपोल केयूरधर कैरवश्याम कोकनदगृहेय ॥
रमण कौस्तुभशोभ कम्बुचक्रगदाब्ज ।
विमलतर कस्तूरिकातिलक कावुदेम्
दमितप्रभामूर्तियं नुनिसलातनं हरिर्नेगपिदं कृपेयोळु ॥ (५।८)

इस स्तुति के केवल अंतिम दो पद कन्नडभाषा के हैं जिनका अर्थ है—हे हरि, कृपया मेरी रक्षा कीजिए।

त्रयोदशसर्ग में सुधन्वा की स्तुति बड़ी ही सुंदर तथा मधुर है—

जीय जगदान्तरात्मक सर्वचैतन्य
जीय शुद्धाद्वय निरञ्जन निशावरण
जीय निन्नोळगी समस्त मध्यस्थमागिदे नीने सत्यरूप ।
जीय नारायण मुकुन्द माधव कृष्ण
जीय चक्रिये पीतवास लक्ष्मीलोल
जीय सर्वस्वतंत्रने बिडिसु संसारपाश दिन्दन्ननु ॥
(बिडिसु = मुञ्चस्व, छुडा दीजिए । न्ननु = मुझको)

यह स्तुति संस्कृतमयी है। कहीं कहीं कन्नड़ शब्दों का प्रयोग है। कवि कहता है कि हे नानागुण-संपन्न कृष्ण, मुझे संसार के पाश से शीघ्र मुक्त कर दीजिए जिससे मैं आपके चरणारबिंद-मधु का मधुकर बनूँ।

—※—

मलयालम

मलयालम भाषा का साहित्य सामान्यरूप से १३ वें शतक से आरंभ होता है। इस शतक की मान्य पुस्तक है 'रामचरित' जिसकी रचना त्रावनकोर के तत्कालीन महाराजा ने की। इसके तथा तत्कालीन अन्य ग्रंथों के ऊपर तमिळ साहित्य का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित होता है, परंतु इसके अनंतर संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रभाव इतने व्यापक रूप से पड़ा कि आज ७५ प्रतिशत संस्कृत भाषा के शब्द यहाँ उपलब्ध होते हैं। मल्याली साहित्य में कृष्ण से संबद्ध काव्यों का प्राचुर्य है। शायद उतना अधिक कृष्ण-साहित्य किसी अन्य दक्षिणी भाषा में उपलब्ध नहीं होता। १५ वें शतक में चेरुस्सेरी नंबूद्री ने संस्कृतमिश्रित मल्याली भाषा में 'कृष्णगाथा' नामक भक्तिरस-प्रधान काव्य का निर्माण किया। तुंजन कवि का भागवत (रचनाकाल १६ शतक) इस साहित्य में नितांत प्रसिद्ध है। पोन्तान् भी इसी युग के कवि हैं जिनका प्रभाव इस देश में गोसाईं तुलसीदास के समान ही व्यापक तथा महत्त्वशाली है। इस प्रकार मल्याली साहित्य में भी वैष्णव काव्यों—विशेषतः कृष्ण काव्यों का—प्रचार तथा प्रसार अपेक्षाकृत सुंदर और व्यापक है। यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जा रहा है।

कण्णनां उण्णिये काणुमार - आकणं
कारोलि - वर्णने काणुमार - आकणं।
किंकिणी-नादं कळ् केळ्क् कुमार-आकणं।
कीर्तनं चोल्लि पुकळ्तु मार-आकणं।
कुम्मिणि - प्पैतळे काणुमार - आकणं।
कूतुकळ् - ओरोन्नु केळ्क्कुमार-आकणं।

केल्पेरं प्पैलळे काणुमार - आकणं ।
केळिकळ - ओरोन्नु केळ्क्कुमार आकणं ।
कैवल्य - मूर्तिये काणुमार - आकणं ।
कोञ्च लोड़-अन्मोळि केळ्क्कुमार-आकणं ।
कौतुक प्पैतळे काणुमार - आकणं
कंसारि नाथने काणुमार - आकणं
कण्ड् कण्ड् उळळं तेकियुमार - आकणं

ऐ मेरे प्यारे कृष्ण, मैं चाहता हूँ कि मैं तुम्हारा दर्शन करूँ ।

ऐ मेघ के समान साँवले कृष्ण, ऐ श्यामसुंदर, मैं तुम्हारा दर्शन चाहता हूँ ।

तुम्हारी करधनी की रुनझुन मैं सुनना चाहता हूँ ।

ऐ मंत्रो के द्वारा कीर्तित कृष्ण, मैं तुम्हारी स्तुति करना चाहता हूँ ।

ऐ प्यारे बाल कृष्ण, मैं तुम्हारा मोहनी रूप देखना चाहता हूँ ।

तुम्हारे नाना प्रकार की ललित क्रीड़ाओं को सुनना चाहता हूँ

ऐ हृष्ट-पुष्ट बालकृष्ण मैं तुम्हारा मोहिनी रूप देखना चाहता हूँ ।

तुम्हारी सब लीलाओं को मैं सुनना चाहता हूँ ।

मोक्ष देने वाली मूर्ति को मैं कब अपने नेत्रों से देखूँगा ?

तुम्हारी तोतली बोली को मैं सुनना चाहता हूँ ।

ऐ कौतुकजनक बालक, तुम्हारे दर्शन की मुझे बड़ी लालसा है ।

हे नाथ, हे कंस-मर्दन, कब मैं तुम्हें देखूँगा ?

ऐसे साँवलिया को बारबार देखकर देखकर मैं अपने हृदय को पवित्र करना चाहता हूँ ।

इस पद्य में प्रथम अक्षर ककार की बाराखड़ी है। ऐसे पद्य 'अक्षराली' के नाम से मलयालम साहित्य में विख्यात हैं तथा ऐसी रचनायें मात्रा में अधिक हैं।

—❀—

मराठी

सावळें रूपड़ें चोरटें चित्ता चें।
उभे पंढरीचे विटेवरी ॥ १ ॥
डोळियांची धणी पहातां न पुरे।
तया लागीं झुरे मन माझें ॥ २ ॥
आन गोड़ कांही न लागे संसारी।
राहिले अंतरीं पाय तुझे ॥ ३ ॥
प्राण रिघों पाहे कुडी हे सांडुनी।
श्रीमुख नयनी न देखतां ॥ ४ ॥
चित्त मोहियेलें नंदाच्या नंदने।
तुका म्हणे येणें गरुडध्वजें ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे साँवलिया, तूने अपनी साँवली सूरत से मेरे चित्त को चुरा लिया है। तू पण्ढरपुर में ईंट के ऊपर खड़ा हुआ है। तुम्हें अपने सामने न देख कर नेत्र रखने का सौभाग्य व्यर्थ है। तुम्हारे लिए तो मेरा मन व्याकुल बना हुआ है। तुम्हारा चरण-कमल मेरे हृदय में रहने पर मुझे संसार की कोई भी चीज मीठी नहीं लगती। भगवन्, आपके सुन्दर मुखड़े को नयनों से न देखकर मेरे प्राण व्याकुल होकर छटपटाने लगते हैं। तुकाराम कहते हैं कि मेरे चित्तको चुरा लिया है नन्द के दुलारे ने। वह गरुड पर चढ़ने वाला नारायण है।

बंगला

ए घोर रजनी, मेघ गरजिनी, कमने आओब पिया।
शेज बिछाइया, रहिनु बसिया, पथ-पाने निरखिया॥
सइ कि करब, कह मोर।
एतहुँ विपद तरिया आइनु नव अनुराग भरे॥
ए हेन रजनी केमने गोआब बँधुर दरश बिने।
विफल हइल मोर मनोरथ प्राण करे उचाटने॥
दहये दामिनी घन झनझनी पराण-माझारे हाने।
'ज्ञानदास' कहे शुनहु सुन्दरि मिलाब बंधुर सने॥

—※—

मैथिली

सजनि के कह आओब मधाइ।
विरह-पयोधि-पार किये पाओब मझु मने,
नहि पतियाइ।
एखन तखन करि दिवस गमाओल
दिवस दिवस करि, मास॥
मास मास करि बरष गमाओल,
छोड़लुँ जीवनक आश॥
बरस बरस करि समय गमाओल,
खोयलुँ तनुक आशे।
हिमकर-किरण नलिनी यदि जारब,
कि करब माधवी मासे॥
अङ्कुर तपन-तापे यदि जारब,

कि करब वारिद मेहे।
इह नव यौवन बिरहे गमाओब,
कि करब से पिया लेहे॥
भणइ 'विद्यापति' शुन बर-युवती,
अब नहि होत निराशे।
सो ब्रज-नंदन हृदय—आनन्दन,
झटिते मिलब तुय पाशे॥

———

हिन्दी

किते दिन हरि-सुमिरन बिनु खोए।
पर-निन्दा रसना के रसकरि, केतिक जनम बिगोए।
तेल लगाइ कियौ रुचि-मर्दन, बस्तर मलि मलि धोए।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै, बिषयिनि के मुख जोए।
काल बलीतें सब जग काँप्यौ, ब्रह्मादिक हूँ रोए।
'सूर' अधम की कहौ कौन गति, उदर भरे, परि सोए।

—❀—

(२)

वेद में विष्णु

(१) भक्ति का रूप

(२) वेद में देवता तत्त्व

(३) वेद में भक्ति का उद्गम

(४) वेद में 'विष्णु' का स्वरूप

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणे-

ष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

—ऋ० वे० १।१५४।२

मनुष्य ही इस विशाल विश्व का केंद्रबिंदु है। उसी की लक्ष्यसिद्धि के लिए विश्व के समस्त व्यापार प्रवृत्त होते हैं। मनुष्य के ही कल्याण साधन के लिए संस्कृति जागती है, सभ्यता पनपती है तथा धर्म उदित होता है। जगत् के नाना प्राणियों में समधिक चेतना तथा स्फूर्ति से संवलित होने के कारण ही मानव की इतनी महत्ता है। संकीर्ण धर्मानुयायी ही धर्म का क्षेत्र मानव-जीवन की पारलौकिक भावनाओं के ही साथ करते है। भारतीय धर्म नितांत उदार है। वह केवल परलोक को ही धर्म का क्षेत्र नहीं बतलाता, प्रत्युत उसका साक्षात् संबंध इहलोक से भी जोड़ता है। धर्म वह साधु साधन है जो प्राणियों के ऐहिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस को सद्यः सिद्ध करता है—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।

मानव हृदय की तीन ही मुख्य प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनका नैयायिकों के मंतव्यानुसार क्रमिक रूप है—जानाति, इच्छति, यतते। मनुष्य किसी वस्तु को प्रथमतः जानता है, तदनंतर उसकी इच्छा करता है और अंत में यत्न करता है उसकी प्राप्ति के लिए। मनोविज्ञान की दृष्टि से कह सकते हैं मनुष्य में तीन पक्ष होते हैं—क्रिया पक्ष, बुद्धि पक्ष तथा हृदय पक्ष, कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। अंग्रेजी शब्दावली में ये तीनों हकार या 'एच' से आरंभ होते हैं—हैण्ड, हेड और हार्ट। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से किसी भी धर्म के ये ही तीन पक्ष हो सकते हैं। देश-कालानुसार किसी धर्म में इनमें से एक की प्रधानता रहती है और

दूसरे धर्म में किसी दूसरे की, परंतु प्रत्येक धर्म में, चाहे वह सभ्य जाति का हो, या असभ्य जाति का धर्म हो, इन तीनों में से किसी एक की सत्ता रहती अवश्य है। उदाहरण के लिए पाश्चात्य देशों के धर्मों पर दृष्टिपात कीजिए। हिब्रू में क्रिया-पक्ष की प्रधानता है और ईसाई धर्म में हृदय-पक्ष की। ज्यू लोग इस संसार को नाना देवताओं की क्रीडाभूमि समझते थे जिनमें से अनेक देवता स्वभावतः शांत, उदार तथा मनुष्यों के उपकारी होते हैं, परंतु अन्य देवता उग्र, भयानक तथा मानवों के खून के प्यासे होते हैं। अपने अभ्युदय का अभिलाषी साधक इन देवताओं की नाना उपादेय वस्तुओं से पूजा-अर्चा करना अपना परम कर्तव्य मानता है। इसीलिए हिब्रू धर्म में कर्मकाण्ड का प्राधान्य है—क्रिया-पक्ष की प्रबलता है। इसके विपरीत ईसाई मजहब में हृदय पक्ष का हम अस्तित्व पाते हैं। ईसा मसीह का प्रधान उद्देश्य था मानवों को प्रेमदान, मनुष्यों में पारस्परिक प्रेम तथा मैत्री की शिक्षा। उन्होंने अपने धर्म का हृदय थोड़े शब्दों में ही निचोड़ कर रख दिया है। मेरा अभिप्राय उनके 'शैलोपदेश' है जिसे अंग्रेजी में 'सर्मन आन दि माउण्ट' कहते हैं[१]। वे उन धार्मिकों की खिल्ली उड़ाते हैं जो केवल अपने पड़ोसी को ही प्रेम करने की तथा अपने शत्रुओं को घृणा करने की शिक्षा देते हैं। वे पर्वत-शिखर पर आरूढ़ होकर अपने धर्म का रहस्य इन रमणीय शब्दों में प्रतिपादित करते हैं—

I say unto you. Love your enemies, bless them that curse you, do good to them that

---

१ द्रष्टव्य St. Matthew का Gospel, परिच्छेद ५।

hate you, and pray for them which despitefully use you and persecute you (sec. 44)

अर्थात् अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो; जो तुम्हें अभिशाप देते हों उन्हें धन्यवाद दो तथा जो तुम्हें घृणा करते हैं उनकी भलाई करो।

जीसस के अनुसार पूर्णता पाने का यही मार्ग है—प्रेम का साधन तथा मैत्री का विधान[1]—

Be ye therefore perfect, even as your Father which is in heaven is perfect (Sec. 54, Chapter V).

इस प्रकार क्रिश्चियन धर्म में हृदयपक्ष की प्रधानता है।

वैदिक धर्म में तीनों प्रकारकी प्रवृत्तिवाले मानवोंके अभ्युत्थान तथा कल्याण के निमित्त इस त्रिविध पक्ष का रमणीय विधान है। इसीलिए मार्गों की दृष्टि से वैदिक धर्म में तीनों का एक साथ विधान उपलब्ध होता है—कर्ममार्ग का, ज्ञानमार्ग का तथा भक्तिमार्ग का। आध्यात्मिक विकास की नाना श्रेणियों में अंतर्मुक्त होनेवाले मनुष्यों को हम स्थूल रूप से इन्हीं तीनों के भीतर रख सकते हैं। प्रकृति की भिन्नता के कारण अधिकारी भेद से इन त्रिविध मार्गों का मानव जीवन में उपयोग होता है। उपयोग है तीनों का, परंतु अपने अपने स्थान में, विशिष्ट प्रकार

---

१ जानकारों से बतलाने की जरूरत नहीं कि ईसा का यह उपदेश महाभारत तथा धम्मपद के इस-प्रख्यात पद्य की ईसाई प्रतिध्वनि है—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलीकवादिनं॥

—धम्मपद १७।३

के मानवों के संग में। इन तीनों मार्गों की आध्यात्मिक उन्नति में व्यवस्था कर वैदिक धर्म ने अत्युदार सार्वभौम तत्त्व का उन्मीलन किया है। इस प्रकार उपयोगी होने पर भी तीनों में भक्ति की भावना नितांत सूक्ष्म, सुबोध तथा सार्वजनीन है।

धार्मिक तत्त्वों के अनुशीलन करने पर प्रत्येक धर्म के तीन क्षेत्र दिखलाई पड़ते हैं[1]—(१) आप्त शब्द जिसका शासन कर्म तथा कतिपय अंशों तक बुद्धि पर भी पाया जाता है; (२) बुद्धि जिसके द्वारा मार्ग का तथा गन्तव्य स्थान का निश्चय किया जाता है; (३) हृदय जिसके प्रभाव में आकर लोग अपने मार्ग को प्रकाशित करते हुए चलते हैं। इन क्षेत्रों के अन्तर्मुक्त उपासकों की भी इसी कारण तीन प्रकार की श्रेणी होती है। शब्दानुयायी शासनपक्षी शुष्क धार्मिक की दृष्टि में धर्म राजा है जिसके सामने वह विधि—विधान तथा नियमों का पालन करता हुआ डरता डरता जाता है। बुद्धिमार्गी उपासक के लिए धर्म गुरु है जिसके सामने वह शिष्य के समान शंका का समाधान करता हुआ विनीत वेष में उपस्थित होता है। इन दोनों से भिन्न होता है हृदय-पक्षी उपासक जिसके लिए धर्म लालन-पालन करने वाला प्यार पुचकार करने वाला पिता होता है। इस पक्ष में साधक अत्यत घनिष्ठ तथा प्रेमपूरित संबंध पाकर विभिन्न आश्वासन तथा आह्लाद का अनुभव करता है। भक्त साधक धर्म के सामने भोले भाले बच्चे की तरह जाता है, उसके हृदय में धर्म के लिए वास्तव स्नेह होता है। वह धर्म को प्यार करता है और धर्म उसे प्रेम करता है। पहिले किए गये समीक्षण से दोनों का सामञ्जस्य प्रस्तुत करने वाले आलोचकों के लोचन

१ पं० रामचंद्रशुक्ल—सूरदास पृ० १ तथा २

खोलने की जरूरत नहीं कि आप्त-शब्दानुयायी धार्मिक कर्म कांड का उपासक होता है; बुद्धिपक्षी ज्ञान-कांड का साधक होता है तथा हृदयपक्षी भक्तिमार्ग का सेवक होता है।

—:※:—

१—भक्ति

सुगमता तथा सार्वजनीनता के कारण ही भक्ति पंथ का विपुल प्रचार धार्मिक जगत् में विद्यमान है। भक्ति के द्वारा भक्त भगवान् के साथ अपना रागात्मक संबंध स्थापित करता है। महर्षि शांडिल्य के कथनानुसार भक्ति का लक्षण है—सा परानुरक्तिरीश्वरे (शांडिल्य सूत्र संख्या २)। ईश्वर में पर अनुराग, उत्कृष्ट प्रेम ही भक्ति है। अनुरक्ति के परत्व या उत्कृष्टत्व का निदर्शन क्या है? निरतिशयत्व अर्थात् वह अनुराग जिससे अधिक अनुराग का नितांत अभाव होता है। भागवत पुराण के कथनानुसार प्रेम निरतिशय होने के अतिरिक्त निर्हेतुक, निष्काम तथा निरंतर होने पर ही भक्ति शब्द के द्वारा अभिहित किया जा सकता है—

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।

(भाग० ३। २९। २२)

भक्ति में पूर्ण निष्कामना होनी चाहिए। यदि भक्त भगवान् के सामने दरिद्र के समान गिड़गिड़ाकर केवल अपनी क्षुद्र उदर-दरी की पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है तो वह वास्तव भक्त नहीं कहा जा सकता। वह तो वैदिक काम्य कर्मों के उपासक के समान 'अर्थार्थी' भक्त अर्थात् हीन कोटि का भक्त माना जाता

है। बिना ज्ञानसंपन्नता हुए निष्कामता मनुष्य में आ नहीं सकती। इसीलिए ज्ञानी भक्त ही वास्तव भक्त है। क्योंकि 'ज्ञानी' पुरुष केवल कर्तव्य बुद्धि से ही परमेश्वर में प्रेम करता है। भागवत के मन्तव्यानुसार—

आत्मारामाश्च मुनयो निग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
(भाग० १।७।१०)

अर्थात् वे मननशील विद्वान जिनकी बाहरी वृत्ति बिलकुल बंद हो गई है, जो आत्मा में ही—अपने में आप—रमण किया करते हैं, जिनकी सब ग्रंथियाँ खुल गई हैं, जो सर्वथा मुक्त हैं, भगवान् विष्णु में अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि जगत् के हृदय का आकर्षण करने वाले हरि में स्वभाव से ही ऐसे मनोरम, कल्याणकारी गुण विद्यमान रहते हैं।

सच पूछिए तो सच्चे भक्ति का अधिकारी आत्माराम मुनि ही होता है। ऐसा भक्त भक्त-वत्सल अशेष-कल्याण-गुणाकर भगवान् का नितांत विशुद्ध तथा निष्काम प्रेम का आदरणीय अधिकारी होता है। भक्त का आनंद भक्त ही जानता है। श्रीमद्भागवत के शब्दों में—

निष्किञ्चना मय्यनुरक्त-चेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीव-वत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥
(भाग० ११।१४।१७)

भगवान् श्री कृष्ण का कथन है कि मुझमें अनुरक्तचित्त, परिग्रहशून्य, शांत, सब प्राणियों पर दया करनेवाले तथा अभि-

मानरहित भक्त निरपेक्षों को प्राप्त होने वाले जिस सुख को भोगते हैं, उसको वे ही जानते हैं। वह किसी दूसरे के जानने में नहीं आ सकता।

यह परानुरक्तिरूपा भक्ति साधनरूपा भी है तथा साध्यरूपा भी है। उपाय भी है और स्वयं उपेय भी है। प्राप्ति का साधन भी है तथा प्राप्तिरूपा भी है।

२—देवतातत्त्व

२—यह भक्ति भावना की भिन्नता के कारण भिन्न भिन्न देवताओं के साथ की जा सकती है। जब इसका केन्द्रबिंदु या मल आधार भगवान् विष्णु होते हैं, तब यह विष्णु-भक्ति कहलाती है और इसका साधक वैष्णव माना जाता है। पश्चिमी विद्वानों की यह मान्यता है कि वेद में बहुदेवतावाद (पाली-थीजम) का साम्राज्य है तथा ये देवता भौतिक जगत् के प्राकृतिक दृश्यों के अधिष्ठातामात्र हैं। इन पश्चात्यों के मानस पुत्र हमारे अधिकांश नवीन शिक्षामंडित पंडित भी इसी धारणा को अभी तक अपनी छाती से चिपकाये हुए हैं, परंतु यह धारणा नितांत भ्रांत है तथा बालू की भीत के समान निराधार तथा निरवलंब है। तथ्य वही है जो निरुक्तकार यास्क ने अपने गौरवमय ग्रंथ के दैवत कांड (सप्तम अध्याय) में देवता के स्वरूप—विवेचन में कहा है :—

माहाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति (७।४।८, ९)

इस जगत् के मूल में एकही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से 'ईश्वर' तथा नितांत महनीय एवं बृहत् होने से 'ब्रह्म' कहलाती है। वह एक है, अद्वितीय है। उसी एक देदीप्यमान देवता की विविध रूपों में नाना

प्रकारों से स्तुति की जाती है। एकही आत्मा के अन्य देवता प्रत्यंगमात्र हैं। प्रकृति की कार्यावली के मल में एक ही सत्ता है, एकही नियंता है, एकही देवता वर्तमान है; अन्य देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकासमात्र है—केवल विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। ऐतरेय आरण्यक ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है—"एकही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में किया करते हैं, यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग 'महाव्रत' नामक याग में'—

> एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त, एतमग्नौ आध्वर्यवः,
> एतं महाव्रते 'छन्दोगाः'—ऐत० आर० ३।२।३।१२[1]

अनंत की मुद्रा से अंकित अनंत कर्ता की अनंत सृष्टि में सब कुछ ही अनंत है। अनन्ता वै लोकाः। भारतीय आध्यात्मिकों की दृढ़ धारणा है—लोक अनंत है, यह विश्व अनत है। इस तत्त्व की आश्चर्यजनक पुष्टि कर रहा है पाश्चात्य विज्ञान। आप लोगों में से बहुतों को इस प्रसंग में प्रौढ़ वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स का यह कथन याद आये बिना न रहेगा कि इस पृथ्वीतल पर नदियों के किनारे जितने गणनातीत बालुका-कण सूर्य की प्रभा में चमकते रहते हैं, संख्या में उनसे अधिक वे लोक हैं जिनसे यह विशाल ब्रह्मांड परिपूर्ण है। भारतीय अध्यात्मवेत्ता यह जानते थे कि किसी तत्त्वविशेष के लिए 'इदमित्थं' इस प्रकार से आग्रह करना केवल अज्ञता है। इस

---

१ इस आरण्यक श्रुति का स्पष्ट अनुवाद महाभारत के भीष्मस्तवराज में उपलब्ध होता—

> यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
> यं विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥

अनंत लोकों का संचालन, उपबृंहण तथा परिवर्धन करनेवाली जो अलौकिक शक्ति है, वह एक है, अद्वितीय है, असीम है, अखंड है। इस नानात्मक जगत् के भीतर एकत्व की प्रथम परख वैदिक कवियों की निजी विशेषता है।

वैदिक परिभाषा में प्रजापति के दो रूप हैं—(१) निरुक्त और (२) अनिरुक्त। निरुक्त या शब्दभावापन्न रूप परिमित होने से मर्त्यभावापन्न है, परंतु अनिरुक्त रूप या शब्दातीत रूप ही अमृत-स्वरूप तथा सदा अनुप्राणित रहने वाला है। इस सत्य का एक पक्ष यह भी है कि जिस एक तत्त्व का परिचय हमें किसी नाम या रूप से हो सकता है उसी के अनेक नाम-रूप संभव हैं। वैदिक धर्म का यही मूल तत्त्व है—एक देवतावाद। वही एक देवता वेद की विभिन्न संहिताओं में विभिन्न नामों के द्वारा अभिहित किया गया है तथा विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया है। उसके दो रूप हैं—सत्तात्मक तथा निषेधात्मक, घनात्मक तथा ऋणात्मक। वेद में इन दोनों रूपों का वर्णन अनेक बार अनेक प्रकारों में उपलब्ध होता है। अथर्ववेद इस मौलिक तत्त्व को स्कम्भ तथा उच्छिष्ट संज्ञाओं से अभिहित कर उसके द्विविध रूप की ओर संकेत कर रहा है। स्कम्भ है सत्तात्मक रूप तथा उच्छिष्ट है निषेधात्मक रूप। स्कम्भ का अर्थ है आधार। जगत् के समग्र पदार्थों को उसी के आश्रय में निवास करने के कारण तथा उसकी सत्ता से अनुप्राणित होकर अपनी सत्ता जमाये रखने के कारण वह एक सामान्य तत्त्व 'स्कम्भ' सबका आधारभूत देव या ब्रह्म कहलाता है:—

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत्॥

—अथर्व १०।८।२

अन्य मंत्र में इसी तथ्य की सूचना है—

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यर्पिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।

—वही १०।७।१२

'उच्छिष्ट' का अर्थ है बचा हुआ, अवशिष्ट पदार्थ। दृश्य प्रपंच के निषेध करने के अनंतर जो अवशिष्ट रह जाता है वही है उच्छिष्ट अर्थात् बाध-रहित परब्रह्म। ब्रह्म की इस रूप की अभिव्यक्ति अनेक उपनिषदों में की गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् इसीलिए उस परमतत्त्व को 'नेति' 'नेति' शब्दों से पुकारता है—

अथात आदेशो नेति नेति (बृह० उप० २।३।११)
नेह नानास्ति किञ्चन („ ४।२।२१)

उच्छिष्ट की महिमा वर्णनातीत है। उच्छिष्ट पर नामरूप अवलंबित रहता है, उच्छिष्ट के ऊपर लोकों का आश्रय है, उच्छिष्ट के भीतर ही इन्द्र तथा समस्त विश्व सम्यक्रूप से आहित रहता है, निविष्ट रहता है—

उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥

—अथर्व ११।६।१

प्रसिद्ध पुरुषसूक्त मे वही तत्त्व 'पुरुष' के नाम से अभिहित किया गया है। 'पुरुष' का अर्थ है पुरि शेते पुरुषः अर्थात् शरीर रूपी पुर में रहने वाला व्यक्ति। विश्व की सृष्टिकर वह प्रजापति इसमें प्रवेश कर लेता है। इसीलिए वह 'पुरुष' की संज्ञा प्राप्त करता है। यही पुरुष जगत् के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य—

तीनों कालों में वह वर्तमान रहता है जिसकी द्योतना यह विख्यात मंत्र कर रहा है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।

(ऋग्वेद १०।६०।२)

यह मूल तत्त्व नाना रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। ऋग्वेद का स्पष्ट कथन है कि एक ही इंद्र अर्थात् ऐश्वर्यशाली देवता अनेक रूपों में अपनी शक्तियों से प्रकट हो रहा है—

इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते

अस्यवामीय सूक्त के महर्षि दीर्घतमा औचथ्य ने इस विश्व-व्यापिनी त्रैकालिकी परिभाषा का आविष्कार कर इसी महार्घ सत्य की ओर सकेत किया है कि इंद्र, वरुण, मित्र, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि एक ही तत्त्व के अनेक नाम हैं—'

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु—

रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ॥

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ० १।१६४।४६, अथर्व ९।१०।२८)

एक अव्यक्त तत्त्व की नाना अभिव्यक्तियाँ किस प्रकार संपन्न होती हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में रेखागणित का दृष्टांत दिया जा सकता है। रेखा गणित का मूल तथ्य है बिंदु। यही बिंदु नाना प्रकार के संकोच-विकाश से, प्रसारण तथा आकुञ्चन से कभी सरल रेखा, कभी तिर्यक् रेखा, कभी वृत्त और कभी त्रिभुज का रूप धारण करता रहता है। परंतु गणितज्ञों के कल्पनानुसार यह बिंदु बहुत-कुछ अनिर्देश्य है। बिंदु वह वस्तु है जो नियत स्थान तो रखता है, परंतु उसका कोई परिमाण—

लंबाई, चौड़ाई तथा मोटाई-नहीं होता है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु है जिसे हम कल्पना-राज्य का ही पदार्थ मान सकते हैं, क्योंकि पेंसिल के अत्यंत बारीक नोक से भी बनाया गया चिन्ह बिंदु का प्रतीकमात्र हो सकता है, वास्तव बिंदु का स्वरूप निर्देशक नहीं हो सकता। रेखागणित का समस्त प्रपंच बिंदु की ललित लीला का विशद विलास है। एक से अनेकत्व रूप में घटित होने का यह एक सामान्य दृष्टांत है। प्रजापति के प्रकरण की लीला बहुत कुछ इसी प्रकार होती है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त-
जायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

वेद के इस एकदेवतावाद की व्याख्यासे अवान्तर दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य भरा पड़ा है। महाभारत के पंचरत्नों में अन्यतम भीष्मस्तवराज इसी तथ्य का विस्तृत व्याख्यान है। श्रीमद्भागवत की स्तुतियाँ इसी तत्त्व के प्रतिपादन में चरितार्थ होती हैं। एक दो दृष्टांत पर्याप्त होगा—

परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥६०॥
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥८२॥

इस अंतिम श्लोक के भाव से भागवत में वर्णित गजेन्द्रकृत स्तुति का यह श्लोक सर्वथा साम्य रखता है—

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयं भुवम्।

—भागवत ८।३।३

यह विश्व जिस अधिष्ठान पर अवलंबित है, जिससे यह उत्पन्न हुआ, जिसके कारण यह उत्पन्न हुआ, जो स्वयं यह विश्वरूप है तथा जो इस लोक, और परलोक से भी परे है, उत्कृष्ट तथा पृथक् है, वही है भगवान् स्वयंभू।

यही एक देवता भारतवर्ष में अंगीकृत की गई है। विष्णु इसी परम तत्त्व की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति हैं।

—*—

३—भक्ति का उद्गम

भारतवर्ष भक्तिरस से स्निग्ध है। भक्ति की मधुर धारा से उसका प्रत्येक प्रांत आप्यायित है। इस भारतवर्ष में भक्ति का उद्गम कब और कहाँ हुआ ? इसका अब विचार किया जायगा। इस प्रश्न की चर्चा रहस्य से शून्य नहीं है। जब से पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय साहित्य तथा धर्म से परिचय पाया, तब से उनमें से बहुतों का आग्रह रहा है कि भारत में भक्ति की कल्पना ईसाई धर्म की देन है। पाश्चात्य जगत् में कर्मप्रधान यहूदी धर्म की तुलना में ईसाई धर्म में प्रेम की प्रचुरता अवश्यमेव एक ध्यानगम्य वस्तु है। ईसाई मत का मूल सिद्धांत है—भगवान् का अटूट प्रेम या भगवान् की भक्ति। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि संसार के इतिहास में ईसाई मत में ही सर्वप्रथम भक्ति का उदय हुआ और वहीं से यह भारतवर्ष में भी प्रविष्ट होकर सर्वत्र प्रचारित हुई। भारत भक्ति की कल्पना के लिए ईसाई मत का ऋणी बतलाया जाता है। परंतु इस प्रश्न की समीक्षा करने पर यह पाश्चात्य मत नितांत निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

वैदिक साहित्य के गाढ़ अनुशीलन से यही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान का उदय स्थल है वैसे ही वह भक्ति का भी उद्गम स्थान है। इस अवसर पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। धर्म के सिद्धांतों के इतिहास की पर्यालोचना करने पर प्रायः देखा जाता है कि किसी युग में किसी सिद्धांत विशेष की उपोद्बोधक सामग्री विद्यमान रहती है, यद्यपि उस सिद्धांत का प्रतिपादक शब्द उपलब्ध नहीं होता। ऐसी दशा में अभिधान के अभाव में हम तत् तत् सामग्री की भी उपेक्षा कर बैठते हैं। यह सत्य है कि संहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथों में अनुरागसूचक 'भक्ति' शब्द का सर्वथा अभाव है, परंतु यह मानना सत्य नहीं है कि इस अभाव के कारण उस युग में भक्ति की कल्पना अभी तक प्रसूत ही नहीं हुई थी। संहिताओं में कर्मकांड का प्राबल्य था, परंतु इसका अर्थ नहीं है कि उस समय ज्ञान तथा भक्ति की कल्पना का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। मंत्रों में विशिष्ट देवताओं की स्तुति की गई है, परंतु यह स्तुति इतनी मार्मिकता से की गई है कि इसमें स्तोता के हृदय में अनुराग का अभाव मानना नितांत उपहासास्पद है। हमारा तो कथन है कि बिना भक्ति-स्निग्ध हृदय के इस प्रकार की कोमल तथा भावुक स्तुतियों का उदय ही नहीं हो सकता। शुष्क हृदय में न तो इतनी कोमलता आ सकती है और न इतनी भावुकता। देवताओं की स्तुति करते समय साधक उनके साथ पिता, माता, स्निग्ध बंधु आदि नितांत मनोरम हृदयंगम संबंध स्थापित करता है। और यह स्पष्ट प्रमाण है कि स्तोता के हृदय में देवताओं के प्रति सर्वतोभावेन प्रेम तथा अनुराग विद्यमान है।

कतिपय देवताओं की स्तुतियों का अध्ययन कर हम अपना सिद्धांत दृढ़ करना चाहते हैं। सर्वप्रथम अग्नि की ही परीक्षा

कीजिए। अग्नि वैदिक कर्मकांड के प्रतिनिधि देवता ठहरे, उन्हीं के सद्भाव से यज्ञयागों का संपादन सिद्ध होता है। अतः शुष्क कर्मकांड के प्रमुख देवता की स्तुति में अनुरागात्मिका भावना का अभाव सहज में ही अनुमेय है, परंतु बात ऐसी नहीं है। वे विपत्तियों के पार ले जाने वाले त्राता के तटस्थ रूप में ही चित्रित नहीं किये गये हैं, प्रत्युत पिता तथा माता जैसे रागात्मक संबंधों के आधार भी स्वीकृत किये गये हैं। ऋग्वेद का यह मंत्र अग्नि को मनुष्यों का पिता तथा माता बतला रहा हैः—

त्वां वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां
त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः
पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्॥

(ऋग् ६।१।५)

यह आश्चर्य की ही घटना होगी यदि अग्नि को पिता तथा माता बतलाने वाले उपासक के हृदय में अनुराग की रेखा का उदय न हो, भक्ति की भावना का अवतार न हो।

वैदिक देवताओं में इन्द्र शौर्य के प्रतीक माने जाते हैं तथा दस्युओं पर आर्यों के विजय प्रदान करने के कारण वे उनके प्रधान उपास्य देव समझे जाते हैं। बात है भी बिल्कुल ठीक। इन्द्र की अनुकंपा से आर्यगण अपने शत्रुओं की किलाबंदी ध्वस्त करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। ऐसे शौर्य-प्रधान देवता की स्तुति में कोमल रागात्मक संबंध की स्थापना का अभाव न्यायसंगत प्रतीत होता है, परंतु उपासकों ने इन्द्र के साथ बहुत ही स्निग्ध अंतरंग संबंध स्थापित किया है। इंद्र केवल पिता ही नहीं, प्रत्युत माता भी माने गये हैं—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ।
(ऋग्वेद ८।९८।११)

इंद्र उपासकों के सखा या पिता ही नहीं हैं, प्रत्युत पितरों में सर्वश्रेष्ठ भी हैं—

सखा पिता पितृतमः पितॄणां
कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ।
(वही, ४।१७।१७)

वामदेव गौतम ऋषि की अनुभूति है कि इंद्र में मित्रता, सहृदयता तथा भ्रातृभाव का इतना मनोरम आवास है कि कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इंद्र के इन गुणों की स्पृहा न रखेगा ? ऋग्वेद के सुंदर शब्द हैं—

को नानाम वचसा सोम्याय
मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं
को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥
(वही, ४।२५।२)

इन मंत्रों में भक्ति समान रागात्मक संबंध स्थापना की सूचना क्या नहीं है ?

किन्हीं किन्हीं सूक्तों में इतना अधिक अनुराग प्रदर्शित किया गया है कि वह शृंगार कोटि को भी स्पर्श कर रहा है। इन सूक्तों में शृंगारिक रहस्यवाद की कमनीय चारुता आलोचकों का चित्त हठात् चमत्कृत कर रही है। एक मंत्र में कृष्ण आंगिरस ऋषि कह रहे हैं कि जिस प्रकार जाया पति को आलिंगन करती है उसी प्रकार हमारी मति इंद्र को आलिंगन करती है—

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥
—ऋ० सं० १०।४३।१

दूसरे मंत्र में काक्षीवती घोषा अश्विनी कुमारों से पूछ रही है—हे अश्विनौ ! आप लोग रात को कहाँ निवास करते हैं ? किसने आप को अपने प्रेम में बाँध अपनी ओर खींच रखा है जिस प्रकार विधवा अपने देवर को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना
कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं
मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
—ऋ० सं० १०।४०।२

इन मंत्रों के अध्ययन से क्या किसी को संदेह रह सकता है कि स्तोता का हृदय भक्तिभाव से स्निग्ध तथा सिक्त था ?

भक्ति की भावना हमें सबसे अधिक मिलती है वरुण के सूक्तों में । वैदिक देवताओं में वरुण का स्थान सर्वतोभावेन मूर्धन्य है । वह विश्वतश्चक्षुः है अर्थात् सब ओर दृष्टि रखने वाला है । वह धृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादक) तथा सम्राट् है । वह सर्वज्ञ है—वह अंतरिक्ष में उड़नेवाली पक्षियों का मार्ग उसी प्रकार जानता

है जिस प्रकार वह समुद्र पर चलनेवाली नावों का[1]। स्तोता वरुण को दया तथा करुणा गुणों का निकेतन मानता है। वरुण सर्वज्ञ होने से मनुष्यों के अंतःकरण में होने वाले पापों को भली भाँति जानता है और इस लिए वह अपराधियों को दंड देता है तथा अपना अपराध स्वीकार कर प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्तियों को वह क्षमा प्रदान करता है। वह ऋत—मांगलिक व्यवस्था—का निर्माता तथा नियन्ता है। स्तोता का हृदय अपराध की भावना से द्रवीभूत हो जाता है और उनसे प्रार्थना करता है—

य आपिर्नित्यं वरुण प्रियः सन्
त्वामागांसि कृणवत् सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम
यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥
—ऋ० सं० ७।८८।६

[इस मन्त्र का आशय है कि मैं तुम्हारा नित्य आप्त प्रियजन हूँ। मैंने आपके प्रति अनेक पाप किये हैं। इन पापों को क्षमा कर मुझे अपनी मित्रता दीजिए। हे यक्षिन्! हे अद्भुत कर्मों के कर्ता, हमारे पापों को दूर कर दो जिससे अपराधी बन कर हम अपना भोजन न करें। तुम बुद्धिमान् हो, इस स्तुतिकर्ता को अनिष्ट निवारक वरणीय वस्तु प्रदान करो] इस स्तुति के भीतर स्तोता की रागात्मिका वृत्ति स्वतः प्रवाहित हो रही है। इस मंत्र को भक्त हृदय का मधुर उद्गार मानना क्या कथमपि अनुचित कहा

---

१ वेदा वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः।
—ऋ० सं० १।२५।७

जा सकता है? यह सख्य भक्ति का सुंदर दृष्टांत माना जा सकता है।

यह हुई मंत्रों में तटस्थरूप से भक्ति की सत्ता परंतु, प्राचीन आचार्यों की सम्मति में वेद के मंत्रों में साक्षात् रूप से भक्ति तत्त्व का समर्थन उपलब्ध होता है। शाण्डिल्य ने अपने भक्ति-सूत्र में कहा है—भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः (१।२।६)=भक्ति श्रुति से साक्षात् रूप से जानी जा सकती है। इसकी व्याख्या में नारायणतीर्थ ने भक्ति तथा उसके नवधा प्रकारों के प्रदर्शक मंत्रों का सव्याख्यान उद्धरण दिया है[1]। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥
—ऋ० सं० १।१५६।३

[इस मंत्र का आशय है—इस संसार के कारण-रूप (पूर्व्य) उस विष्णु की अपनी मति के अनुरूप स्तुति करो। वह वेदांत वाक्यों (ऋत) का प्रतिपाद्य है। उसकी स्तुति करने से जन्म की प्राप्ति नहीं होती। स्तुति असंभव होने पर उस विष्णु के नाम का ही कथन करो (अर्थात् नाम स्मरण करो)। हम लोग विष्णु के तेज तथा सर्वसाक्षी गुणातीत रूप की प्रेमलक्षण सेवा करते हैं] इस मत्र में भगवान् की स्तुति तथा नामस्मरण का स्पष्ट निर्देश है।

---

१ द्रष्टव्य भक्तिचंद्रिका पृ० ७७—८२ (सरस्वती भवन ग्रंथमाला संख्या ६, काशी १६२४)

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे
सुमज्जानये विष्णवे ददाशति ।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्
सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत् ॥
—ऋ० १।१५६।२

[अर्थात् जो पुरुष सबसे प्राचीन तथा नित्यनूतन, जगत् के स्रष्टा (वेधसे), स्वयं उत्पन्न होनेवाले अथवा समस्त संसार में मद उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मी के पति (सुमज्जानये[1]) विष्णु के लिए अपने द्रव्य को तथा स्वयं अपने आपको समर्पण करता है, जो महनीय (महतः) विष्णु के पूजनीय (महि) जन्म तथा उपलक्षणात् कर्म को कहता है—कीर्तन करता है, वह दाता तथा स्तोता कीर्ति अथवा अन्न (श्रवोभिः) से संपन्न होकर सब के गन्तव्य परमपद को अनुकूलता से प्राप्त कर लेता है]

यह श्रुति भगवान् के श्रवण, कीर्तन तथा भगवदर्पण का स्पष्ट प्रतिपादन करती है ।

ब्राह्मणयुग में भक्ति की भावना उपासना क्षेत्र में नितांत दृढ़ रूप से उपलब्ध होती है । ब्राह्मण ग्रंथों में कर्म-कांड की प्रधानता होते हुए भी भक्ति की भावना न्यून होती नहीं दीख पड़ती, प्रत्युत श्रद्धा की भावना से संपुटित होने पर हृदय की अनुरागात्मक प्रवृत्ति बढ़ती पर दृष्टिगोचर होती है । आरण्यकों

---

१ सुमज्जानये स्वयमेवोत्पन्नाय । सुमत् स्वयमिति यास्कः (निरुक्त ६।२२) यद्वा सुतरां मादयतीति सुमत् । तादृशी जाया यस्य स तथोक्तः । तस्मै सर्व-जगन्मादनशील-श्रीपतये इत्यर्थः ।

—सायणभाष्य

में बहिर्योग की अपेक्षा अंतर्योग को विशेष महत्त्व दिया गया है। चित्तवृत्ति-निरोधात्मक योग के विपुल प्रचार का यह युग है। इन दोनों से पुष्ट होकर भक्ति की प्रबलता की ओर साधकों का ध्यान स्वतः आकृष्ट हुआ। उपनिषद् ज्ञान-कांड के सब से श्रेष्ठ माननीय ग्रंथ हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं, परंतु उनमें भी भक्ति की गरिमा स्थान स्थान पर अंगीकृत की गई है।

कठोपनिषद् का अनुशीलन भक्ति के सिद्धांतों का स्पष्ट निदर्शक है। आत्मप्राप्ति के उपायों का वर्णन करते समय यह उपनिषद् बतला रही है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ॥
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥
—कठ १।२।२३

[यह आत्मा वेदाध्ययन द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है और न धारणा-शक्ति से और न अधिक श्रवण से ही प्राप्त हो सकता है। यह साधक जिस आत्मा का वरण करता है, उस आत्मा से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है] इस मंत्र का तात्पर्य है कि केवल आत्मलाभ के लिए ही प्राथना करनेवाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मा की उपलब्धि होती है। इस मंत्र में आत्मा के अनुग्रह की ओर गूढ़ संकेत है, परंतु दूसरे मंत्र में 'प्रसाद' अर्थात् अनुग्रह का सिद्धांत स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है—

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः[1] ॥
—कठ १।२।२०

अर्थात् निष्काम पुरुष जगत्कर्ता के प्रसाद से अपने आत्मा की महिमा देखता है और शोकरहित हो जाता है।

वैष्णव धर्म में 'प्रसाद' (दया, अनुग्रह) का यह सिद्धांत नितांत महत्त्वपूर्ण है। भगवान्‌के अनुग्रह से ही भक्त की कामना-वल्लरी पुष्पित तथा फलित होती है[2]। श्रीमद्भागवत में इसे 'पोषण' (पोषणं तदनुग्रहः—भागवत २।१०।४) का सिद्धांत कहते हैं और श्री वल्लभाचार्य का वैष्णव मत इसीलिए 'पुष्टि-मार्ग' के नाम से अभिहित किया जाता है। श्वेताश्वतर के अन्य मंत्र में तपस्या के प्रभाव के अतिरिक्त देवता के प्रसाद से श्वेताश्वतर ऋषि को सिद्धि मिलने का उल्लेख किया गया है (६।२१) इस उपनिषद् में भक्ति के सिद्धांत का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया गया है—

---

१ यह मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।२०) तथा महानारायण उपनिषद् में भी आया है। यहाँ शांकर भाष्य के अनुसार 'धातु-प्रसादात्' पाठ है, परंतु इन उपनिषदों में 'धातुः प्रसादात्' ही स्पष्ट पाठ है।

२ सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत् पुनरर्थता यतः ॥
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता—
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥
—भागवत ५।१९।२७

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

श्वेता० ६।२३

"जिस पुरुष को देवता में उत्कृष्ट भक्ति होती है तथा देव के समान गुरु में भी जिसको भक्ति होती है, उसी महात्मा को ये कहे गये अर्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं"। उपनिषत्-साहित्य में **'भक्ति'** शब्द का यह प्रथम प्रयोग माना जाता है। अवांतर वैष्णव दर्शन में गुरु की जो महिमा विशेष रूप से अंगीकृत की गई है उसी की सूचना इस मंत्र में दी गई है। वैष्णव मत में भक्ति की अपेक्षा प्रपत्ति का गौरव अधिक माना जाता है। प्रपत्ति में भगवान् ही उपेय हैं तथा उपाय भी वे ही हैं। भक्त को केवल उनके शरण में जाने की आवश्यकता मात्र रहती है। शरणापन्न होते ही भगवान् अपनी निर्मल दया के प्रभाव से उसका उद्धार संपन्न कर देते है। भक्त के लिए तदतिरिक्त कोई कार्य नहीं रहता। इस प्रपत्ति का सिद्धांत भी श्वेताश्वतर में स्पष्ट शब्दों में अंकित किया गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

—श्वेता० ६।१८

इस मंत्र में ब्रह्मा के भी निर्माण करने वाले तथा उनके निमित्त वेदों का आविर्भाव करनेवाले अपनी बुद्धि में प्रकाशित होनेवाले दीप्यमान भगवान् के शरण में जाने का निःसन्देह वर्णन है। श्रीमद्भगवद्गीता वैष्णव धर्म का नितांत माननीय

ग्रंथ है जिसमें भक्ति के तत्त्व का विशदीकरण किया गया है। भगवद्गीता इस विषय में कठ तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों के प्रति नितांत ऋणी है अथवा कहना चाहिए कि इन उपनिषदों के तथ्यों का संकलन गीता में किया गया है। इस समीक्षा से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति का सिद्धांत वैदिक है— वैदिक संहिता तथा उपनिषद् मे उसके रहस्य का प्रतिपादन है। ब्रह्म सर्वकाम, सत्यसंकल्प है। उसके 'प्रसाद' से ही साधक इस लोक के क्लेशों से अपना उद्धार पा सकता है। वैष्णव धर्म की यह मूल पीठिका वेद पर अवलंबित है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

इस विषय की ओर प्राचीन आचार्यों का भी ध्यान अवश्यमेव आकृष्ट हुआ था। महाभारत के टीकाकार नीलकंठ ने 'मंत्र रामायण' तथा 'मंत्र भागवत' लिखकर वेद में रामायण तथा भागवत के आख्यानों की सत्ता वैदिक मंत्रों के द्वारा प्रमाणित की है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ८७ अध्याय में वेद-स्तुति या श्रुति गीता का भी यही तात्पर्य है। वेदस्तुति का यही तात्पर्य है कि कर्म तथा ज्ञान के समान भक्ति का प्रतिपादन भी श्रुतियों को अभीष्ट है। इस पांडित्यपूर्ण स्तुति में अनेक मंत्रों का अभिप्राय भक्ति के विशदविवरण में दर्शाया गया है। अतः पुराणों के कर्ता वेदव्यास को भी यही अर्थ अभिलषित प्रतीत होता है। होना उचित हा है। वेद मंत्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा आर्ष दृष्टि से प्रत्यक्षीकृत सत्यों का अलौकिक भंडार है। वह भारतवर्ष के अवांतर काल में विकसित होनेवाले दार्शनिक मतों तथा धार्मिक संप्रदायों का बीज प्रस्तुत करता है। अतः श्रुति को कर्म तथा ज्ञान की उद्गम-भूमि होने के अतिरिक्त भक्ति की उद्गमस्थली होना सर्वथा उचित ही है। मन को वश

में करने से भगवद्भक्ति का उदय होता है और मन का वशीकार गुरु की कृपा से ही होता है। इस विषय में उपनिषद् की नाना श्रुतियों[1] का तात्पर्य वेदस्तुति के इस कमनीय श्लोक में है—

> विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
> य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
> व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
> वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥
>
> —भाग० १०।८७।३३

[हे अज, जिन्होंने गुरु के चरण को छोड़कर अपने इंद्रिय और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी वश में न होनेवाले अति चंचल मनरूपी घोड़े को वश में करने का यत्न करते हैं। वे उन उपायों से दुःख पाते हैं और इस संसार-समुद्र में ही पड़े हुए सैकड़ों दुःखों से वैसे ही व्याकुल रहते हैं जैसे जहाज से व्यापार करनेवाले लोग नदी-समुद्र आदि में मल्लाह के बिना दुःख पाते हैं] इस प्रकार वैदिक साहित्य की समीक्षा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि भक्ति का सिद्धांत वैदिक है तथा भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम काल से इस भारतभूमि पर प्रचलित तथा प्रसृत है।

---

१ गुरुतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियाँ—

(क) आचार्यवान् पुरुषो वेद ।—छान्दोग्य ६।१४।२

(ख) नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ॥ —कठ १।२।९

(ग) तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ —मुण्डक १।२।१२

४—विष्णु का स्वरूप

वैदिक देवताओं में विष्णु का स्थान पर्याप्तरूपेण महत्त्वपूर्ण है। वे द्युस्थान देवताओं में अर्थात् आकाश में रहने वाले देवों में अन्यतम हैं। ऋग्वेद में वर्णित चिन्हों से स्पष्ट है कि विष्णु सौर देवता हैं—सूर्य के ही अन्यतम प्रकार हैं। इनके नामकी निरुक्ति भी इसे ही प्रमाणित करती है। यास्क के अनुसार रश्मियों के द्वारा व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियों के द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण सूर्य 'विष्णु' के नाम से अभिहित होता है[1]। वैदिक संहिताओं में विष्णु के संबध में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है उनका तीन विक्रमों का ग्रहण करना अर्थात् तीन डगों को रखना। विष्णु ने अपने तीन डगों—पाद-विक्षेपों के भीतर समग्र संसार को माप लिया है (ऋ० १।१५४।२)। विष्णु की इस विशिष्टता का प्रतिपादक यह मंत्र नितान्त प्रसिद्ध है जो प्रत्येक संहिता में उपलब्ध होता है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्
समूढमस्य पांसुरे ॥

—ऋग् १।२२।१७

इसीलिए ये उरुगायः (विस्तीर्ण गतिवाला) तथा उरुक्रमः (विस्तीर्ण पादप्रक्षेपवाला) कहे गये हैं। इन तीन विक्रमों की प्राचीनकाल में दो प्रकार की व्याख्या प्रचलित थी। यास्क ने इस

---

१ अथ यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा—यास्क निरुक्त १२।१८

यदा रश्मिभिरतिशयेनायं व्याप्तो भवति, व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं सर्वम्, तदा विष्णुरादित्यो भवति—दुर्गाचार्य २।३

विषय में शाकपूणि तथा और्णवाभ नामक आचार्यों के मत का उल्लेख किया है। शाकपूणि के अनुसार (तथा अर्वाचीन संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों के अनुरूप) विष्णु के तीन क्रमका संबंध जगत् के तीन लोकों—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से है जो धीरे धीरे नीचे से ऊपर की ओर हैं। और्णवाभ के मंतव्यानुसार इन तीन डगों का संबंध सूर्य की दैनंदिन परिक्रमा के तीन स्थानों उदयस्थान, मध्य बिंदु तथा अन्तस्थान से है। परंतु यह व्याख्या वैदिक मंत्रों से विरुद्ध होने के कारण आदरास्पद नहीं प्रतीत होती है। विष्णु का तृतीय क्रम सबसे ऊँचा स्थान बतलाया गया है जहाँ से वह नीचे के लोक के ऊपर चमकता रहता है (परमं पदमव भाति भूरि, ऋ० १।१५४।६)। यही उनका प्रिय लोक है जिसकी प्राप्ति के लिए साधक की कामना संतत जागरूक रहती है। वहाँ उनके भक्त लोग आनन्द मनाया करते हैं। वह सबका सच्चा बंधु है। उसके परमपद में मधु का झरना (उत्स) वर्तमान है जिससे उसके भक्त आप्यायित रहते हैं। ऋग्वेद का कहना है विष्णु के परमपद को विद्वान् लोग सदा आकाश में वितत सूर्य के समान देखते हैं—

> तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
> दिवीव चक्षुराततम् (ऋग् १।२२।२०)

इस मंत्र का स्पष्ट अभिप्राय है कि विष्णु का तृतीय पद या परमपद आकाश में ऊँचे पर स्थित है। जिस प्रकार आकाश में रश्मियों को चारों ओर फैलानेवाला सूर्य चमकता है, उसी प्रकार यह परमपद भी उस ऊँचाई पर से चारों ओर चमकता है। ऋग्वेद का यह मंत्र ही स्वतः और्णवाभ की कल्पना की

पुष्टि न करके शाकपूणि के सिद्धांत को सिद्ध तथा प्रामाणिक बतला रहा है।

विष्णु वेद में एक बलरहित निर्बल देवता के रूप में चित्रित नहीं किये गये हैं। इंद्र के साथ उनकी गाढ़ मित्रता तथा सहवास से भी यह बात अनुमेय है कि वे भी इंद्र के समान ही वीर्यशाली तथा बलसंपन्न देवता हैं। इसके अतिरिक्त दीर्घतमा औचथ्य ऋषि ने विष्णु के तीन वीर्य या वीर्यपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया है—(१) उन्होंने पृथिवी के ऊपर विद्यमान लोकों का निर्माण किया है; (२) ऊर्ध्वलोक में विद्यमान आकाश को दृढ़ बनाया है। किसी युग में वह हिलता डुलता अस्थिरता का दृष्टांत बना हुआ था। विष्णु के प्रभाव स ही वह अपने स्थान पर दृढ़ तथा स्थिर बना हुआ है। (३) तीसरा पराक्रम है तीन डग रखना जिसका उल्लेख पहिले ही किया गया है। भयंकर पर्वत पर रहनेवाला (गिरिष्ठाः), स्वतंत्रता से विचरण करनेवाला (कुचरः) सिंह जिस प्रकार प्राणियों में अपने पराक्रम से प्रख्यात है उसी प्रकार विष्णु भी अपने पराक्रम के कारण ही मनुष्यों की स्तुति के पात्र हैं—

> प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण
>
> मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥
>
> (ऋग् १।१५४।२)

वेद में विष्णु का संबंध गायों के साथ विशेषरूप से दीख पड़ता है और यह परंपरा वैष्णव धर्म के इतिहास में सर्वत्र लक्षित होती है। काण्व मेधातिथि ऋषि की आध्यात्मिक अनुभूति है—विष्णुर्गोपा अदाभ्यः (ऋग्वेद १।२२।१८) अर्थात् विष्णु अजेय गोप हैं—ऐसे रक्षक हैं जिनका दम्भन या पराजय

कथमपि नहीं किया जा सकता। दीर्घतमा औचथ्य ऋषि की अनुभूति और भी स्पष्टतर है। उनका कथन है कि विष्णु के परम पद में या उच्चतम लोक में गायों का निवास है जो भूरिशृंगा—अनेक शृंगों को धारण करने वाली तथा 'अयासः'—नितांत चंचल हैं:—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः ॥
(ऋग् १।१५४।६)

भौतिक जगत् में 'भूरिशृंगा अयासः' गायें सूर्य की चंचल किरणें हैं जो आकाश में नाना दिशाओं को उद्भासित करती दीख पड़ती हैं। इन्हीं मंत्रों के आधार पर अवान्तर-कालीन वैष्णव मत के अनेक सिद्धांत अवलंबित हैं। विष्णु का सर्वोच्च पद 'गोलोक' कहलाता है जिसका वैष्णव ग्रंथों में बड़ा ही सांगोपांग वर्णन मिलता है।[1] गोपवेषधारी विष्णु भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, इसमें संदेह की गुंजायश नहीं। महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत में मेघ के विचित्र सौंदर्य की कल्पना के अवसर पर इस गोप-वेषधारी विष्णु का स्मरण किया है—

रत्नच्छाया-व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोप-वेषस्य विष्णोः ॥
—मेघ १।१५

---

१ द्रष्टव्य ब्रह्मसंहिता ३।२

विष्णु का संबंध इंद्र के साथ बड़ा घनिष्ठ है। अनेक मंत्रों में वे दोनों एक साथ ही प्रशंसित किये गये हैं। वृत्र के मारने के अवसर पर इंद्र विष्णु से प्रार्थना करते हैं कि वे अपने विक्रम को और भी अधिक बढ़ा दें। संहिता-काल में ही विष्णु का पद देव-मंडली में कम महत्त्वपूर्ण न था, इसका परिचय हमें एक अन्य घटना से भी मिलता है। एक मंत्र में वे गर्भ के रक्षक बतलाये गये हैं तथा अन्य देवों के साथ गर्भ की स्थिति तथा पुष्टि के लिए उनसे प्रार्थना की गई है। मानव-जीवन के संरक्षण में जो देवता नितांत समर्थ तथा कृतकार्य है, वह सोम-याग में विशेष महत्त्वपूर्ण न होने पर भी साधारण जीवन के लिए उपयोगी, गौरवशाली तथा लोकप्रिय अवश्य हैं; इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

ब्राह्मण-युग में विष्णु

ब्राह्मण-युग में यज्ञसंस्था का विपुल विकाश संपन्न हुआ और इस के साथ ही साथ देवमंडली में विष्णु का महत्त्व भी पूर्वापेक्षया अधिकतर हो गया। विष्णु की एकता यज्ञ के साथ की गई—**यज्ञो वै विष्णुः**। और इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि ऋत्विजों की दृष्टि में विष्णु समस्त देवताओं में श्रेष्ठ तथा पवित्रतम माने जाने लगे, क्योंकि इनकी मान्यता के अनुसार यज्ञ से बढ़कर पवित्र तथा श्रेयस्कर वस्तु अन्य होती ही नहीं। ऐतरेय ब्राह्मण[1] के आरंभ में ही अग्नि हीन (अवम) देवता माने गये हैं यथा विष्णु (परम) श्रेष्ठ देव स्वीकार किये गये हैं।

---

१ अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः—ऐतरेय ब्राह्मण १।१

इस युग में विष्णु के तीनों डगों का संबंध स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश से स्थापित किया गया और इनका अनुकरण यज्ञ में यजमान के द्वारा भी किया जाने लगा। यज्ञ में यजमान 'विष्णु क्रम' का अनुकरण कर तीन पगों को वेदी पर रखता है। इस प्रकार यज्ञात्मक विष्णु के साथ यजमान का ऐक्य-स्थापन ब्राह्मण ग्रंथ का अभिप्राय प्रतीत होता है। इस ग्रंथ में असुर से युद्ध के अवसर पर विष्णु के तीन क्रम रखने की कथा का उल्लेख है। विष्णु ने असुरों से पृथ्वी छीन कर इंद्र को दी। असुरों तथा इंद्र-विष्णु में लोकों के विभाजन के विषय में झगड़ा हुआ। असुरों ने कहा कि जितनी पृथ्वी विष्णु अपने तीन पगों के द्वारा ले सकते हैं, उतनी पृथ्वी इंद्र को मिलेगी। तब विष्णु ने अपने पगों से समग्र लोक, वेद तथा वाणी-इन तीनों को माप कर स्वायत्त कर लिया[1]। शतपथ ब्राह्मण का भी कथन इसी से मिलता-जुलता है। इस ब्राह्मण के अनुसार विष्णु ने अपने पैरों के रखने से देवताओं के लिए वह सर्वशक्तिमत्ता अर्जन कर दी जिसे वे धारण किये हुए हैं[2]। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु असुरों से पृथ्वी तथा सर्वशक्तिमत्ता छीननेवाले गौरवशाली देवता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

पुराणों में विष्णु के नाना अवतारों की कथा विस्तार से दी गई है। इन अवतारों के वैदिक आधार गवेषणा से उपलब्ध होते हैं।

---

१ इंद्रश्च विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते। ता ह जित्वोचतुः कल्यामहा इति। ते ह तथेत्यसुरा ऊचुः। सोऽब्रवीदिद्रो यावदेवायं विष्णुस्त्रिर्विक्रमते तावदस्माकं युष्माकमितरद् इति। स इमान् लोकान् विचक्रमेऽथो वेदान् अथो वाचम्। —ऐतरेय ब्राह्मण ६।३।१५

२ शतपथ ब्राह्मण १।६।३।६.

(१) वामन अवतार—विष्णु ने दैत्यों के राजा बलि से पृथ्वी छीनने के लिए वामन का रूप धारण किया तथा तीन डगों से समग्र जगत् को माप लिया। इस कथा का बीज हमें वैदिक ग्रंथों में उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि विष्णु ने वामन रूप ग्रहण कर तीनों लोकों को जीत लिया[१]। शतपथ ब्राह्मण में भी यह कथा आती है[२] कि असुरों ने देवों को जीतकर लोकों का विभाजन करना शुरु किया। यज्ञरूपी विष्णु के नेतृत्व में देवताओं ने उनसे इस विभाजन में अपना भी भाग माँगा। विष्णु को वामन के रूप में देख कर असुरों ने कहा कि जितनी भूमि पर वामन लेट सके, उतनी भूमि देवों को मिल सकेगी। इस पर वामन ने अपना लघु काय इतना बढ़ाया कि समग्र पृथ्वी उससे आक्रांत हो गई और पृथ्वी के ऊपर देवताओं का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

विष्णु के अन्य अवतारों की भी सूचना संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रंथों में यत्र तत्र उपलब्ध होती है—

(२) वराह अवतार—विष्णु के वराह रूप धारण करने की कथा का बीज शतपथ ब्राह्मण (१४।१।२।११) तथा तैत्तिरीय संहिता (७।१।५।१) में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने सोमपान कर एक शत महिषों को तथा क्षीरपाक को ग्रहण कर लिया जो वस्तुतः 'एमुष' नामक वराह की संपत्ति थे तथा इंद्र ने इस वराह को भी मार डाला[३]। तैत्तिरीय संहिता

---

१ तैत्तिरीय संहिता २।१।३।१.

२ शतपथ ब्राह्मण १।२।५।१.

३ विश्वेत् ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम् ॥
—ऋग् ८।७७। १०

में भी यह कथा आती है।[1] शतपथ ब्राह्मण ने इस वराह की कथा को किञ्चित् परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार इसी 'एमुष' नामक वराह ने जल के ऊपर रहने वाले पृथ्वी को ऊपर उठा लिया[2]। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार पृथ्वी को ऊपर उठानेवाला वराह प्रजापति का ही रूप था[3]। पुराणों में भी यही कथा है। अंतर इतना ही है कि यह वराह प्रजापति का रूप न होकर विष्णु का रूप बतलाया गया है।

(३) **मत्स्यावतार**—की कथा की सूचना शतपथ ब्राह्मण में मिलती है इस ब्राह्मण के अनुसार एक बार इतना बड़ा जलप्लावन आया कि समग्र संसार नष्ट हो गया, सारी सृष्टि विलीन हो गई। केवल एक विचित्र मछली ही बच रही जिसकी पूर्व सूचना पाने से महाराज मनु ने भी एक नाव में सृष्टि के समग्र बीजों को बचाकर रख उसे इस मछली में बाँध रखा। उन्होंने अपने प्राणों की रक्षा की तथा पानी घटने पर एक विशाल यज्ञ किया जिससे समग्र सृष्टि फिर से उत्पन्न हो गई। यह मत्स्य प्रजापति का रूप बतलाया गया है[4]।

(४) **कूर्मावतार**—की सूचना ब्राह्मणों में मिलती है। ब्राह्मण ग्रंथों[5] के अनुसार सृष्टि की आरंभिक दशा में प्रजापति ने जल के ऊपर कूर्म का रूप धारण कर प्रजा की सृष्टि की। यहां यह

---

१ तैत्तिरीय संहिता६।२।४।२।३.

२ शतपथ १४।१।२।११.

३ तैत्तिरीय संहिता ७।१।५।१.

४ शतपथ २।८।१।१.

५ शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५; जैमिनीय ब्राह्मण ३।२७२

कूर्म प्रजापति का रूप है। पुराणों में यही विष्णु का अवतार बन जाता है जिसने जलप्लावन से नष्ट हो जाने वाले पदार्थों का पुनरुद्धार किया।

इस विशाल ब्रह्मांड के भीतर विष्णु की अदम्य शक्तिमत्ता, अलौकिक प्रभाव तथा उपयोगिता समझने के लिए उनके वास्तव स्वरूप की समीक्षा नितांत आवश्यक है। विश्व में दो शक्तियां हैं—पोषक शक्ति तथा शोषक शक्ति, धनात्मक शक्ति तथा ऋणात्मक शक्ति। इस की वैदिक परिभाषा है—अग्निषोम, प्राण तथा रयि। जगत् के मूल में ही दोनों शक्तियाँ जागरूक रहती हैं। इन्हीं दोनों शक्तियों के नाना प्रभाव तथा उपबृंहण का सम्मिलित परिणाम वह वस्तु है जिसे हम जगत् के नाम से पुकारते हैं। इनमें से एक शक्ति पोषण करती है और दूसरी शक्ति शोषण करती है। इस अग्निषोमात्मक विश्व में अग्नि तत्त्व के प्रतिनिधि हैं रुद्र, तो सोमतत्त्व के प्रतीक हैं विष्णु।

भगवान् रुद्र का भौतिक आधार वस्तुतः अग्नि ही है। अग्नि के दृश्य तथा भौतिक आधार के ऊपर रुद्र की कल्पना वेद में की गई है। दोनों का साम्य बिल्कुल स्पष्ट तथा विशुद्ध है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है; अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिंग की कल्पना युक्तियुक्त रूप से की गई है। शिव की जलधारी अग्निवेदी का प्रतीक है। जिस प्रकार अग्नि वेदी पर जलते हैं, उसी प्रकार शिव-लिंग जलधारी के मध्य में रखा जाता है। अग्नि में घृत की आहुति के समान शिव का अभिषेक जल के द्वारा किया जाता है। शिव-भक्तों के भस्म धारण करने की प्रथा का रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है। भस्म अग्नि से उत्पन्न होता है और इस भस्म को शिव के अनुयायी उपासक अपने उत्तमांग में धारण करते हैं। अतः

साक्षात् रूप से दोनों रूपों की तुलना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रुद्र ही अग्नि के प्रतिनिधि हैं। इस विषय में वैदिक प्रमाणों का अभाव नहीं है। ऋग्वेद (२।१।६) का 'त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः' मंत्र डंके की चोट इस एकीकरण की ओर संकेत कर रहा है। अथर्व का मंत्र 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये (अथर्व (७।८३) इसी ओर इंगित कर रहा है। शतपथ ब्राह्मण रुद्र की आठों मूर्तियों को आठ भौतिक पदार्थों का प्रतिदिधि बतला रहा है जिनमें रुद्र अग्नि के साक्षात् प्रतिनिधि हैं—

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाहीकाः। पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्य अशान्तान्येवेतराणि नामानि। अग्निरित्येव शान्ततमम्।

—शतपथ १।७।३।८

इस प्रकार रुद्र अग्नि के प्रतीक ठहरते हैं।

विष्णु सोम के प्रतिनिधि हैं। जगत् का पोषक तत्त्व है सोम। सोम ही इस नील गगन के प्रांगण में विचरणशील चंद्रमा है। सोमही ओषधियों का शिरोमणि है पृथ्वी के प्रांगण में। सोम का रस निकाल कर अग्नि में हवन किया जाता है। ऋत्विग् तथा यजमान यज्ञ के प्रसाद रूप से इसी सोमरस का पान कर अलौकिक तृप्ति तथा संतोष का अनुभव करते हैं। सोमरस के पान का फल है अमृतत्व की प्राप्ति, ज्योति की उपलब्धि तथा देवत्व का ज्ञान। प्रमाथ काण्व ऋषि इस प्रख्यात मंत्र के द्वारा अपनी अनुभूति को वर्णमय विग्रह पहना रहे हैं—

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

(ऋग् ८।४८।३)

सोम ही अमृत के सूक्ष्म बिंदुओं की वर्षा कर ओषधियों को पुष्ट करता है। सोम ही सुधा के द्वारा देव तथा पितर दोनों समुदायों का आप्यायन करता है। इसीलिए वैदिक ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार पिता पुत्र के प्रति दयालु होता है तथा सखा मित्र के लिए मैत्रीभाव प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार आप भी हमारे ऊपर करुणा तथा मैत्री की वर्षा कीजिए और हमारे जीवन के निमित्त हमारी आयु का विस्तार कीजिए—

> शंभो भव हृद आपीत इन्दो
> पितेव सोम सूनवे सुशेवः।
> सखेव सख्य उरुशंस धीरः
> प्र ण आयुर्जीवसे सोम तारीः॥
> (ऋग् ८।४८।४)

इस प्रकार इस विश्व में पोषक तत्व है सोम। भगवान् विष्णु इसी सोम का प्रतिनिधित्व करते हैं। पोषक तत्त्व मात्रा में सर्वदा स्वल्पकाय होता है। वह बढ़ते बढ़ते समग्र शरीर को व्याप्त कर लेता है जिससे उसकी सत्ता का अनुभव उस शरीर के प्रत्येक अंग में, प्रत्येक अवयव में अनुभवकर्ता को भली भाँति लग सकता है। स्वल्पता के गुरुता में परिणत होने में विलंब नहीं लगता। उपयुक्त पात्र में आहित होने पर इस तत्त्व की आकस्मिक वृद्धि तथा विकास में तनिक भी देर नहीं लगती। इसी सिद्धांत का प्रतिपादक है विष्णु का वामन रूप। वामनो वै विष्णुरास—इस ब्राह्मण वाक्य का आध्यात्मिक अर्थ यही है कि जो स्वल्पकाय है वही बृहत्तर काय में परिणत हो जाता है। जगत् का पोषक तत्त्व मात्रा में कितना भी छोटा क्यों न हो, वह अपनी वृद्धि के अवसर पर समग्र विश्व को व्याप्त कर

लेता है। अपने पराक्रम से अनुस्यूत होकर अपने रूप का विस्तार कर लेता है। विष्णु के मोहिनी रूप धारण करने का भी रहस्य इसी तथ्य में अंतर्निहित है। देवताओं को अमृत पिलाने में विष्णु का ही हाथ था। उनके अभाव में तो यह असुरों की संपत्ति बन गया रहता। विष्णु की सुधापान कराने की कथा का संकेत सोम के द्वारा अमृत पान करने की ओर है। तंत्रसाधना से परिचित विद्वान् भली भाँति जानते हैं कि राम ही तारा के रूप में परिणत होते हैं तथा कृष्ण काली का रूप धारण करते हैं। ये सब प्रमाण विष्णु के पोषक तत्त्व अथवा सोमतत्त्व के प्रतीक होने के सिद्धांत के प्रबल पोषक हैं।

सोमसंबद्ध देवता की सौर देवता के रूप में परिणति पाने का कारण उतना दुरूह नहीं है। सोम का प्रकाश सूर्य के किरणों के प्रसरण का परिणाम है। इसीलिए सोम सूर्य-मंडल का निवासी भी कहा जाता है। महाकवि कालिदास का कथन है—

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान् पितॄंश्च।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते॥

—विक्रमोर्वशीय ३।७

इस प्रकार सोमतत्त्व के प्रतीकभूत विष्णु को सौर देवता के रूप में ग्रहण करना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनों देवताओं में विष्णु को जगत् का पालक माननेवाले पुराण भी इसी वैदिक सिद्धांत की पर्याप्त मात्रा में पुष्टि करते हैं।

—❀—

(३)

तंत्र में विष्णु

नास्ति तस्मात् परतरः पुरुषाद् वै सनातनात् ।
नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् ॥
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ।
सर्वभूतात्मकभूतो हि वासुदेवो महाबलः ॥

—शान्तिपर्व अ० ३३९, श्लो० ३१-३२ ।

१—भक्ति का प्रथम उत्थान

ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा करने पर हम भक्ति-आंदोलन को तीन युग या तीन उत्थान में विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्रथम उत्थान—१५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० तक.

यह युग सात्त्वतों के उदय से लेकर गुप्त नरेशों के अभ्युदय काल तक फैला हुआ है। भागवत धर्म के उदय की लीला-स्थली है भगवान् कृष्णचंद्र का लीला-निकेतन वृंदावन तथा मथुरा-मण्डल। कृष्ण यादव-वंशीय या सात्त्वत वंशीय क्षत्रियों में उत्पन्न हुये थे। भागवत धर्म का उदय इसी क्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। चारों व्यूहों का नामकरण यादव वंश के महनीय पुरुषों के नाम के ऊपर किया गया है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—ये चतुर्व्यूह कृष्ण, उनके ज्येष्ठ भ्राता, पुत्र तथा पौत्र के नाम पर क्रमशः अवलंबित हैं। कालांतर में यह सात्त्वत वंश शूरसेन-मण्डल से हटकर दक्षिण तथा पश्चिमी की ओर अपना उपनिवेश बनाकर रहने लगता है। इस स्थिति का परिचय हमें ऐतरेय ब्राह्मण से चलता है जिसके ऐंद्र महाभिषेक पर्व में सात्त्वत लोग दक्षिण देश के निवासी बतलाये गये हैं। सात्त्वतों के द्वारा ही यह धर्म उत्तर भारत से दक्षिण भारत में पहुँचता है। सात्त्वत लोग उत्तर तथा दक्षिण भारत को एक सूत्र में गठित करने वाली शृंखला हैं जिसका परिचय भागवत धर्म के विकाश को समझाने का सुलभ माध्यम है।

महाभारत का नारायणीय पर्व इसी उत्थान के आरंभिक युग से संबंध रखता है। शैशुनाग तथा मौर्यवंशी राजाओं के पतन के अनंतर शुंगवंशी राजवंश ब्राह्मण ही नहीं था, प्रत्युत वैष्णव धर्म का परम-उन्नायक था। इसी वश के राज्यकाल में मध्यभारत तथा पश्चिमी भारत में वैष्णवधर्म का विशेष अभ्युदय हमें उपलब्ध होता है। बेसनगर (वर्तमान भिलसा) में गरुड़स्तंभ का संस्थापक यूनानी राजदूत हेलियोदोर (हेलियोडोरस) परम भागवत था तथा वह शुंगवंशीय नरपति भद्रक (या भागभद्र) के राज्यकाल में दूत बनकर आया था। चित्तौरगढ़ के समीप 'नगरी' के पास स्थित घोसुंडी का वैष्णव शिलालेख इसी युग से संबंध रखता है। ईस्वी सन् का चतुर्थ तथा पंचम शतक वैष्णव धर्म के इतिहास में सुवर्णयुग माना जाना चाहिए, क्योंकि इसी काल में परम-भागवत गुप्त नरपतियों ने वैष्णव धर्म की ध्वजा परम उन्नत की। गुप्त नरेश वैष्णव धर्म के विशेष उन्नायक थे और इसीलिए उन्होंने 'परम भागवत' की उपाधि धारण की थी। पांचरात्र संहिताओं—जैसे अहिर्बुध्न्य, परम संहिता, सात्त्वत संहिता आदि—की निर्मिति इस युग में संपन्न हुई। वैष्णव धर्म के राष्ट्रधर्म होने के कारण ज्ञात होता है कि इस काल में वैष्णव मत से सम्बद्ध पांचरात्र संहिताओं की रचना आरंभ होती है। प्राचीन तथा मान्य संहिताओं के जन्म का कारण यही वैष्णव युग है।

—❀—

भागवत या पाञ्चरात्र मत

नमः सकल-कल्याणदायिने चक्रपाणये ।
विषयार्णवमग्नानां समुद्धरण–हेतवे ॥
—जयाख्य संहिता ।

वैष्णव धर्म की प्राचीनतम संज्ञा **भागवत धर्म** तथा **पाञ्चरात्र मत** है। षट् ऐश्वर्य से संपन्न होने के कारण विष्णु ही 'भगवत्' शब्द से अभिहित किए जाते हैं और उनकी भक्ति करने वाले साधक 'भागवत' कहलाते हैं। विष्णु भक्तों के द्वारा उपास्य धर्म होने के कारण यह धर्म कहलाता है—भागवत-धर्म। पाञ्च-रात्र' शब्द की मीमांसा आगे चलकर की जावेगी। विचारणीय प्रश्न है कि इस भागवत-धर्म का उदय इस भारत-भूमि पर कब संपन्न हुआ ? समग्र देवमंडली से अलग हटाकर विष्णु को एक विशिष्ट संप्रदाय का उपास्य तथा आराध्य देव कब बनाया गया ? प्रश्न ऐतिहासिक है और ऐतिहासिक पद्धति से ही उसका विवेचन औचित्यपूर्ण है।

२—विष्णु भक्ति की प्राचीनता

पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखनेवाले पतंजलि का आविर्भाव काल विक्रमपूर्व द्वितीय शतक है और उस युग में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भागवत-धर्म का उदय संपन्न हो चुका था। उन्होंने कंसबध तथा बलिबंधन नामक नाटकों के अभिनय का उल्लेख किया है जिनमें विष्णु ने कृष्ण रूप से अवतीर्ण होकर कंस का बध किया था तथा दैत्यराज बलि को बाँधकर पाताल भेज दिया था। 'अयः शूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ (५।२।७६) के भाष्य में पतंजलि ने 'शिव भागवत'

नामक शैव मत का उल्लेख किया है।[१] इस मत के अनुयायी अपने हाथ में लोहे का त्रिशूल धारण किया करते थे। पतंजलि के कथन का सारांश है कि इस सूत्र में 'अयःशूल' पद का सामान्य अर्थ अभीष्ट नहीं है, नहीं तो 'शिवभागवत' को भी अयःशूल (लोहे का बना शूल) धारण करने के कारण 'आयःशूलिक' कहना पड़ेगा। 'शिव भागवत' शब्द बड़े ही महत्त्व का है। 'भागवत' तो भगवान् के भक्त की ही संज्ञा है और निश्चयपूर्वक 'भगवत्' शब्द 'विष्णु' के लिए व्यवहृत होता है। उस समय विष्णु-भक्तों का संप्रदाय इतना लब्ध-प्रतिष्ठ, लोकप्रिय तथा प्रख्यात हो गया था कि शिव का उपासक अपने लिए भी इसी शब्द के प्रयोग करने में अग्रसर होता है। केवल अपनी विशिष्टता सूचित करने के लिए 'भागवत' के आगे 'शिव' शब्द का प्रयोग कर लेता है। अतः द्वितीय शतक पूर्व में भागवतों की विपुल ख्याति सिद्ध होती है।

इस समय के शिलालेखों से भी इसी मत की पुष्टि होती है।[२] नानाघाट के गुहाभिलेख (प्रथम शतक ईसा पूर्व) के मंगल श्लोक में अन्य देवताओं के साथ संकर्षण तथा वासुदेव का भी नाम उल्लिखित किया गया है। पराशरी-पुत्र राजा सर्वतात ने, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था, भगवान् संकर्षण तथा वासुदेव के उपासना मन्दिर के लिए 'पूजाशिला-प्राकार' का निर्माण कराया था। इसका पता हमें घोसूण्डी (चित्तौड़गढ़ के समीप

---

१ किं योऽयःशूलेनान्विच्छति स आयः शूलिकः। किं चातः—शिव-भागवते ऽपि प्राप्नोति। एवं तर्हि उत्तरपद लोपोऽत्र द्रष्टव्यः॥

—५।२।७६ भाष्य

२ द्रष्टव्य भंडारकर—'वैष्णविजम, शैविज़म' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ पृ० ४-५

नगरी के पास) के शिलालेख से भली भाँति लगता है। यह राजा सर्वतात कण्ववंशी माना जाता है और इसलिए इसका समय ईस्वी पूर्व प्रथम शतक से घटकर नहीं हो सकता[1]।

इससे अधिकमहत्त्वपूर्ण है वेसनगर का शिलालेख(२०० ई०पू०) जो भागवत-धर्म की उदारता तथा प्राचीनता दिखलाने में नितांत उपयोगी है। इस शिलालेख का कहना है कि 'हेलियोडोरा' ने देवाधिदेव वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरुड़स्तंभ का निर्माण किया। हेलियोडोरस् अपने को भागवत कहता है। वह 'दिय' का पुत्र था, तक्षशिला का निवासी था तथा वह राजा भागभद्र के दरबार में अंतलिकित (इंडो-बैक्ट्रियन राजा एण्टिअलकिडास) नामक यवन राजा का दूत बनकर रहता था। इस शिलालेख का निष्कर्ष यह है कि उस समय 'वासुदेव' देवताओं के भी देवता माने जाते थे तथा उनके अनुयायी 'भागवत' नाम से विख्यात थे। भागवत धर्म भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश में भी फैला हुआ था और यूनानी लोगों के द्वारा भी वह स्वीकृत किया गया था। यह भागवत के औदार्य तथा व्यापकता का पर्याप्त सूचक है।

मथुरा में जब शक-क्षत्रपों का शासन काल था, तब वैष्णव धर्म का इस मण्डल में विशेष अभ्युत्थान हुआ था। इसका पता महाक्षत्रप शोडाश (ई० पू० ८० से ई० पू० ५७) के

---

१ लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित बलराम की जो द्विभुजी प्रतिमा—दाहिने हाथ में मूसल तथा बायें में हल से युक्त—उपलब्ध होती है वह ईस्वी पूर्व द्वितीय शती की है और अब तक उपलब्ध ब्राह्मण धर्म संबंधी मूर्तियों में प्राचीनतम है। यह संकर्षण की उपासना की प्राचीनता दिखलाती है और पाणिनि का समर्थन करती है।

समकालीन एक शिलालेख से चलता है जिसमें लिखा है कि वसु नामक व्यक्ति ने महास्थान (जन्मस्थान) में भगवान वासुदेव का एक चतुःशाला मन्दिर, तोरण तथा वेदिका (चौकी) की स्थापना की थी। मथुरा में कृष्णमन्दिर के निर्माण का यह प्रथम उल्लेख है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुशीलन से हमें यह संप्रदाय उनसे भी प्रचीनतर प्रतीत होता है। पाणिनि ने 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' (४।३।९८) सूत्र से वासुदेव की भक्ति करनेवाले व्यक्ति के अर्थ में वुन् प्रत्यय का विधान किया है। वासुदेव का भक्ति करनेवाला पुरुष (वासुदेवः भक्तिरस्य) 'वासुदेवक' कहलाता है। इस सूत्र के महाभाष्य की समीक्षा यही बतलाती है कि वहाँ वासुदेव शब्द से अभिप्राय भगवान् परमेश्वर से ही है, यादव-कुल में क्षत्रिय वसुदेव के पुत्र वासुदेव से नहीं। पतंजलि का प्रश्न है कि 'वासुदेव' से इस सूत्र में वुन् विधान करने की आवश्यकता ही क्या है ? 'वसुदेवस्यापत्यं पुमान् वासुदेवः' इस अर्थ में वृष्णिकुल में उत्पन्न वसुदेव के पुत्र होने से 'ऋष्यंधक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च (४।१।११४) सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर 'वासुदेव' बनता है। अनंतर 'गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ् (४।३।९९) इस अगले सूत्र से गोत्रवाची तथा क्षत्रियवाची होने से वुञ् प्रत्यय होने पर 'वासुदेवक' पद बन ही जाता। तब इस सूत्र में 'वासुदेव' पद ग्रहण करने की क्या आवश्यकता ? वुन् तथा वुञ् दोनों प्रत्ययों के योग से एक ही रूप बनता है और एक ही स्वर रहता है। पतंजलि ने इस शंका का समाधान दो प्रकार से किया है—(१) द्वंद्व समास में जो नाम अधिक प्रतिष्ठित तथा समादृत होता है उसे प्रथम स्थान देते हैं (अभ्यर्हितस्य पूर्व-निपातः)

इसकी सूचना देने के लिए सूत्र में इस शब्द का ग्रहण किया गया है। अवश्य ही अर्जुन की अपेक्षा वासुदेव विशेष समादरणीय तथा माननीय हैं। एक प्रयोजन तो यही है। (२) दूसरा प्रयोजन भी है। यह क्षत्रिय की संज्ञा नहीं है, प्रत्युत यह श्रद्धास्पद भगवान् की संज्ञा है।[1] अतः पतंजलि इस सूत्र में निर्दिष्ट 'वासुदेव' को साक्षात् भगवान् ही मानते हैं और इस अर्थ में समग्र वैयाकरण आचार्यों की एक ही सम्मति है। कैयट का कथन है कि यहाँ नित्य परमात्मा देवता ही 'वासुदेव' शब्द से ग्रहण किया जाता है।[2] काशिका का भी यही कथन है—संज्ञषा देवता-विशेषस्य, न क्षत्रियाख्या[3]। तत्त्वबोधिनीकार भी यही बात कहते हैं।[4] इस परीक्षा से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि पाणिनि के समय में 'भागवत' संप्रदाय की उत्पत्ति अवश्यमेव हो चुकी थी। पाणिनि के काल-निरूपण में विद्वानों

---

१ महाभाष्य की कई प्रतियों में 'संज्ञैषा तत्र भगवतः' के स्थान पर पाठ मिलता है—संज्ञैषा तत्र भवतः'। इस पाठ भेद से सिद्धांत को हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि 'तत्रभवान्' आदरणीय देवताओं के लिए भी शतशः प्रयुक्त किया जाता था, मनुष्य के ही लिए नहीं। अतः कैयट-संमत देवता-विशेष अर्थ सर्वथा माननीय है।

२ नित्यः परमात्मदेवताविशेष इह वासुदेवो गृह्यते इत्यर्थः।

कैयट—(४।३।९८)

३ काशिका—वही सूत्र, पृ० २४३ (काशी संस्करण)

४ "सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते॥"
इति स्मृतेः वासुदेवः परमात्मा एव।—तत्त्वबोधिनी

में पर्याप्त मतभेद है, परंतु ईसा-पूर्व षष्ठ शतक से नीचे इनका आविर्भावकाल नहीं माना जा सकता। इस प्रकार ईसापूर्व षष्ठ शतक से पूर्व ही वैष्णवमत का उदय तथा प्रचलन हो चुका था। ऐसी दशा में ईस्वी-पूर्व चतुर्थ शतक में चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजदूत मेगास्थनीज के द्वारा वासुदेव-कृष्ण के सात्त्वत मत का परिचय कोई आश्चर्य की बात नहीं प्रतीत होता। उसका कहना है कि 'सौरसेनाई' नामक भारतीय जाति 'हेरेक्लीज' का विशेष रूप से पूजन करती थी। इस जाति के देश में 'मेथोरा (Methora) तथा क्लीसोबोरा (Kleisobora) नामक दो विख्यात नगर हैं जिनसे होकर जोबेरीज़ (Joberes) नदी बहती है। यहाँ स्पष्ट ही यमुना के तीरस्थ मथुरा तथा कृष्णपुर (?) के निवासी शौरसेन यादवों के द्वारा वीराग्रगण्य कृष्ण की पूजा की ओर अविस्मरणीय संकेत प्रतीत होता है। शौरसेन-मंडल के यादवों के द्वारा भागवत मत का विशेष प्रचार हुआ; इस यूनानी उल्लेख से यही निष्कर्ष निकलता है।

भागवत संप्रदाय के उपास्य देव 'वासुदेव' का नाम पाणिनि से पहिले वैदिक साहित्य में भी एक बार आया है। तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठक में विष्णुगायत्री दी गई है—

> नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि।
> तन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ॥

इस विष्णुगायत्री में स्पष्ट ही विष्णु की एकता नारायण तथा वासुदेव से की गई है। वैष्णव तंत्रों में अन्यतम पद्मतंत्र में 'भागवत संप्रदाय' के अनेक पर्यायों में 'एकांतिक' पर्याय बड़े महत्त्व का है। भागवत धर्म ही 'सात्त्वत', 'एकांतिक' तथा

'पंचरात्र' नाम से भी विख्यात था[1]। महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' में पंचरात्र संप्रदाय का वर्णन बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। यह उपाख्यान शांतिपर्व का अंतिम उपाख्यान है। जब महर्षि नारद को इस मत के सिद्धांतों के जानने की इच्छा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने भारतवर्ष के उत्तर में वर्तमान श्वेतद्वीप में जाकर नारायण ऋषि से इसके सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त किया तथा लौट कर इस देश में इसका प्रथम प्रचार किया। पांचरात्र ग्रंथों का कहना है कि भागवत-धर्म वेद से ही संबद्ध है। पांचरात्र का संबंध वेद की 'एकायन' शाखा से है[2]। छांदोग्य उपनिषद् में 'एकायन' विद्या का उल्लेख तो है, परंतु इसके विवेच्य विषयों का निर्देश नहीं है।[3] अतः कहा नहीं जा सकता कि इस 'एकायन' विद्या के अंतर्गत किस संप्रदाय या किस सिद्धांत का ग्रहण इस उपनिषद् को अभीष्ट है, परंतु ध्यान देने की बात है कि उपनिषद् में 'एकायन विद्या' का संबध परम भागवत नारद जी के साथ है तथा महाभारत में भी नारद ही

---

१ सूरिः सुहृद् भागवतः सात्त्वतः पञ्चकालवित्।
एकान्तिकस्तन्मयश्च पञ्चरात्रिक इत्यपि ॥

—पाद्म तंत्र ४।२।८८

२ एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि।

—ईश्वरसंहिता १।४३

वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम्।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम्।

—श्री प्रश्नसंहिता

३ ऋग्वेदं भगवो ऽध्येमि यजुर्वेदं......वाकोवाक्यमेकायनम्

—छान्दोग्य उप० ७।१।२

पांचरात्र विद्या के उपासक तथा प्रचारक बतलाये गये हैं। 'ईश्वर संहिता' में वैष्णव संप्रदाय को 'एकायन' कहने का यह अभिप्राय बतलाया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए यही एकमात्र 'अयन', उपाय या साधन है—

मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

—ईश्वरसंहिता १।१८

यदि छांदोग्य उपनिषद् में निर्दिष्ट एकायन विद्या का यही अभिप्राय हो, तो बिना किसी संदेह के यह वैष्णव मत उपनिषद्-कालीन सिद्ध हो जाता है। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस मत की उत्पत्ति पाणिनि (षष्ठ शतक) से बहुत ही पहिले हो चुकी थी।

—*—

२—पाञ्चरात्र का उदयकाल

पांचरात्र मत की उत्पत्ति भारतवर्ष में किस समय हुई? यह प्रश्न अभी तक उचित रूप से निर्णीत नहीं हुआ है। पाणिनि के उपरिनिर्दिष्ट उल्लेख से इतना तो निश्चित पता चलता है कि उनके समय में, ईसा-पूर्व षष्ठ शतक में, वासुदेव के उपासकों का अस्तित्व विद्यमान था और वे 'वासुदेवक' नाम से अभिहित किये जाते थे। पाञ्चरात्र मत का विशिष्ट निरूपण महाभारत के शांति पर्व के नारायणीयोपाख्यान में (३३४ अध्याय—३५१ अध्याय) किया गया है। यह नारायणीयपर्व शांति-पर्व का अंतिम पर्व है जिससे महाभारत में इस धर्म का विशिष्ट तथा बृंहित

विवरण दिया गया है। इस पर्व के अध्ययन से पता चलता है कि महर्षि नारद के मन में पाञ्चरात्र मत के रहस्यों की जब जिज्ञासा जागरूक हुई, तब वे भारतवर्ष के उत्तर में स्थित श्वेतद्वीप में गये। यहाँ के निवासियों का रंग श्वेत था, वे दिव्य प्रभा-पुंज से चमक रहे थे तथा नारायण के एकांत उपासक थे। नारद जी की संतत प्रार्थना करने पर नारायण प्रकट हुए और उन्होंने ही इस विशिष्ट मत का रहस्य नारद जी को बतलाया। यह 'श्वेतद्वीप' कहाँ है ? इसके विषय में भी पाश्चात्य विद्वानों की विलक्षण कल्पनायें हैं। इनका कहना है कि श्वेतद्वीप भारत के उत्तर में बैक्ट्रिया देश के ईसाई मत के अनुयायी श्वेताङ्ग व्यक्तियों का उपनिवेश प्रतीत होता है जहाँ वे पेलेस्टाइन देश से आकर अपने ईसाई धर्म के प्रचार में संलग्न थे। भक्ति-शास्त्र का आरंभ ईसा मसीह के उपदेशों से ही होता है और इसी मत के अनुयायियों से सबसे पहिले नारद जी ने भक्ति का रहस्य सीखा और तदनंतर भारतवर्ष में उसका प्रचार किया। इस प्रकार इन पाश्चात्य समीक्षकों की सम्मति में भारतवर्ष में भक्ति-मार्ग का उद्गम ईसाई मत के प्रबल प्रभाव के ही कारण संपन्न हुआ था।[1] परंतु यह एकपक्षीय मत नितांत निराधार तथा सर्वथा उपेक्षणीय है। हमने प्रथम परिच्छेद में सप्रमाण दिखलाया है कि भक्तिपंथ के उदय के बीज वैदिक साहित्य में पूर्णमात्रा में विद्यमान थे और वहीं से मूल कल्पना का आश्रय लेकर नाना-भक्ति-मार्गीय पंथों का उदय इस भारतवर्ष में संपन्न होता रहा है। वैष्णव संप्रदाय की उत्पत्ति का भी

---

१ डा० ग्रीयर्सन—भक्तिमार्ग (इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स भा० २)

यही रहस्य है। अतः यह सम्प्रदाय नारायणीय पर्वसे संपन्न शांति-पर्व की रचनासे पूर्व का है। परंतु शाति-पर्व-संवलित महाभारत की रचना का समय विद्वानों की दृष्टि में एकाकार नहीं है। डाक्टर विण्टरनिट्ज के मत में वर्तमान महाभारत की रचना का काल ईसापूर्व चतुर्थ शतक से लेकर ईसा-पश्चात् चतुर्थ शतक है।[१] इसके विपरीत भारतीय विद्वानों के मत हैं। डा० एस० के आयङ्गयार के मत से नारायणीय पर्व की रचना बुद्ध के जन्म षष्ठ शतक ईसा-पूर्व से भी प्राचीन काल में हुई।[२] डा० रामकृष्ण भंडारकर की सम्मति है[3] कि नारायणीय पर्व की रचना बुद्धपूर्व युग की घटना है तथा साथ ही साथ वे यह भी मानते हैं कि भगवद्गीता में जिस भागवत-धर्म का प्रथम विवरण प्रस्तुत किया गया था उसी का उपबृंहण नारायणीय पर्व में किया गया है। चिंतामणि वैद्य के मत में भगवद्गीता वैशम्पायन के भारत (जो महाभारत के वर्तमान विशालकाय रूप से प्राचीनतर है) का एक अंश थी तथा नारायणीय पर्व की रचना के समय तक उसको विपुल प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त हो चुका था। नारायणीय गीता के पीछे की रचना है क्योंकि इसमें गीता का निर्देश बड़े आदर के साथ किया गया है[४]। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

---

१ History of Indian Literature Vol. I p, 465—p. 475.

२ Proceedings of the Second Oriental Conference, Calcutta p. 353.

३ Bhandarkar—Vaisnavism Shaivism etc p.8, 12, 26

४ Vaidya-History of Sansrit literature p.38.41.

की सम्मति में भगवद्गीता मूल महाभारत का ही अंश है और उसकी रचना ईसा-पूर्व षष्ठ शतक से कथमपि अर्वाचीन नहीं है।[1]

—:※:—

३—सात्त्वतों का परिचय

पाञ्चरात्र मत का नामांतर सात्त्वत मत है जो ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। विष्णुसहस्रनाम के एक भाष्यकार ने तो सात्त्वत पद से भागवत मतानुयायियों का सामान्य अर्थ ही व्युत्पत्ति के द्वारा निकाला है, परंतु मान्य ऐतिहासिकों की दृष्टि में उत्तर भारत के शूरसेन मंडल में निवास करनेवाली क्षत्रिय जाति ही सात्त्वत नाम से अभिहित की जाती थी। वैष्णव मत के प्रचार में इस सात्त्वत क्षत्रिय वंश का बड़ा ही विशिष्ट हाथ रहा है। इसी वंश में वैष्णव मत का विशिष्ट प्रचार हुआ था और इसी कारण यह मत 'सात्त्वत मत' के अभिधान से प्रतिष्ठित किया गया। सात्त्वत लोग यादववंशी क्षत्रिय थे जिनमें कृष्णचंद्र का जन्म हुआ था। ये लोग जहाँ गये वहीं अपने मत का प्रचार करते रहे।[2] मागध जरासंध के नेतृत्व में प्राच्य नरेशों ने सात्त्वतों के ऊपर जो विशाल आक्रमण किया उससे अपनी रक्षा करने के निमित्त ये लोग शूरसेन देश छोड़कर भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर जाकर बस गये और यहीं से ये विदर्भ, मैसूर तथा सुदूर द्रविड़ देशों में भी अपना उपनिवेश बनाते रहे।

---

१ तिलकः गीतारहस्य (परिशिष्ट भाग) पृष्ठ ५११–५२५

२ Dr. S. K. Aiyanger: Sattvatas (Proceedings of the Second Oriental Conference, Calcutta, 1923, p. 353)

द्रविड़ देश में पाञ्चरात्र संप्रदाय के प्रचार का कारण सात्वतों का आगमन ही था। द्रविड़ इतिहास के विशेषज्ञ डाक्टर कृष्णस्वामी आयंगार का कहना है कि द्रविड़ देश के अनेक नरेश अपना वंश संबंध सात्वत-वंशीय कृष्णचंद्र के साथ जोड़ते हैं। पूर्वोत्तर महीशूर पर राज्य करनेवाला 'इरुन गोवेड़' नामक तमिळ सरदार अपने को द्वारिका के कृष्ण की ४६ वीं पीढ़ी में बतलाता है।[१] एतादृश प्रमाणों के बल पर आयंगार महोदय का कहना है कि सात्वत-वंशी क्षत्रियों के संबंध से ही द्रविड़ देश में वैष्णव-धर्म का इतना प्राबल्य रहा। पाञ्चरात्र मत की उत्पत्ति तो हुई उत्तर भारत में और विशेषत: व्रजमंडल में, परंतु इन सात्वतों के सदुद्योग तथा सत्प्रभाव से इसका प्रचार दक्षिण भारत के सुदूर दक्षिणी प्रांत द्रविड़ देश में हुआ। यह सिद्धांत बड़े ही महत्त्व का है और यह उन पश्चिमी विद्वानों का मुँहतोड़ उत्तर है जो भक्ति को दक्षिण भारत में ही दशम शतक के आसपास उत्पन्न होना मानते हैं और वह भी ईसाई भक्तों के संपर्क से।

सात्वतों के इस विवेचन से पांचरात्र की प्राचीनता की सिद्ध हो जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण जैसे प्राचीनतम ब्राह्मणों में सात्वतों का नाम-निर्देश उपलब्ध होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रसंग में सात्वतों का निवास दक्षिण भारत बतलाया गया है जहाँ इंद्र 'भोज' नाम से अभिषिक्त किये गये थे।[२] ऐतिहासिक काल में 'भोज' तथा 'महा-

---

१ S, K. Aiyangar: Parama Samhita (Introduction p. 15–17) G. O. S. No. 86, 1940.

२ एतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते। भोजेति एनान् अभिषिक्तानाचक्षते ॥

—ऐतरेय ब्राह्मण ८।३।१४

भोज[1] शब्द विदर्भ से लेकर मैसूर तक के प्रांतों के अधिपतियों के लिए प्रयुक्त मिलता है। अतः स्पष्ट ही यह सात्त्वतों के स्थान-परिवर्तन का द्योतक है। ऐतरेय ब्राह्मण का रचनाकाल ईसापूर्व दशम शतक के आस पास माना जाता है। अतः इतना तो हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि पांचरात्र मत की उत्पत्ति ईसापूर्व दशम शतक से कथमपि अर्वाचीन नहीं हो सकती। सच तो यह है कि सात्त्वतमत का उदय महाभारतकाल में संपन्न हुआ। महाभारत युद्ध का समय १५०० ई० पू० माना जाता है। अतः इस मत को इस काल से अर्वाचीन मानना उचित नहीं है।

४—पाञ्चरात्र का विवरण

कहा गया है कि प्राचीन वैष्णव संप्रदाय की दो विशिष्ट संज्ञाएँ उपलब्ध होती हैं—भागवत मत तथा पाञ्चरात्र मत। पाञ्चरात्र मत की प्रबलता किसी समय यहाँ बहुत ही अधिक थी और आज भी यह मत भारतवर्ष के नाना वैष्णव उपासक संप्रदायों के रूप में सर्वत्र व्यापक और शक्तिमान् लक्षित होता है। इस संप्रदाय के प्रधान उपास्य देवता हैं—वासुदेव। 'वासुदेव' शब्द का अर्थ है सर्वव्यापक देवता—वह देवता जो सर्वत्र वास करता है तथा जिसमें सब पदार्थ निवास करते हैं। वे ही वासुदेव षड्गुणों से विशिष्ट होने के कारण 'भगवत्' शब्द के द्वारा अभिहित किये जाते हैं। छः गुणों के नाम हैं—ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज। इन गुणों से संवलित होने तथा हेयगुणों से विरहित होने वाले षाड्गुण्य-विग्रह वासुदेव 'भगवान्' कहे जाते हैं[1] और इस मत के उपासक

---

१ ज्ञान-शक्ति बलैश्वर्यं वीर्य तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

'भागवत' शब्द से अभिहित होते हैं। वैष्णव मत की पाञ्चरात्र संज्ञा किस कारण प्रचलित हुई ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं मिलता। पाञ्चरात्र तंत्र के विभिन्न ग्रंथों में इस नाम की व्याख्या भी नाना प्रकार से की गई मिलती है:—

(१) महाभारत के शांतिपर्व के अनुसार यह महोपनिषद् है जिसका नारायण ने श्रीमुख से गायन किया था और जो चारों वेद तथा सांख्य योग के समावेश के हेतु 'पञ्चरात्र' शब्द से प्रसिद्ध हुआ[1]।

(२) नारद पाञ्चरात्र के अनुसार इस नामकरण का कारण विवेच्य विषयों की संख्या ही है। 'रात्र' शब्द का अर्थ होता है—ज्ञान। 'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्[2]'। परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार)—इन पाँच विषयों के निरूपण करने से इस तंत्र का नाम 'पाञ्चरात्र' पड़ा है (नारद पाञ्चरात्र १।४५।५२)। अहिर्बुध्न्य संहिता में नारद पाञ्चरात्र निर्दिष्ट पूर्वोक्त मत ही अंगीकृत किया गया है (११।६४)।

(३) ईश्वर संहिता इस नामकरण का कारण कुछ विलक्षण ही बतलाती है। उसके कथन का सारांश है कि 'पाञ्चरात्र' नाम इस मत के प्रथम उपदेश से संबंध रखता है। भगवान् के पाँचों आयुधों के अंशरूप ऋषियों—शांडिल्य, औपगायन, मौञ्ज्यायन,

---

१ इदं महोपनिषदं चतुर्वेद-समन्वितम् ॥ ११ ॥
सांख्ययोगकृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्।
नारायणमुखोद्‌गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः ॥ १२ ॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३३६

२ नारद पाञ्चरात्र १।४४

कौशिक तथा भारद्वाज—ने मिलकर विष्णु की आराधना की इच्छा से तोताद्रि पर्वत के ऊपर कठिन तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर जगत्पति भगवान् वासुदेव ने 'एकायन वेद' का रहस्य उन्हें समझाया। यह उपदेश एक रात्रि में न होकर मुनियों की संख्या के अनुसार भिन्न भिन्न पाँच रात्रियों में दिया गया। इस प्रकार इस तन्त्र के उपदेश को पाँच रात्रियों में सिद्ध होने के कारण इसका नाम 'पांचरात्र'[1] पड़ा।

(४) **पाद्मतंत्र** के अनुसार पांचरात्र नाम का रहस्य इस शास्त्र की उत्कृष्टता तथा महनीयता के ऊपर आश्रित है। उसका कहना है कि जिस तंत्र के सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ जाते हैं वही शास्त्र पांचरात्र है[2]।

(५) **विष्णु संहिता** का कथन इस विषय में कुछ भिन्न ही है। उसका कहना है कि पंच महाभूत अथवा शब्दादिक पच विषयों का नाम 'पचरात्र' है। परम तेज को प्राप्त कर ये पाँच रात्रियाँ जिस शास्त्र के अध्ययन से नष्ट हो

---

१ पञ्चायुधांशास्ते पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः।
मौञ्ज्यायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः॥
पञ्चापि पृथगेकैकदिवारात्रं जगत्प्रभुः।
अध्यापयामास यतस्तदेतन्मुनिपुङ्गवाः॥
शास्त्रं सर्वजनैर्लोके पञ्चरात्रमितीर्यते।
—ईश्वर सं० अ० २१

२ पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि।
तत्सन्निधौ समाख्याऽसौ तेन लोके प्रवर्तते।
—पाद्मतन्त्र १

जाती हैं अज्ञान का विनाशक वह शास्त्र इसीलिए पंचरात्र के नाम से अभिहित किया जाता है[1]। परमसंहिता की व्याख्या इससे मिलती जुलती है। उसका कहना है कि पञ्चमहाभूत, तन्मात्रा, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त (प्रकृति)—ये ही पुरुष के रात्र (दान) हैं। उन्हीं के योग से अथवा वियोग होने से इस शास्त्र का नाम पञ्चरात्र पड़ा है। इन विषयों का वर्णन सांख्य-शास्त्र में अवश्य किया गया है परन्तु इस वैष्णव तंत्र में इनका प्रतिपादन कुछ विलक्षण ढग से उपलब्ध होता है। 'परम संहिता' के अनुसार इस नामकरण का यही रहस्य है।[2]

इस अनुशीलन से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'पांचरात्र' नाम की उत्पत्ति किसी सुदूर प्राचीनकाल में हुई थी जिसकी परंपरा किसी कारण से विच्छिन्न हो गई। यही कारण है कि इस तन्त्र का प्रत्येक ग्रंथ अपनी रुचि के अनुसार इस पद की विलक्षण व्याख्या करता है। यह प्रवृत्ति इस तंत्र की प्राचीनता तथा महनीयता सर्वथा द्योतित कर रही है।

---

१ रात्रयो गोचराः पञ्च शब्दादिविषयात्मिकाः।
महाभूतात्मका वाऽत्र पञ्चरात्रमिदं ततः॥
अवाप्य तु परं तेजो यत्रैताः पञ्च रात्रयः।
नश्यन्ति पञ्चरात्रं तत् सर्वाज्ञान-विनाशनम्॥

२ महाभूतगुणाः पञ्च रात्रयो देहिनः स्मृताः।
तद्योगाद्विनिवृत्तेर्वा पञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥
भूतमात्राणि गर्वश्च बुद्धिरव्यक्तमेव च।
रात्रयः पुरुषस्योक्ताः पञ्चरात्रं ततः स्मृतम्॥
—परम सं० १।३९-४०।

५—पाञ्चरात्र तथा वेद

पाञ्चरात्र के मूल सिद्धांतों का उद्‌गम स्थान कहाँ है ? यह नितांत विचारणीय विषय है। शंकराचार्य के अनुसार पांचरात्र सिद्धांत का कुछ अंश वैदिक सिद्धांत के सर्वथा अनुकूल है, परंतु अन्य अंश वेदविरुद्ध होने से कथमपि माननीय नहीं है। जो अंश वेदानुकूल है वह सर्वथा उपादेय है[1]—(१) परमात्मा का केवल अपनी इच्छा से अनेक रूपों का धारण करना (जो चतुर्व्यूह वाद का मूल है) (२) दीर्घकाल पर्यन्त अनन्यचित्त होकर भगवान् के भजन करने से क्लेश की निवृत्ति हो जाती है तथा भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्ष-लाभ होता है। पाञ्चरात्र मतानुसार पाँच व्यापारों से साधक भगवान् को प्रसन्न करता है—(१) अभिगमन—काय, वाक् तथा चित्त को अवहित कर देवगृह में गमन करना। (२) उपादान—पूजा-द्रव्य का अर्जन अथवा संग्रह। (३) इज्या=पूजा। (४) स्वाध्याय—अष्टाक्षर आदि मंत्रों का जप तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों का अभ्यास। (५) योग=ध्यान। ये पांचों व्यापार ईश्वराराधन के स्वरूप के अंतर्गत है। इनका प्रतिषेध कोई भी श्रुति नहीं करती, क्योंकि ईश्वरप्रणिधान श्रुति स्मृति दोनों में प्रसिद्ध होने के कारण वैदिक सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है। किंतु शंकर की दृष्टि में पांचरात्र सिद्धांत का जो अंश वेद-विरुद्ध अतएव अनादरणीय है वह 'चतुर्व्यूह वाद' से संबंध रखता है। पांचरात्र मत में वासुदेव नामक प्रथमव्यूह से संकर्षण नामक व्यूह की उत्पत्ति होती है। वासुदेव परमात्मा का तथा संकर्षण

---

१ ब्रह्मसूत्र पर शाङ्करभाष्य २।२।४२-४५।

जीवात्मा का नामांतर है। संकर्षण से उत्पन्न होता है प्रद्युम्न अर्थात् मन तथा प्रद्युम्न से उत्पन्न होता है अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार। चतुर्व्यूह का यह सिद्धांत पांचरात्रियों का निजी विशिष्ट सिद्धांत है। इससे सिद्ध होता है कि पांचरात्र मत में परमात्मा से जीवात्मा की उत्पत्ति होती है। परंतु वैदिक सिद्धांत के अनुसार तो जीव के नित्य के होने से उसकी उत्पत्ति हो ही नही सकती। उत्पत्ति मानने पर जीव को अनित्य मानना पड़ेगा। अतएव जीवोत्पत्तिवाद अवैदिक होने के कारण शिष्टों के ग्रहण योग्य नहीं है। इस प्रकार शंकराचार्य के मत में वैष्णव धर्म के कतिपय सिद्धांत श्रुतिमूलक होने पर भी उसमें कुछ अंश अवश्य ऐसे हैं जो वेद-विरुद्ध ही हैं।

अप्पय दीक्षित भी वैखानस संहिता को वेदानुकूल मानते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में वैखानस आगम के सिद्धांत वेद-प्रतिपाद्य तत्त्वों के ही आधार पर निर्मित किये गये हैं। वे पांचरात्र मत को वेदानुकूल मानने के लिये तैयार नहीं हैं। इस पार्थक्य का कारण यह है कि विष्णु संबंधी होने पर भी दोनों आगमों में वैखानस प्राचीनतर है जिसके अनुसार दक्षिण के वैष्णव मंदिर में पूजा-अर्चा का विधान पहिले होता था। परंतु रामानुजाचार्य ने इस विधान को हटाकर पांचरात्र पद्धति का प्रचार किया जो आज भी अधिकांश मंदिरों में गृहीत की गई है। अप्पय की आलोचना का विषय वैष्णव पद्धति तथा आचार है।

वैष्णव आचार्यों की समीक्षा

श्रीवैष्णव संप्रदाय के आचार्यों ने पांचरात्र को वेदानुकूल सिद्ध करने में अश्रांत परिश्रम किया है। रामानुज के मत में ब्रह्मसूत्र का उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण (२।२।४२—४५) पांचरात्र

मत का मंडन ही करता है, खंडन नहीं (जैसा शंकराचार्य समझते हैं)। रामानुज से पहिले भी उनके परमगुरु श्रीयामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' में इस तंत्र की प्रामाणिकता तथा वैदिकता को प्रबल युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया है। रामानुज के अनंतर श्री वेदांतदेशिक ने 'पांचरात्र रक्षा' ग्रंथ में और भट्टारक वेदोत्तम ने 'तंत्रशुद्ध' ग्रथ में इस विषय को मीमांसा-पद्धति से विचारकर पांचरात्रों को वेदसम्मत सिद्धांतों का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है।

वैष्णव आचार्यों की सम्मति में पांचरात्र का संबंध वेद की 'एकायन' शाखा से है। सबसे पहले 'पांचरात्र' शब्द शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में मिलता है। उसमें 'पाञ्चरात्र सत्र' का वर्णन मिलता है जिसे नारायण ने समग्र प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए किया था। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान के अध्ययन से भी पाञ्चरात्र आचार वैदिक आचार के ऊपर ही आश्रित सिद्ध होता है। महाभारत का कहना है कि चित्रशिखंडी नामक सात ऋषियों ने वेदों का निष्कष निकालकर पांचरात्र नामक शास्त्र का प्रणयन किया। इस शास्त्र में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों का विवेचन है; इसमें प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गों की सत्ता प्रतिपादित की गई है। राजा उपरिचर वसु ने इस शास्त्र का अध्ययन बृहस्पति से किया। इस विख्यात राजा ने स्वयं वैदिक यज्ञ किया जिसमें पशु के स्थान पर तिल यव की बलि दी गई थी (अध्याय ३३५)। अतः यज्ञीय हिंसा के विषय में पांचरात्र सांख्ययोग का ही समकक्ष है, क्योंकि इन दोनों संप्रदायों को यज्ञ में पशु-हिंसा अमान्य थी। परंतु वैदिक यज्ञ का आचरण तथा विधान पांचरात्र मत में सर्वथा मान्य था, इसकी सूचना हमें एक बात से और मिलती है। श्वेतद्वीप में

भगवान् नारायण के वर्णन से इस मत की प्रबलता पर्याप्त रूप से सिद्ध होती है। नारद ऋषि को दर्शन देने वाले भगवान् ने अपने हाथों में वेदि, कमंडलु, शुभ्र मणि, उपानह्, कुश, अजिन, दंडकाष्ठ तथा ज्वलित हुताशन को धारण किया था[1]। इससे पांचरात्रियों की वैदिक याग में पूर्ण आस्था प्रतीत होती है।

एकायन शाखा

पांचरात्रियों का कथन है कि उनका शास्त्र वेद की 'एकायन शाखा' के साथ साक्षात् संबद्ध है। ईश्वरसंहिता तथा पारमेश्वर संहिता का स्पष्ट निर्देश है कि द्वापर के अंत तथा कलियुग के आदि में शांडिल्य मुनि ने अपनी कठोर तपस्या का परिणाम-रूप संकर्षण से एकायन वेद प्राप्त किया था जिसमें सात्त्वत विधि का विशिष्ट वर्णन था और उसी को उन्होंने सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, उपगायन तथा मौञ्जायन नामक मुनियों को पढ़ाया और इसी क्रम से यह वेद भूतल में प्रचारित हुआ[2]। 'एकायन' का अर्थ है केवलमात्र अयन, मार्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन।

---

१ वेदिं कमण्डलुं शुभ्रान् मणीन् उपानहौ कुशान्।
अजिनं दण्डकाष्ठं च ज्वलितं च हुताशनम्।
धारयामास देवेशो हस्तैर्यज्ञपतिस्तदा॥

—शान्तिपर्व, ३३६ अ०, ६–१० श्लो०।

२ द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
साक्षात् संकर्षणात् भक्तात् प्राप्त एष महत्तरः।
एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सात्त्वतो विधिः।

—पारमेश्वर संहिता, प्रथम अध्याय।

मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्यो न विद्यते ।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

छांदोग्य उपनिषद् की भूमाविद्या के प्रसंग में नारद के द्वारा अधीत विद्याओं में 'एकायन' नाम का निर्देश सर्वप्रथम उपलब्ध होता है—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेद-मथर्वाणं वाकोवाक्यमेकायनञ्च । एकायन शब्द के अर्थ में प्राचीन टीकाकारों में मतभेद है। शंकराचार्य 'एकायन' का तात्पर्य नीतिशास्त्र से लेते हैं, परंतु रंगरामानुज की सम्मति में 'एकायन' एकायन शाखा का ही द्योतक है। बहुत संभव है कि इस मन्त्र 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' में एकायन मार्ग की ओर संकेत किया गया हो। ध्यान देने की बात है कि उपनिषद् में पांचरात्र-मार्गीय भक्ति के महनीय आचार्य नारद इस एकायन विद्या के साथ विशेष रूप से संबद्ध दिखलाये गये हैं। उन्होंने समग्र वेदविद्या के साथ एकायन विद्या का भी अध्ययन किया था। नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रंथकार का कहना है कि शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखाका ही दूसरा नाम 'एकायन' शाखा है[1]। इस मत की पुष्टि जयाख्य संहिता से भी होती है। इस संहिता के अनुसार प्रपत्तिशास्त्र में निष्णात औपगायन तथा कौशिक ऋषि काण्व शाखा के अध्येता बतलाये गये हैं[2] तथा पांचरात्र

---

१ 'काण्व शाखा महिमा संग्रह' नामक ग्रंथ में जिसकी हस्तलिखित प्रति मद्रास के पुस्तकालय में वर्तमान है (Madras Govt. Oriental Library Triennial Catalogue III. I B p. 3299)

२ काण्वीं शाखामधीयानावौपगायन-कौशिकौ ।
प्रपत्ति-शास्त्र-निष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठितावुभौ ॥ १।१०६

—जयाख्य संहिता पृ० १५

मार्ग के प्रवर्तक अन्य तीन ऋषि—शांडिल्य, भरद्वाज तथा मौञ्ज्यायन—भी काण्वी शाखा के आश्रयकर्ता माने गये हैं[१]। इस प्रकार वैष्णव तंत्रों के मत में एकायन शाखा काण्व शाखा का ही नामांतर प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त पांचरात्र विषयक श्रुति की सत्ता का परिचय हमें अन्य प्रमाणों से भी मिलता है। काश्मीर के उत्पलाचार्य (दशम शतक) ने अपनी 'स्पंदप्रदीपिका' नामक ग्रंथ में पांचरात्र श्रुति[२] तथा पांचरात्र उपनिषद्[3] से अनेक उद्धरण दिये हैं। बहुत संभव है कि ये उद्धरण इसी एकायन शाखा के ग्रंथों से ही दिये गये हैं। उत्पल-कृत निर्देशों की यदि समीक्षा की जाय, तो पता चलता है कि उस समय तक अर्थात् दशम शताब्दी तक पांचरात्र तंत्र के ग्रंथ तीन विभागों में विभक्त थे—पांचरात्र श्रुति, पांचरात्र उपनिषद् तथा पांचरात्र संहिता। इस प्रकार हम विश्वास कर सकते हैं कि उत्पल के आविर्भाव (दशम शतक) तक पांचरात्र श्रुति का अस्तित्व अवश्यमेव

---

१ शाण्डिल्यश्च भरद्वाजो मुनिर्मौञ्जायनस्तथा।
इमे च पञ्चगोत्रस्था मुख्याः काण्वीमुपाश्रिताः॥
श्री पाञ्चरात्रतन्त्रीये सर्वेऽस्मिन् मम कर्मणि॥ १।११६

—जयाख्यसंहिता

२ पाञ्चरात्र श्रुतावपि—यद्वत् सोपानेन प्रासादमारुहेत्, प्लवेन वा नदीं तरेत्, तद्वत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्तव्यः।

—स्पन्दप्रदीपिका; (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज) पृ० २

३ पाञ्चरात्रोपनिषदि च ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता च वाच्यं च भोक्ता च भोज्यं च। वही पृ० ४०

विद्यमान था। संभवतः यह श्रुति एकायन शाखा के नाम से उल्लिखित की गई है।

पाञ्चरात्र साहित्य

पाञ्चरात्र संप्रदाय की साहित्यिक संपत्ति विशाल तथा विस्तृत है परंतु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि अभी तक उसका बहुत ही थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है। प्रकाशित भाग भी दक्षिण भारत में तेलगु लिपि में ही उपलब्ध है। नागरी लिपि में प्रकाशित पाञ्चरात्र ग्रंथ मात्रा में बहुत ही कम हैं।

पाञ्चरात्र मत का सर्वप्रथम मान्य विवरण तो महाभारत के शांतिपर्व में उपलब्ध होता है, परंतु इसके प्राचीन ग्रंथ 'संहिता' के नाम से विख्यात हैं। पांचरात्र संहिताओं की रचना मूलतः उत्तरी भारत में ही हुई है और यहीं से ये दक्षिण भारत में भी प्रचारित तथा प्रसारित हुई हैं। दक्षिण भारत में भी अनेक संहिताओं का निर्माण हुआ था जिनमें दक्षिण भारत के मान्य तीर्थों की महिमा विशेष रूप से गाई गई है। कपिञ्जल संहिता आदि प्राचीन ग्रंथों के निर्देशानुसार पांचरात्र संहिताओं की संख्या दो सौ पंद्रह है जिनमें अगस्त्य संहिता, काश्यप संहिता, नारदीय संहिता, महासनत्कुमार संहिता, वासिष्ठ संहिता, वासुदेव संहिता, विश्वामित्र संहिता आदि मुख्य हैं। इस विशाल साहित्य के अंतर्गत निम्नलिखित १६ संहितायें ही अब तक प्रकाशित हुई हैं–

(१) अहिर्बुध्न्य संहिता (नागरी) अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास १९१६ (तीन खंडों में)

(२) ईश्वर संहिता (तेलुगु) सद्विद्या प्रेस, मैसूर, १८९०

" (नागरी) सुदर्शन प्रेस, कांची १९३२

(३) कपिंजल संहिता (तेलुगु) मद्रास

(४) जयाख्य संहिता (नागरी) गायकवाड ओरियंटल सीरीज नं० ५४, बड़ोदा, १६३१.

(५) परम संहिता (नागरी) वही, बड़ोदा १६४०.

(६) पाराशर संहिता (तेलुगु) बंगलोर, १८६८

(७) पाद्मतंत्र („) मैसूर, १६२४,

(८) बृहद्ब्रह्म संहिता („) तिरुपति, १६०६.

„ (नागरी) आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना १६२६

(६) भारद्वाज संहिता (तेलुगु) मैसूर

(१०) लक्ष्मीतंत्र („) „ १८८८.

(११) विष्णु तिलक („) बंगलोर, १८६६.

(१२) विष्णु संहिता (नागरी) अनंतशयन-ग्रंथमाला, त्रिवेन्द्रम , १६२६

(१३) शांडिल्य संहिता („) सरस्वती भवन टेक्ट्स काशी

(१४) श्री प्रश्नसंहिता (तेलुगु) कुंभकोणम् १६०४

(१५) सात्त्वतसंहिता (नागरी) सुदर्शन प्रेस, कांची, १६०२

(१६) नारद पांचरात्र („) कलकत्ता, १८६०

इन संहिताओं[१] के निर्देश तथा उद्धरण श्रीवैष्णव मत के आचार्यों ने अपने ग्रंथों में बड़े आदर और सम्मान के साथ किया

---

१ इस संहिता-साहित्य के लिए द्रष्टव्य

(क) Dr. Schrader: Introduction to the Pancharatra and the Ahirbudhnya Samhita, Adyar, Madras 1916 पृ० ४—१४

(ख) कृष्णमाचार्य—जयाख्य संहिता, बड़ोदा, १६३१ (भूमिका पृ० ७२-७८)

है। यामुनाचार्य ने, जो आचार्य रामानुज के गुरु थे, अपने 'आगम प्रामाण्य' नामक पांचरात्र ग्रंथ में ईश्वर-संहिता, परम, शांडिल्य, सनत्कुमार, इन्द्ररात्र (महासनत्कुमार संहिता का तृतीय रात्र) तथा पद्मोद्भव संहिताओं का उल्लेख तथा उद्धरण दिया है। रामानुज ने परम संहिता, पौष्कर संहिता तथा सात्त्वत संहिता से उद्धरण दिये हैं। वेदांत देशिक (१४ शतक) ने 'पांचरात्र रक्षा' नामक विशिष्ट ग्रंथ का ही प्रणयन किया है जिसमें पांचरात्र की वैदिकता तथा प्रामाणिकता का सुंदर निरूपण किया है जिसमें उन्होंने विशिष्ट रूप से जयाख्य, पारमेश्वर, पौष्कर, पाद्म, नारदीय, सात्त्वत, अहिर्बुध्न्य, भार्गव, वराह, विहगेन्द्र, हयग्रीव संहिताओं का उल्लेख किया है। उत्तर भारतीय ग्रंथकारों में काश्मीर के उत्पल वैष्णव (१० श०) ने स्पंदप्रदीपिका में जयाख्य (श्रीजया, जया), हंसपारमेश्वर, वैहायस, तथा श्रीकालपरा संहिताओं का निर्देश किया है। ये उत्पल शैव मतानुयायी होने पर भी पहिले वैष्णव ही थे। यही कारण है कि इन्होंने वैष्णव तंत्रों का उल्लेख ही नहीं किया है, प्रत्युत उनसे तत्तत् उद्धरण भी दिये हैं। इनका समय दशम शताब्दी है। अतः निश्चित है कि पांचरात्र संहिताओं की रचना की यही अंतिम अवधि है। हम सामान्य रूप से कह सकते हैं कि इन संहिताओं की रचना का काल ईस्वी चतुर्थ शतक से लेकर अष्टम शतक तक है।

विषय—इन संहिताओं में प्राचीनतम संहिताएँ कौन सी हैं? इसका यथार्थ निर्णय करना नितांत कठिन है। अधिकांश विद्वान् पौष्कर, सात्त्वत, जयाख्य तथा परम संहिता को प्राचीन संहिता होने का गौरव प्रदान करते हैं। इस पांचरात्र संहिताओं के विषय चार हैं—

(१) ज्ञान = ब्रह्म, जीव तथा जगत् तत्त्व के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन तथा सृष्टितत्त्व का विशेष निरूपण।

(२) योग—मुक्ति के उपायभूत योग तथा तत्संबंद्ध प्रक्रियाओं का वर्णन।

(३) क्रिया—वैष्णव मंदिरों का निर्माण, मूर्ति के विविध आकार प्रकार का सांगोपांग वर्णन, मूर्ति की स्थापना आदि।

(४) चर्या—वैष्णवों के निमित्त आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा मंत्रों के पूजन का विस्तृत विवरण, पर्व और उत्सव के अवसरों पर विशिष्ट पूजा का विधान।

इनमें चर्या का वर्णन आधे से अधिक रहता है। आधे में सबसे अधिक क्रिया, क्रिया से कम ज्ञान तथा सबसे कम योग का विवेचन रहता है। अतः चर्या तथा क्रिया की व्यावहारिक विवेचना ही पांचरात्र संहिताओं का मुख्य प्रयोजन है। प्रमेयों की मीमांसा तो गौण तथा प्रासंगिक है। तंत्रों की शैली के अनुसार सृष्टि तथा अध्यात्म-तत्त्व का वर्णन एक साथ मिश्रित रूप से मिलता है।

परंतु इन पांचरात्र संहिताओं में इन चारों विषयों का यथासाध्य संवलित वर्णन नहीं मिलता। किन्हीं ग्रंथों में किसी विषय को महत्त्व दिया गया है और किसी में अन्य विषय को। जयाख्या संहिता ३३ पटल (या अध्याय) में विभक्त है जिनमें मंत्र-साधन के विविध प्रकार, वैष्णवों के आचार, तथा श्राद्धादि का हम विशेष विवरण पाते हैं; शुद्ध आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण अपेक्षाकृत न्यून ही है। यही दशा परम संहिता की भी है। यह परिमाण में जयाख्य संहिता से न्यून है, परंतु व्यावहारिक विषयों का विवेचन तदपेक्षया विस्तृत है।

अहिर्बुध्न्य संहिता इन दोनों के योग से भी अधिक ही परिमाण में होगी। वह साठ अध्यायों में विभक्त है तथा पांचरात्र के आध्यात्मिक प्रमेयों की जानकारी के लिए निःसंदेह नितांत महत्त्वपूर्ण है।

—❀—

७—पाञ्चरात्र-साध्यपक्ष

पंचरात्र के ग्रंथों में ब्रह्म, जीव तथा जगत् की स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस मत में परब्रह्म अद्वितीय, अनादि अनंत, दुःखरहित तथा निःसीम सुखानुभूति रूप है। वह सब प्राणियों में निवास करता है (व्यापक), समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थित होता है तथा विकार और निंदा से सर्वथा वर्जित है—निर्विकार और निरवद्य है। वह उस महासागर के समान है जो क्षोभरहित होने से तरंगों से हीन तथा नितांत प्रशांत रहता है। वह अप्राकृत गुणों का आश्रय रहता है तथा प्राकृत गुणों के स्पर्श से भी रहित होता है। वह आकार, देश तथा काल से अनवच्छिन्न होने के कारण पूर्ण, व्यापक तथा नित्य है। वह हेय-उपादेय से वर्जित है तथा इदंता (स्वरूप), ईदृक्ता (प्रकार) और इयत्ता (परिमाण)—इन तीनों से अनवच्छिन्न होता है।[1] वह गुणों की विशिष्टता के कारण नाना संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। यथा षड्गुणों के योग से वह होता है **'भगवान्'**। समस्त भूतों में वास करने के कारण होता है—**'वासुदेव'** तथा समस्त आत्माओं में श्रेष्ठ होने के कारण वही कहलाता है—

---

१ अहिर्बुध्न्य संहिता, अध्याय २, श्लोक २२—२५।

'परमात्मा'। इसी प्रकार गुण-वैशिष्ट्य से ही वह अव्यक्त, प्रधान, अनंत, अपरिमित, अचिन्त्य, ब्रह्म, हिरण्यगर्भ तथा शिव आदि नामों से विख्यात है।

पांचरात्र मत में परब्रह्म के दोनों रूप स्वीकृत किये जाते हैं—सगुण भाव तथा निर्गुण भाव। वह त्रिविध परिच्छेद से शून्य है। वह न भूत है, न भविष्य, न वर्तमान। न ह्रस्व है और न दीर्घ। न आदि है, न मध्य है और न अंत। इस प्रकार वह द्वंद्वों से विनिर्मुक्त है, सब उपाधियों से वर्जित है तथा सब कारणों का कारण बनकर षाड्गुण्यरूप है। पांचरात्र की यह ब्रह्म-भावना ब्रह्म की औपनिषद कल्पना के नितांत अनुरूप है—

> सर्वद्वन्द्व-विनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
> षाड्गुण्यं तत् परं ब्रह्म सर्वकारण-कारणम्॥
> (अहि० सं० २।५३)

षाड्गुण्य

परब्रह्म का ही नाम 'नारायण' भी है। वे निर्गुण होकर भी सगुण हैं। प्राकृत गुणों से हीन होने के हेतु वे 'निर्गुण' हैं, परंतु षड्गुणों से संपन्न होने के कारण वे 'सगुण' हैं। नारायण समग्र विरोधों का चरम अवसान है। अतः एक ही आधार में सगुण तथा निर्गुण की स्थिति प्रमाणहीन नहीं मानी जा सकती। जिन गुणों से भगवान् का विग्रह निष्पन्न होता है (षाड्गुण्य विग्रह), वे जगत् व्यापार के लिए कल्पित किये गये गुण संख्या में ६ हैं जिनके नाम हैं—(१) ज्ञान, (२) शक्ति, (३) ऐश्वर्य, (४) बल, (५) वीर्य तथा (६) तेज। अजड, स्वात्मसंबोधी (स्वप्रकाश) नित्य तथा सर्वाव-

ग्राही गुण 'ज्ञान' कहलाता है। यह ज्ञान ब्रह्म का रूप भी तथा उसका गुण भी है[1]। 'शक्ति' का अर्थ है जगत् का उपादान कारण। 'ऐश्वर्य' से अभिप्राय है जगत् का कर्तृत्व जो उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति से उन्मीलित होता है। जगत् के निर्माण करने में भगवान् को तनिक भी परिश्रम नहीं करना पड़ता है—श्रम के इसी अभाव की शास्त्रीय संज्ञा 'बल' है। जगत् के उपादान कारण जब कार्य के रूप में परिणत होते हैं, तब उनमें निश्चयेन विकार उत्पन्न हो जाता है, परंतु निर्विकार परब्रह्म में जगत् का उपादान होने पर भी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। इस गुण का नाम है—वीर्य। जगत् की सृष्टि में परब्रह्म स्वतः अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से समर्थ होता है। उसे किसी भी सहकारी की अपेक्षा नहीं बनी रहती। इसी निरपेक्ष गुण को कहते हैं—तेज। इस प्रकार ब्रह्म इस विश्व का उभयविध उपादान तथा निमित्त कारण है। ब्रह्म बिना किसी सहायता से अपने ही आप अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से सृष्टि का उत्पादक है—इसी की पुष्टि उक्त षड्गुणों की सपत्ति धारण करने से होती है। 'सर्वकारणकारणं' पद परम ब्रह्म की इसी सर्वशक्तिमत्ता तथा स्वतंत्रता का द्योतक है[2]। इन षड्गुणों में ज्ञान ही वासुदेव का उत्कृष्ट रूप है। शक्ति आदि अन्य पाँच गुण ज्ञान के गुण होने से सदा उसके साथ संबद्ध रहते हैं।

भगवान् की शक्ति

भगवान् अनंत शक्तियों के निकेतन हैं, परंतु उनका कतिपय शक्तियों में वर्गीकरण किया जाता है। भगवान् की शक्ति की

---

१ अहि० बु० २।५६।

२ अहि० सं० अध्याय २, श्लोक ५५-६२

सामान्य संज्ञा लक्ष्मी है। भगवान् शक्तिमान् है और लक्ष्मी उनकी शक्ति है। भगवान् तथा लक्ष्मी का संबंध कैसा है? यह संबंध आपाततः अद्वैत प्रतीत होता है, परंतु वस्तुतः अद्वैतता नहीं है। जब प्रलय दशा में प्रपंच का लय हो जाता है तब भी भगवान् तथा लक्ष्मी में नितांत ऐक्य नहीं होता। उस समय भी नारायण तथा नारायणी लक्ष्मी—'मानों' एकत्व धारण करते हैं। 'व्यापकावति संश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ'[1] प्रकट करता है कि वे दोनों एक-तत्त्व के समान स्थित प्रतीत होते हैं, वस्तुतः एक तत्त्व नहीं है। धर्म तथा धर्मी, अहंता तथा अहं, चंद्रिका तथा चंद्रमा, आतप तथा सूर्य के समान ही शक्ति और शक्तिमान् में अविनाभाव या समभाव संबंध स्वीकृत किया गया है, परंतु मूलतः दोनों में भेद ही विद्यमान रहता है। अहिर्बुध्न्य संहिता ने शक्ति की शक्तिमान् से पृथक् स्थिति का निर्देश स्पष्ट अक्षरों में किया है—

देवात् शक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

—अहि० सं० ३।२५)

शक्ति का विभाग

शक्ति भगवान् की आत्मभूता है—उनके स्वरूप से भिन्न नहीं है। वह किसी अचिन्त्य कारण से कहीं उन्मेष प्राप्त करती है और जगत् के रचना-व्यापार में प्रवृत्त होती है।[2] विष्णु की

---

१ अहि० बु० सं० ४।७८

२ स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः॥

अहि० सं० ५।४

यह आत्मभूता स्वातंत्र्य शक्ति भिन्न भिन्न गुणों की विशिष्टता के कारण नाना नामों से पुकारी जाती है। आनंदा, स्वतंत्रा, लक्ष्मी, श्री, पद्मा आदि इसी के नामांतर हैं।

सृष्टि के आरंभ में लक्ष्मी के दो रूप हो जाते हैं—(क) क्रिया शक्ति, (२) भूतिशक्ति । जगत् उत्पन्न करने की भगवदिच्छा को, उत्पादन के संकल्प को, कहते हैं—क्रियाशक्ति और जगत् की परिणति को कहते हैं भूतशक्ति (भवनं भूतिः = होना, परिणाम)[1]। भगवान् की इच्छाशक्ति की प्रतिनिधि हैं लक्ष्मी और क्रियाशक्ति का प्रतीक है सुदर्शन चक्र। इसी शक्तिद्वय के सान्निध्य में भगवान् जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहृति व्यापार के उत्पादक बनते हैं, परंतु इसके अभाव में वे किसी व्यापार में प्रवृत्त नहीं होते। लक्ष्मी के अनुग्रह से ही इस विश्व की सृष्टि संपन्न होती है।

सृष्टितत्त्व

पांचरात्र के अनुसार सृष्टि दो प्रकार की होती है—शुद्धसृष्टि और शुद्धेतर सृष्टि। जयाख्य संहिता के अनुसार तीन प्रकार की सृष्टि—शुद्ध सर्ग, प्राधानिक सर्ग तथा ब्रह्मसर्ग—का अंतर्भाव इस द्विविध प्रकार के ही भीतर किया जा सकता है। जिस प्रकार तरंगरहित प्रशांत महार्णव में प्रथम बुद्बुद उत्पन्न होकर उसमें क्षोभ और अशांति पैदा करता है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में स्वतन्त्र्यशक्ति के उन्मेष से षड्गुणोंका प्रथम आविर्भाव होता है। लक्ष्मी के इस प्राथमिक उदय का नाम है-गुणोन्मेष या शुद्धसृष्टि। जगत् के कल्याण के निमित्त भगवान् ही धर्म की रक्षा तथा

---

१ क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः।
लक्ष्मीमयः प्राणरूपो विष्णोः संकल्प उच्यते ॥

—अहि० सं० ३।२१

अधर्म के नाश के लिए चार प्रकार का अवतार धारण करते हैं—(क) व्यूह, (ख) विभव, (ग) अर्चावतार, (घ) अंतर्यामी अवतार।

(क) व्यूह

पूर्वकथित छः गुणों में से दो दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है जिनके नाम हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। 'संकर्षण' व्यूह में ज्ञान तथा बल गुणों का प्राधान्य रहता है। 'प्रद्युम्न' में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों का और 'अनिरुद्ध' में शक्ति तथा तेजगुणों का उद्रेक विद्यमान रहता है। जगत् का सर्जन तथा शिक्षण इनका मुख्य कार्य है।[1] संकर्षण का कार्य है जगत् की सृष्टि करना तथा ऐकांतिक मार्ग—पांचरात्र सिद्धांत का उपदेश देना। प्रद्युम्नका कार्य है इस मार्ग के अनुसार क्रिया की शिक्षा देना। अनिरुद्ध का कार्य है क्रिया के फल अर्थात् मोक्ष के रहस्य का शिक्षण। वासुदेव को मिलाकर भगवद्व्यूह 'चतुर्व्यूह' कहलाता है। अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार तीनों व्यूहों की उत्पत्ति भगवान् से ही होती है; परंतु शंकराचार्य द्वारा उल्लिखित चतुर्व्यूह-सिद्धांत इससे विलक्षण है (शांकरभाष्य २।२।४२—४५)। इनके अनुसार वासुदेव से उत्पत्ति होती है संकर्षण (जीव) की, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उससे उत्पत्ति होती है अनिरुद्ध (अहंकार) की। आचार्य इसी को पांचरात्रों का विशिष्ट सिद्धांत मानते हैं। जयाख्य आदि संहिताओं में यह मत अनुपलब्ध होने पर भी महाभारत के नारायणीयो-

---

१ अहि० सं० ५।१७—६०

पाख्यान[1] तथा लक्ष्मीतंत्र में पांचरात्रों का एकदेशीय मत माना[2] गया है।

(ख) विभव

'विभव' का अर्थ है अवतार जो संख्या में ३६ माने जाते हैं। विभव दो प्रकार के होते हैं—मुख्य, जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है। गौण, जिनकी पूजा भुक्ति के निमित्त की जाती है। पद्मनाभ, ध्रुव, त्रिविक्रम, कपिल, मधुसूदन आदि की गणना 'विभव' के अंतर्गत की जाती है।

(ग) अर्चावतार

प्रस्तर, रजत आदि धातुओं से निर्मित विष्णु-मूर्तियाँ भी पांचरात्र विधि से पवित्रित किये जाने पर भगवान् के अवतार मानी जाती हैं। पूजन के निमित्त उपादेय होने से इन्हें अर्चावतार कहते हैं।

(घ) अंतर्यामी

भगवान् का जो रूप प्राणियों के हृत्कमल में वास करता हुआ उनको सब व्यापारों में नियुक्त करता है उसका नाम है—अंतर्यामीरूप। कहना न होगा कि यह कल्पना उपनिषदों के सिद्धातों पर ही आश्रित है। अंतर्यामी पुरुष का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार है—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः (बृह० उप० ३।७।३)

---

१ शान्तिपर्व अ० ३३६, श्लोक ४०—४२।

२ लक्ष्मीतंत्र ५।६—१४।

यही है शुद्ध सृष्टि या गुणोन्मेष अर्थात् षड्गुणों का आविर्भाव जिनकी विभिन्न स्थिति से अनेक व्यूहों का निर्माण होता है।

सृष्टि के विषय में पांचरात्र संहिताओं का ऐकमत्य नहीं है। शुद्ध तथा शुद्धेतर सृष्टि—अहिर्बुध्न्य संहिता के मतानुसार सृष्टि दो प्रकार की होती है, परतु जयाख्य संहिता सृष्टि को तीन प्रकार की मानती है—(१) ब्राह्म सर्ग, (२) प्रधानिक सर्ग, तथा (३) शुद्धसर्ग (पृ० ११)। शुद्धसर्ग के विषयों में विशेष विभेद नहीं है, परंतु अन्य सर्गों की प्रक्रिया में पर्याप्त विभेद दृष्टिगोचर होता है। अहिर्बुध्न्य संहिता (६।५।१८) में शुद्धेतर सृष्टि का क्रम इस प्रकार है—

प्रद्युम्न— >कूटस्थ पुरुष— >माया-शक्ति— >नियति— > काल— >सत्त्वगुण— >रजोगुण— >तमोगुण— >बुद्धि (महत्तत्त्व)— >अहंकृति
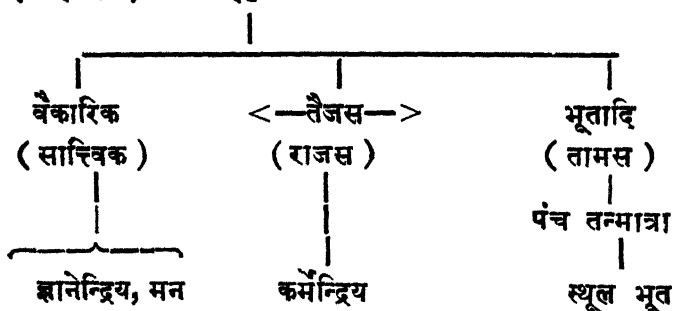
यह पांचरात्रीय सृष्टिक्रम सांख्य क्रम से सामान्यतः मिलता है, परंतु सर्वथा नहीं मिलता। दोनों क्रमों में विशेष अंतर नहीं है। सांख्य के अनुसार प्रकृति सृष्टिकार्य में चेतन

पुरुष की सहायता के बिना ही व्यापृत रहती है, परंतु पांचरात्र के अनुसार प्रकृति चिद्रूप आत्म-तत्त्व के द्वारा छुरित होने पर ही चैतन्यमयी प्रतीत होती है और सृष्टि-कार्य में संलग्न होती है। जयाख्य संहिता (पृ० २७) का स्पष्ट कथन है—

> चिद्रूपमात्मतत्त्वं यदभिन्नं ब्रह्मणि स्थितम्।
> तेनैतच्छुरितं भाति अचित् चिन्मयवद् द्विज॥
> यथाऽयस्कान्तमणिना लोहस्याधिष्ठितं तु वै।
> दृश्यते वलमानं तु तद्वदेव मयोदितम्॥

चुंबक की सन्निधि में लोह के संचलन के समान पुरुष के सन्निधान में ही प्रकृति में संचलन दृष्टिगोचर होता है। इस विषय में भगवद्गीता सांख्य-पद्धति का अनुसरण न कर पांच-रात्र पद्धति का ही अनुगमन करती है—

> मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गीता ६।१०)

सांख्य प्रकृति को गुणत्रय का समूहालंबन मानता है तथा गुणों में परस्पर कार्यकारण भाव स्वीकार नहीं करता, परंतु अहिर्बुध्न्य संहिता सत्त्व से रज की तथा रज से तम की उत्पत्ति मानती है—

> सत्त्वाद् रजस्तमस्तस्मात् तमसो बुद्धिरुद्गता। (६।१७)

यह पांचरात्र का एकदेशीय मत प्रतीत होता है, क्योंकि अन्य संहिताओं में इन गुणों का यह सर्गक्रम बिल्कुल उपलब्ध नहीं होता। अतः इस विवेचन से इतना तो निश्चित है कि पांच-रात्र सृष्टिक्रम की व्याख्या के लिए सांख्यशास्त्र का ऋणी अवश्य है, परंतु अपनी विशिष्टता की रक्षा करने के निमित्त उसने अनेक नवीन सिद्धांतों की कल्पना कर उक्त क्रम में परिवर्तन कर डाला है।

जीव तत्त्व

पांचरात्रों के अनुसार यह जीव अनादि, परिच्छेदरहित, चिदानंदघन तथा भगवन्मय ही है तथा उस भगवान् के द्वारा यह सदा अपने कार्य में भावित-प्रेरित किया जाता है[1]। यह जीव तथा जगत् अखिल ब्रह्माण्डनायक नारायण की ही स्वातंत्र्य शक्ति का विलास है। यह उनकी स्वतंत्रता की ही महिमा है कि समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेने पर भी वह स्वतः वशी वासुदेव राजा के समान लीला किया करता है[2]। यह विश्व भगवान् की अलौकिक लीला का ही ललित विलास है। भगवान् के संकल्प का ही नाम है—'सुदर्शन' जो अनंतरूप होनेपर भी प्रधानतया पाँच प्रकारों से विजृम्भित होता है—सृष्टि, स्थिति, विनाश, निग्रह तथा अनुग्रह। इनमें प्रथम तीन रूपों के वर्णन की आवश्यकता नहीं। निग्रह शक्ति जीव के आकार, ऐश्वर्य तथा विज्ञान का तिरोभाव कर उसे अल्प तथा अज्ञ बना देती है[3]। जीव स्वभावतः आकार से व्यापक है, ऐश्वर्य से सर्व-शक्तिमान् है तथा विज्ञान की दृष्टि से सर्वज्ञ है, परंतु सृष्टि के आरंभ में भगवान् की निग्रह-शक्ति जीव के विभुत्व, शक्तिमत्त्व तथा सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है जिससे जीव क्रमशः अणु, किंचित्कर तथा अल्पज्ञ बन जाता है। इस निग्रह-शक्ति के अनेक नाम हैं माया, अविद्या, महामोह, महातामिस्र, हृदयग्रंथि आदि।

---

१ अनादिरपरिच्छेद्यश्चिदानन्दमयः पुमान्।
भगवन्मय एवायं भगवद्भावितः सदा ॥ अहि० सं० १४।६

२ सर्वैरननुयोज्यं तत् स्वातन्त्र्यं दिव्यमीशितुः।
अवाप्तविश्वकामोऽपि क्रीडते राजवद् वशी ॥ वहीं, १४।१३

३ तिरोधानकरी शक्तिः सा निग्रहसमाह्वया। वहीं १४।१५

जीव की नैसर्गिक विशुद्धि को तिरोहित कर देने के कारण इन तीनों को 'मल' कहते हैं तथा मुक्त जीव को बधन में डाल देने के कारण इन्हें 'बंध' कहते हैं (१४।२०)। इन्हीं के कारण जीव स्वभावतः बंधरहित होने पर भी बद्ध बन जाता है और पूर्व कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की उपलब्धि करता है, इस विकराल संकट-बहुल भवाटवी में वह भटकता फिरता है। भगवान् स्वतः करुणावरुणालय ठहरे। जीव के क्लेशों को देखकर उनके हृदय में 'कृपा' का स्वतः आविर्भाव होता है। इसी शक्ति का नाम है—अनुग्रह-शक्ति, वैष्णवी कृपा जिसे आगम-शास्त्र 'शक्तिपात' के नाम से पुकारता है[1]। जीवों की दीन-हीन दशा देखकर अशेष कारुण्यमूर्ति नारायण का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह जीवों पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। तब जीवों के शुभ और अशुभ कर्म समत्व प्राप्त कर लेते हैं और फल के उत्पादन के लिए व्यापारहीन हो जाते हैं। पथिक के ऊपर तस्करों का व्यापार तभी तक होता रहता है जब तक वह एक दीन-हीन राही के रूप में अपना भीषण मार्ग पार किया करता है, परंतु ज्योंही वह राजा के अनुचरों में अन्तर्भुक्त हो जाता है चोर अपना व्यापार छोड़ उदासीन बन जाते हैं। शक्तिपात से पूत वैष्णवजन की भी दशा ऐसी ही होती है। अनुग्रह-शक्ति का ज्योंही भक्त के हृदय में पतन होता है शुभ अशुभकर्म स्वतः व्यापार स्थगित कर उदासीन बन जाते हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता के शब्दों में—

> यथा हि मोषकाः पान्थे परिवर्हमुपेयुषि।
> निवृत्तमोषणोद्योगाः समाः सन्त उपासते॥

---

१ अहि० सं० १४।२०

अनुग्रहात्मिकायास्तु शक्तेः पातक्षणे तथा ।
उदासते समीभूय कर्मणी ते शुभाशुभे ॥
(अहि० सं० १४।३४, ३५)

श्रीमद्भागवत में इस दशा का बड़ा ही विशद वर्णन प्रस्तुत किया गया है । हे भगवन्, राग आदिक वृत्तियाँ तभी तक चोर के समान हमारे हृदय को कलुषित करती रहती हैं, तभी तक यह घर कारागार के समान हमारे बंधन का कारण बनता है और तभी तक मोह—अज्ञान—हमारे पैरों में शृंखला के समान हमें जकड़े रहता है; जब तक हम तुम्हारे जन, अनुचर या सेवक नहीं बन जाते । भगवान् के कृपापात्र बनते ही बंधन के साधक पदार्थ भी मोक्ष के साधक बन जाते हैं । भगवान् के 'शक्तिपात' की यही अलौकिक महिमा है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम्
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ।
भागवत १०।१४।३६

अब जीव में मुमुक्षुता स्वयं उदित हो जाती है । वह वैराग्य तथा विवेक का संवल ग्रहण कर गुरु तथा शास्त्र का अनुशीलन करता है । वेदांत के ज्ञान में निश्चल मति होकर वह शास्त्रीय साधनों का अवलंबन करता है तथा ज्ञान के द्वारा निर्मल चेतन बनकर वह पापरहित पुण्यमय आनंदरस-स्निग्ध वैष्णव धाम में प्रवेश करता है ।[1]

---

१ संप्राप्य ज्ञानभूयस्त्वं निर्मलीकृतचेतनः ।
अनाविलमसंक्लेशं वैष्णवं तद् विशेत् पदम् ॥
—अहि० सं० १४।४१

८—साधनामार्ग

साधनामार्ग का प्रतिपादन पांचरात्र शास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। शास्त्र के अनुसार मंदिर का निर्माण कर उसमें इष्टदेवता को विधिवत् स्थापन करना चाहिए। तदनंतर सात्वत विधि से उसकी अर्चना करनी चाहिए। भक्ति ही केवल इस दुःखमय संसार से जीव को मुक्त करने का एकमात्र साधन है। भक्त-वत्सल भगवान् की अनुग्रह शक्ति ही जीवों को भवपंक से उद्धार कर सकती है। इस अनुग्रहशक्ति को उद्‌बुद्ध करने का भक्तों के पास एकमात्र उपाय है—शरणागति, प्रपत्ति, जिसकी शास्त्रीय संज्ञा 'न्यास' है। बिना न्यास के यह शक्तिपात संपन्न नहीं होता। भगवान् से निश्छल रूप से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि मैं अपराधों का आलय हूँ, अकिंचन हूँ तथा निराश्रय हूँ। हे भगवन्, आपही मुझे उद्धार करने के लिए उपाय बनिए। यह मानसिक भावना 'शरणागति' के नाम से पुकारी जाती है—

> अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः।
> त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना-मतिः।
> शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥
>
> —अहि० सं० ३७।३१

यह शरणागति छः प्रकार की होती है—

(१) आनुकूल्यस्य संकल्पः—भगवान् के सदा अनुकूल बने रहने का संकल्प; भगवान का अकिंचन दास तथा सेवक बनने का दृढ़ निश्चय।

(२) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्—भगवान् के प्रतिकूल भाव, भावना तथा चर्चा से सदा पराङ्मुख रहना। नारायण के विषय

में उल्टी मति करने वाली जो कुछ भी वस्तु हो उसका परित्याग करना चाहिए।

(३) रक्षिष्यतीति विश्वासः—भगवान् के रक्षक रूप में अटूट विश्वास होना चाहिए। भक्तों के उद्धारक भगवान् हमारी भी रक्षा अवश्य करेंगे, इस बात का पूरा विश्वास तीसरा अंग है।

(४) गोप्तृत्त्व-वरणम्—रक्षक होने का विश्वास केवल काल्पनिक न होकर वास्तविक होना चाहिए; भगवान् को अपने गोप्ता—रक्षक रूप से वरण करना चाहिए।

(५) आत्मनिक्षेपः—आत्मसमर्पण; अपने को तथा अपने कर्मों को भगवान् के चरणों में निक्षेप कर देना या डाल देना चाहिए। रक्षकवरण के अनंतर अपनी व्यक्तिगत सत्ता को पृथक् रखनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः समर्पण ही आवश्यक कर्तव्य बन जाता है।

(६) कार्पण्यम्—नितांत दीनता

शरणागति के इस षड्विध क्रम में मनोवैज्ञानिक सामरस्य है। अपने प्रियतम के प्रति शरणापन्न होने में यही क्रमिक विकाश का विशद मार्ग है। भगवद्गीता के एक ही श्लोक में इस मार्ग के विकास की ओर पूरा संकेत हमें प्राप्त होता है। गीता पांचरात्र भक्ति का प्रतिपादक महनीय ग्रंथ है। उसमें भी शरणागति को मुख्यतम तथा गुह्यतम साधन बतलाया गया है और इस शरणागति के सहायक साधनों का निर्देश यह प्रसिद्ध पद्य करता है—

कार्पण्यदोषोपहत – स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्म-संमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
—गीता (२।७)

इस पद्य में 'कार्पण्य' तथा 'शिष्य' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। कार्पण्य दीनता का सूचक है, तो शिष्य शब्द गुरु के वचनों पर अटूट श्रद्धा तथा विश्वास और आत्मनिक्षेप का परिचायक है। प्रपन्न शब्द तो स्पष्टतः प्रपत्ति को लक्ष्य कर रहा है।

'शरणागति' वैष्णव भक्त की मानसिक भावना है, उसी प्रकार पञ्चकर्म उसके लिए व्यावहारिक अनुष्ठान है। वैष्णवजन भगवान् की पूजा के निमित्त दिनरात को पाँच भागों में विभक्त करते हैं। इनके नाम हैं—पंचकाल। (१) अभिगमन—मनसा वाचा कर्मणा जप-ध्यान-अर्चन के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना। (२) उपादान—पूजा के लिये पुष्प, अर्घ्य, नैवेद्य आदि सामग्री का संग्रह करना। (३) इज्या—पूजा, आगम शास्त्र के नियमों के अनुसार भगवान् की विधिवत् अर्चना। (४) अध्याय—वैष्णव ग्रंथों का श्रवण, मनन तथा उपदेश (५) योग—अष्टांग योग का अनुष्ठान। ये पाँचों कर्म प्रातः काल से आरंभ कर निशा के अन्त तक क्रमशः होने चाहिए[1]। विधि-विधान की विशेषता के कारण वैष्णवों के अनेक भेद इन आगम ग्रंथों में किये गये हैं। जयाख्य संहिता[2] के अनुसार वैष्णवों के

---

१ जयाख्य संहिता २२ पटल, श्लोक ६५—७५ तथा ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।२।४२

२ जयाख्य संहिता के २२ वें पटल में वैष्णव आचार का विशेष वर्णन किया गया है।

प्रधान तया ५ भेद बतलाये हैं—यति, एकांती, वैखानस, कर्म-सात्वत तथा शिखी। साधारणतया विष्णु की भक्ति से मंडित होने पर भी कतिपय विशेषताओं के कारण यह वर्गीकरण किया गया है।

मोक्ष

इस उपासना के बल पर साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष का अर्थ है—**ब्रह्मभावापत्ति** अर्थात् ब्रह्म में जीव का लीन हो जाना या **अपुनर्भवता** = पुनर्जन्म नहीं ग्रहण करना। संसार दशा में जीव मलावृत होकर इधर उधर भटकता रहता है। भगवत् कृपा से वह ब्रह्म के साथ एकाकार होकर सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। जयाख्य संहिता का कथन है कि यह 'भगवत् समापत्ति' नदियों की समुद्र-प्राप्ति के समान है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियों का जल समुद्र में प्रवेश कर तद्रूप बन जाता है तथा जल में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् की भी प्राप्ति का भी रूप है[1]। जिस प्रकार आग में फेंके गए काष्ठ के टुकड़े दग्ध हो जाने पर पृथक् लक्षित नहीं होते, प्रत्युत अग्निमय बन जाते हैं; मुक्तावस्था में भक्त की भी यही दशा होती है[2]। उस काल में जीव भगवान् के 'पर' रूप

---

१ सरित्-संघाद् यथा तोयं संप्रविष्टं महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा॥
—जयाख्य सं० ४।१२१

२ यथाऽनेकेन्धनादीनि संप्रविष्टानि पावके।
अलक्ष्याणि च दग्धानि तद्वद् ब्रह्मण्युपासकाः॥
—जयाख्य सं० ४।१२३,

के साथ परम व्योम में—शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न बैकुंठ में आनंद से विहार किया करता है। यह 'पर वासुदेव' 'व्यूह वासुदेव' से नितांत भिन्न तथा उच्चतर है।

मोक्ष की सिद्धि ज्ञान के द्वारा होती है। ज्ञान कैसा? ब्रह्म के साथ जीव का अभेद ज्ञान, जीव ब्रह्म से भिन्न न होकर अभिन्न ही है ऐसा ज्ञान। ब्रह्मप्राप्ति के लिए ज्ञान के दो प्रकार होते हैं—क्रियाख्य ज्ञान तथा सत्ताख्य ज्ञान। क्रिया से तात्पर्य है नियम से तथा सत्ता से अभिप्राय है यम से। नियम तथा यम के पालन का संवलित फल है अद्वयज्ञान की उपलब्धि जो सद्यः मुक्ति के उदय का कारण बनती है। जयाख्य संहिता का कथन है—

> एवं क्रियाख्यात् सत्ताख्यं ज्ञानं प्राप्नोति मानवः।
> ब्रह्मण्यभिन्नं सत्ताख्यात् ज्ञानात् ज्ञानं ततो भवेत्
> ब्रह्माभिन्नात्ततो ज्ञानात् ब्रह्म संयुज्यते परम्॥
>
> —जयाख्य ४।५०

मुक्त दशा में जीव विष्णु-लोक में विहार करता है। वह लोक ही आनंदमय होता है तथा मुक्त पुरुषों का देह भी ज्ञानानंदमय होता है। वहाँ त्रसरेणु का परिमाणवाला मुक्त जीव कोटि रश्मियों से विभूषित होकर अपने इष्ट देवता का दर्शन करता है। वह कालचक्र से रहित होकर भगवान् की सेवा तथा अर्चना में निरंतर निवास करता है। वह इस काल-कल्लोल-सकुल मार्ग में कभी प्रवेश नहीं करता (अहि० सं० ६।२७-३०) मुक्त दशा में जीव ब्रह्म के साथ बिलकुल एकाकार नहीं बनता, प्रत्युत एक रूप में संश्लिष्ट के समान प्रतीत होता है—संश्लेषादेकमिव स्थितौ। इस प्रकार पांचरात्र आगम जीव-ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादक होने पर भी परिणामवाद का पक्षपाती है, विवर्तवाद का नहीं। पांचरात्रों का यही साधन मार्ग है।

६—वैखानस आगम

वैष्णव आगमों में वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। पांचरात्र तंत्र के साथ इनके संबंध का विशिष्ट अनुशीलन अभी समीक्षण का विषय है। इतना तो निश्चित है कि पांचरात्रियों की लोकप्रियता होने से पहिले वैखानसों का प्रभाव दक्षिण भारत में बहुत ही अधिक था। विशिष्ट वैष्णव मंदिरों में पूजा-अर्चा का विधान इसी आगम के अनुसार होता था जिसे श्री रामानुज ने पांचरात्र तंत्रों के अनुसार परिवर्तित कर दिया। परंतु आज भी तिरुपति जैसे विख्यात वैष्णव मंदिर में श्रीवेंकटेश्वर की पूजा वैखानस आगम के अनुसार ही होती है जो इसके महत्त्व का स्पष्ट द्योतक है। दार्शनिक सिद्धांतों मे वैखानसों तथा पांचरात्रियों में विशेष अंतर नहीं है। जो कुछ अंतर है वह मूर्ति-निर्माण तथा पूजा-अर्चा के विविध तथा विशिष्ट विधान में ही है। वैखानस कृष्ण यजुर्वेद की एक स्वतंत्र शाखा थी। चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुः की प्रधान शाखायें हैं—आपस्तंब, बौधायन, सत्याषाढ़, हिरण्यकेशी तथा औखेय। वैखानस श्रौतसूत्र के भाष्यकार वेंकटेश के अनुसार वैखानसों का संबंध इसी 'औखेय शाखा' के साथ था[1]। इसी कारण अप्पय दीक्षित जैसे मान्य वेदांती की दृष्टि में यह आगम विशुद्ध वैदिक है और इसके सिद्धांत सर्वथा वेदानुकूल हैं।

परंतु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वैखानस आगम का विशाल साहित्य आज लुप्तप्राय है। बहुत संभव है कि पांचरात्र

---

१ येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः॥

को प्रचंड लोकप्रियता की यह प्रतिक्रिया हो । पांचरात्र की व्यापकता के कारण वैखानस आगम एकदम दबकर नष्ट हो गया । अनंत शयन ग्रंथमाला में (नं० १२१) हाल ही में प्रकाशित मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम' नामक ग्रंथ इस तंत्र का एकमात्र प्राचीन प्रतिनिधि है । किसी माधवाचार्य के पुत्र वाजपेययाजी श्री नरसिंह यज्वा ने 'प्रतिष्ठा विधि-दर्पण' नामक ग्रंथ लिखा है जिसमें वैखानसों की आचार्य परंपरा का उल्लेख इस प्रकार है—नारायण— >विखनसमुनि— >काश्यप— >मरीचि और इन्हीं अंतिम आचार्य की रचना है प्रकाशित 'वैखानस आगम'। इस तंत्रका प्रभाव साधारण हिंदू समाज पर विशेष रूप से था, क्योंकि हमारे तृतीय आश्रम—वानप्रस्थ—का नियमन इसी के द्वारा निष्पन्न होता था । गौतम, बौधायन तथा वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में वानप्रस्थ यतियों के लिए 'वैखानस' शब्द का प्रयोग किया गया है । मनु इन्हें 'वैखानस मत का अनुयायी' बतलाते हैं (वैखानस-मत-स्थितः—मनु० ६ । ४१) । वैखानसों की अपनी मंत्र संहिता है तथा अपने सूत्र (गृह्य, धर्म तथा श्रौत) हैं । संहिता के अंतिम चार अध्यायों में विष्णु पूजा का विशेष विधान है । वैखानस गृह्यसूत्र में भी इसी प्रकार विष्णु अर्चाकी स्थापना, प्रतिष्ठा तथा अर्चना का विशिष्ट वर्णन है । इस प्रकार वैखानसोंकी अर्चाविधि नितांत वैदिक है । इनके किसी दार्शनिक तत्त्व का हमें पता नहीं चलता जिस पर वेद-विरोध का आरोप किया जाय ।[1]

—*—

१ विशेष द्रष्टव्य—लेखक का ग्रंथ 'भारतीय दर्शन' पृ० ५३६-४०

(४)

पुराणों में विष्णु

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय॥

—भागवत १०।४६।२६

१—वैष्णव पुराणों का परिचय

वेदों में निहित आर्ष के धर्म के व्यापक प्रचार तथा प्रसार के निमित्त पुराणों का निर्माण महर्षि कृष्ण-द्वैपायन व्यास ने किया। वेद ने जिस परमतत्त्व को ऋषियों के भी इंद्रिय, मन तथा बुद्धि से अप्राप्य देश में रख दिया था, पुराणों ने उस को सर्वसाधारण के इंद्रिय, मन तथा बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है। वेदों के सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म ने पुराणों में सौंदर्यमूर्ति तथा पतितपावन भगवान् के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेद कहते हैं—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। पुराण कहते हैं—एकं सत् प्रेम्णा बहुधा भवति। जनता के हृदय को स्पर्श करने की दृष्टि से इनकी भाषा भी सरल, सुबोध तथा सरस रखी गई है। पुराणों के बहुविध महत्त्वों में धार्मिक महत्त्व सबसे अधिक महत्त्वशाली है। सनातन धर्म की विजय वैजयंती को धार्मिक नभोमंडल में उड़ाने वाले पुराण ही हमारी जनता के मानस को आकृष्ट करनेवाले सबसे सुंदर लोकप्रिय धर्म-ग्रंथ हैं।

इन पुराणों में वैष्णव धर्म का महनीय इतिहास उल्लिखित किया गया है। अठारह पुराणों में से लगभग आधे पुराणों का संबंध वैष्णव धर्म से नितांत स्फुट है। मत्स्य, कूर्म, वाराह तथा वामन—इन चार पुराणों का नामकरण तथा निर्माण भगवान् विष्णु के चार अवतारों को लक्ष्य कर रखा गया है। नारद,

ब्रह्मवैवर्त, पद्म, विष्णु तथा श्रीमद्भागवत—इन पाँच पुराणों में विष्णु के आध्यात्मिक रूप तथा महिमा का व्यापक तथा सर्वांगसुंदर विवेचन प्रस्तुत किया है जिनमें अंतिम चार पुराण वैष्णव संप्रदायों के ऐतिहासिक विकाश की जानकारी के लिए नितांत महत्त्वशाली हैं।

(१) ब्रह्मवैवर्त पुराण[1] —यह सांप्रदायिक रहस्यों का महनीय निधि है। राधाकृष्ण की लीला, स्वरूप तथा संबंध के विषय में वैष्णव संप्रदायों में, विशेषकर गौडीय वैष्णव, वल्लभमत तथा राधावल्लभी मतों में, जिन साधनभूत रहस्यों का आजकल प्रचार है उनका मूल ब्रह्मवैवर्त पुराण में उपलब्ध होता है। कृष्ण की शक्तिभूता राधा के चरित्र का विस्तृत वर्णन इस पुराण में किया गया है। इस पुराण का अंतिम खंड—कृष्णजन्म खंड–विस्तार की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु वैष्णव तथ्यों के प्रकाशन की दृष्टि से भी आदरणीय है। राधा गोलोक (वैकुंठ) में भगवान् श्रीकृष्ण की हृदयेश्वरी प्राणवल्लभा है। श्रीदामा के शाप से राधा इस भूतल पर अवतीर्ण होती हैं (अ० ६)। यह पुराण कृष्ण के साथ राधाजी के विवाह का वर्णन करता है (अ० १५) अतः वे कृष्ण की स्वकीया ही हैं; इसमें तनिक भी संदेह नहीं। 'राधा' नामकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतलाई गई है—

राधेत्येवं संसिद्धा राकारो दानवाचकः।
स्वयं निर्वाणदात्री या सा राधा परिकीर्तिता ॥२२३

---

१ ब्रह्मवैवर्त (दो भाग पुस्तकाकार)—आनंदाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि में प्रकाशित, ग्रंथांक १०१, १०२, सन् १९३४—३५। पत्रात्मक रूप से वेंकटेश्वर प्रेस से भी प्रकाशित।

रा च रासे च भवनाद् धा एव धारणादहो ।
हरेरालिङ्गनादारात् तेन राधा प्रकीर्तिता ॥२२४
(ब्र० वै०, कृष्ण जन्म, अ० १७)

राधा का अर्थ है 'संसिद्धा' अर्थात् सम्यक् स्थित, नित्य। रा = दान, धा = आधान करनेवाली—इस व्युत्पत्ति से निर्वाण की दात्री होने के कारण ही वे राधा कहलाती हैं। रा = रास में स्थिति, धा = धारण। रास में विद्यमान रहने तथा भगवान् श्री कृष्ण को आलिंगन देने के कारण ही श्रीमती राधा इस नाम से प्रसिद्ध हैं। श्री कृष्ण के चरित्र की विभिन्न घटनाओं के अनुशीलन के लिए भी ब्रह्मवैवर्त मूल्य तथा महत्त्व रखता है।

(२) विष्णुपुराण—वैष्णव पुराणों में भागवत् की अपेक्षा द्वितीय कोटि में इस पुराण की गणना की जाती है। परिणाम में यह जितना स्वल्प है तत्त्वोन्मीलन में यह उतना ही महान् है। इसमें ६ अंश (अर्थात् खंड) तथा १२६ अध्याय हैं। इस प्रकार भागवत की अपेक्षा इसका परिमाण तृतीयांश है, परंतु रामानुज संप्रदाय में तो यह भागवत से कहीं अधिक महत्त्वशाली और प्रामाणिक माना जाता है। अवान्तर काल में विख्यात तथा विवेचित वैष्णव सिद्धांतों का मूलरूप हमें इस पुराण में उपलब्ध होता है। इसमें आध्यात्मिक विषयों का विवेचन बड़ी सरलता तथा सुगमता से किया गया है। पंचम अंश में श्री कृष्ण की लीलाओं का विशेष वर्णन है, परंतु यह अंश श्रीमद्भागवत की अपेक्षा मात्रा तथा कवित्व में न्यून है।

भगवान् विष्णु के दो रूप होते हैं—सगुण रूप तथा निर्गुण रूप। सृष्टि आदि व्यापारों के लिए तीनों गुणों की प्रेरणा से जब भगवान् ब्रह्मादिक त्रिविध रूपों को धारण करते हैं, तब यह

सगुण रूप होता है परंतु उनका अगुण रूप भी महान् होता है और उसी को 'परम-पद' की संज्ञा दी जाती है—

सृष्टि स्थित्यन्तकालेषु त्रिधैवं संप्रवर्तते ।
गुणप्रवृत्या परमं पदं तस्यागुणं महत् ॥
—वि० पु० १।२२।४१

परमात्मा का यह स्वरूप ज्ञानमय, व्यापक, स्वसंवेद्य (स्वयं प्रकाश) और अनुपम है और वह भी चार प्रकार का होता है—(क) साधनावलंबन ज्ञान, (ख) आलंबन विज्ञान, (ग) अद्वैतमय ज्ञान), (घ) ब्रह्म नामक[1] ज्ञान। भगवद् गीता (१५।१६) के समान विष्णुपुराण भी भगवान् का दो रूप मानता है—मूर्त तथा अमूर्त जो क्षर और अक्षररूप से समस्त प्राणियों में स्थित रहता है[2]। अक्षर तो ब्रह्म ही है और क्षर है यह जगत्। भगवान् की नाना शक्तियाँ हैं जिनमें तीन मुख्य होती हैं। नाना-शक्तिमय विष्णु ही उस ब्रह्म के पर-स्वरूप हैं और मूर्तरूप हैं जिनका योगी-जन योग के आरंभ में चिंतन करते हैं।[3] यह समस्त जगत् विष्णु में ही ओत-प्रोत है, उन्हीं से उत्पन्न हुआ है, यह उन्हींमें स्थित है और वे ही समस्त जगत् हैं—

तत्र सर्वमिदं प्रोतमोतं चैवाखिलं जगत् ।
ततो जगत् जगत् तस्मिन् स जगच्चाखिलं मुने ॥
(वि० पु० १।२२।६४)

---

१ द्रष्टव्य वि० पु० १ अंश, २२ अध्याय, ४४-५१ श्लोक
२ विष्णु पुराण १।२२।५५-५६
३ वहीं श्लोक ६१

इसी पद्य का आशय है—

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः।
हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः॥

इस संसार में तथा इसके बाहर जितने मूर्त तथा अमूर्त वस्तु समूह हैं वे सब भगवान् की ही मूर्ति हैं। यह भावना जिस हृदय में दृढ हो जाती है वही व्यक्ति राग-द्वेष रूपी संसार के रोगों से मुक्त हो जाता है—

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत्ततः कारण-कार्य-जातम्।
ईदृङ् मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति॥
(वि० पु० १।२२।८७)

षष्ठ अंश के पंचम अध्याय में भी अध्यात्म तत्त्वों का बड़ा ही विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'परं धाम' नाम से विख्यात परब्रह्म की ही अपर संज्ञा 'भगवान्' है (६।५।६८–६९)। वही वासुदेव नाम से भी अभिहित किया जाता है, क्योंकि—

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः॥
(वि० ६।५।८०)

उसकी प्राप्ति का उपाय है—स्वाध्याय तथा योग। स्वाध्याय है शास्त्रों का श्रवण तथा मनन। योग है निदिध्यासन। आत्म-ज्ञान के प्रयत्नभूत यम, नियम आदि की अपेक्षा रखनेवाली जो मन की विशिष्ट गति होती है उसका ब्रह्म के साथ संयोग होना ही योग कहलाता है—

आत्मप्रयत्न-सापेक्षा विशिष्टा या मनो गतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥
(वि० ६।७।३१)

इस योग के साथ भगवान् के नाम का स्मरण तथा कीर्तन भी मुक्ति में सहायक होता है। अतः विष्णुपुराण की दृष्टि में योग तथा भक्ति का समुच्चय मुक्ति की साधना में मुख्य उपाय है—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव॥
यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलायनमनुत्तमम्।
मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः॥
(वि० ६।८।१९–२०)

(३) पद्मपुराण—यह पुराण वैष्णव संप्रदाय के व्यावहारिकरूप को समझने के लिए विशेष उपयोगी है। राम तथा कृष्ण के चरित्र का वर्णन विस्तार के साथ है, परंतु वैष्णव तीर्थों तथा व्रतों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना इस पुराण की महती विशेषता है। उदाहरणार्थ, उत्तर खण्ड के अध्याय ३५ से लेकर ६५ अ० तक प्रतिमास की एकादशी की महिमा का वर्णन आख्यान के साथ किया गया है। दास, वैष्णव तथा भक्तों के स्वरूप का लक्षण अन्यत्र दिया गया है (अ० ८४)। भिन्न भिन्न मासों के वैष्णव व्रतों का बड़ा ही प्रामाणिक तथा रोचक विवरण यहाँ किया गया है—यथा चैत्र शुक्ल एकादशी को दोलोत्सव (अ० ८५), दूसरे दिन द्वादशी को दमनक महोत्सव (अ० ८६), वैशाख आदि मासों में देवशयनी महोत्सव (अ० ८७), श्रावण में पवित्रारोपण का विधान (अ० ८८)। कार्तिक तथा माघ के

माहात्म्य के विधान के अनंतर ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण आदि वैष्णव आचारों का विवरण है (अ० २५३)। विष्णु के स्वरूप का निरूपण कर यह पुराण विष्णु के मान्य अवतारों का विस्तार से वर्णन करता है। इस प्रकार पद्मपुराण का अनुशीलन वैष्णव धर्म के व्यावहारिक रूप, आचार, तीर्थ तथा व्रत आदि की जानकारी के लिए विशेष आवश्यक है[1]।

२—भागवत

श्रीमद्भागवत की प्रशंसा करना नितान्त कठिन है। संस्कृत साहित्य के एक अनुपम रत्न होने के अतिरिक्त भक्ति-शास्त्र का यह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का स्वयं गलित-फल है जिसे शुकदेव जी ने अपनी मधुर वाणी से संयुक्त कर अमृतमय बना डाला है[2]। व्यास जी की पौराणिक रचनाओं में इसे सर्वश्रेष्ठ कहना पुनरुक्तिमात्र है। इसकी भाषा इतनी ललित है, भाव इतने कोमल तथा कमनीय हैं कि ज्ञान तथा कर्म-कांड की सन्तत सेवा से ऊसर मानस में भी यह भक्ति की अमृतमय सरिता बहाने में समर्थ होता है। मेरी दृष्टि में वैष्णव-धर्म के अवांतर-कालीन समग्र संप्रदाय भागवत के ही अनुग्रह के विलास हैं, विशेषतः वल्लभ संप्रदाय तथा चैतन्य संप्रदाय जो उपनिषद्, भगवद्गीता तथा ब्रह्म सूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के साथ साथ

---

१ इसका प्रकाशन पुस्तकाकार ४ जिल्दों में आनंदाश्रम ग्रंथमाला, पूना से हुआ है।

२ निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रव-संयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥
—भागवत १।१।२

भागवत को भी अपना उपजीव्य मानते हैं। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधि भाषा' मानते हैं।[1] जिन परम तत्त्वों की अनुभूति व्यासदेव को समाधिदशा में हुई थी उन्हीं का विशद प्रतिपादन भागवत में किया गया है। वल्लभ तथा चैतन्य के संप्रदायोंको अधिक सरस, रसस्निग्ध तथा हृदयावर्जक होने का यही रहस्य है कि उनका मुख्य उपजीव्य ग्रंथ यही है—श्रीमद्भागवत। भागवत की भाषा इतनी ललित है, इतनी सरस है कि वह पाठकों और श्रोताओं के हृदय को बलात् आकृष्ट कर आनंद-सागर में डुबा देती है। उसमें सरस गेय गीतियों की प्रधानता है, परंतु भागवत की स्तुतियाँ इतनी आध्यात्मिकता से परिप्लुत हैं कि उनको बोधगम्य करना विशेष शास्त्र मर्मज्ञों की ही क्षमता की बात है। इसीलिए पंडितों में प्रचलित कहावत है—विद्यावतां भागवते परीक्षा।

भागवत की अंतरंग परीक्षा से पूर्व उसकी बहिरंग परीक्षा करना इस इतिहास-प्रधान युग में नितांत आवश्यक है। भागवत के विषय में संदेह किया जाता है कि श्रीमद्भागवत पुराणों के अंतर्गत है अथवा उपपुराणों के? कुछ लोग देवी भागवत को यह गौरव प्रदान करना चाहते हैं, परंतु उपलब्ध प्रमाणों के अनुशीलन से श्रीमद्भागवत की ही महापुराणता सिद्ध होती है। अनेक ग्रंथों में पुराणों के रूप तथा विषयों का वर्णन विस्तार से हमें मिलता है। मत्स्यपुराण के अनुसार उसी पुराण का नाम भागवत है जिसमें गायत्री के द्वारा धर्म का विस्तार तथा वृत्रासुर

---

१ वेदाः श्रीकृष्ण वाक्यानि व्यास-सूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम्॥ ७६
—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृ० ४६

का वध वर्णित है[1]। स्कन्द पुराण की सम्मति में भागवत १२ स्कंध, १८ सहस्र, हयग्रीव चरित, ब्रह्म विद्या तथा वृत्रवधसे मंडित है तथा गायत्री के द्वारा आरब्ध है[2]। गरुड़पुराण भागवत को ब्रह्मसूत्र तथा महाभारत के तात्पर्य का निर्णायक तथा गायत्री का भाष्यरूप बतलाता है तथा उसका परिमाण १२ स्कंध तथा १८ सहस्र श्लोक मानता है।[3] ये समग्र लक्षण वर्तमान श्रीमद्-भागवत में उपलब्ध होते हैं। वृत्रासुर की कथा भागवत के षष्ठस्कंध में १० वें अध्याय से लेकर १५ वें अध्याय तक वर्णित है। वृत्रवध के साहचर्य से हयग्रीव-ब्रह्मविद्या भी 'नारायण वर्म' का ही अपर नाम है जो भागवत के षष्ठ स्कंध के आठवें अध्याय में निबद्ध है। नारायण-वर्म ब्रह्मविद्या के नाम से प्रसिद्ध है (भाग० ६।८।५२)

---

१ यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्म-विस्तरः।
वृत्रासुर-वधोपेतं तद् भागवतमिष्यते ॥
—मत्स्यपुराण

२ ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः।
हयग्रीव—ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधस्तथा।
गायत्र्या च समारम्भस्तद् वै भागवतं विदुः॥ —स्कन्दपुराण

३ अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ-विनिर्णयः।
गायत्री-भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः।
द्वादशस्कन्ध-संयुक्तः शतविच्छेद-संयुतः।
ग्रन्थो ऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद् भागवताभिधः॥
—गरुडपुराण

भागवत का प्रथम पद्य नितांत गंभीर अध्यात्मतत्त्व का परिचायक है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

यह गंभीर पद्य गायत्री का भाष्य है क्योंकि गायत्री मंत्र में जो परमतत्त्व २४ अक्षरों में वर्णित है उसीका विस्तार इस लंबे पद्यमें किया गया है। शब्दका साम्य भी अवधारणीय है। सवितुः = जन्माद्यस्य यतः, देवस्य=स्वराट्। वरेण्यं भर्गः = धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं, धियो यो नः = तेने ब्रह्म हृदा। गायत्री मंत्र का 'धीमहि' पद इस पद्य के तथा भागवत के अंतिम पद्य (१२।१३।१९) के अंत में दोनों स्थानों पर उपलब्ध होता है जिससे भागवत को गायत्री से संपुटित मानना सर्वथा उचित है।

पद्मपुराण के भागवत-माहात्म्य (उत्तर खण्ड, अध्याय १८९–१९४) के अनुशीलन से भागवत की ही महापुराणता सिद्ध होती है। पद्मपुराण का कथन है कि भागवत की कथा होने के अवसर पर वेद, वेदांत, मंत्र, तत्र, संहिता तथा सत्रह पुराण उपस्थित हुए—

वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राणि संहिताः।
दशसप्त पुराणानि सहस्राणि तदाऽऽययुः॥

इस पद्य से स्पष्ट है कि भागवत ही अंतिम अठारहवाँ पुराण है। यदि ऐसी स्थिति नहीं होती, तो केवल १७ पुराणों की उपस्थिति का रहस्य क्या है? 'देवी भागवत' का नामकरण भी श्रीमद्भागवत के गौरव तथा महापुराणता की सिद्धि का पर्याप्त

प्रमाण है। प्रसिद्ध भागवत नामक पुराण से इस पुराण के पार्थक्य तथा वैशिष्ट्य सिद्ध करने के लिए ही इस के आदि में 'देवी' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः वैष्णव धर्म के सर्वस्वभूत श्रीमद्भागवत को ही अष्टादश पुराणों के अंतर्गत मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। पद्मपुराण का यह पद्य भागवत के स्वरूप तथा गौरव का स्पष्ट निर्देशक है—

श्रीमत् भागवताभिधः सुरतरुस्ताराङ्कुरः सज्जनिः
स्कन्धैर्द्वादशभिस्ततः प्रविलसद्भक्त्यालवालोदयः।
द्वात्रिंशत्-त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखाः सहस्राण्यलं
पर्णान्यष्ट-दशेष्टदोऽतिसुलभो वर्वर्ति सर्वोपरि ॥

—पद्म, उत्तरखण्ड १६४।७२

३—रचनाकाल

भागवत के रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों में आज भी अनेक भ्रांत धारणायें फैली हैं। पुराणों के नैसर्गिक महत्त्व से अपरिचित महर्षि दयानंद ने जबसे भागवत को बोपदेव की रचना लिख मारा, तब से साधारणजनों को कौन कहे? इतिहास के मर्मज्ञ कहलाने का दावा रखनेवाले विद्वानों ने भी इस मत को अभ्रांत सत्य मान लिया है। परंतु इस विषय का अनुसंधान हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि भागवत बोपदेव की (१३ वें शतक की) रचना न होकर उससे लगभग हजार वर्ष पहिले निर्मित हो चुका था। बोपदेव ने तो भागवत के विपुल प्रचार की दृष्टि से तीन ग्रंथों का निर्माण इसी विषय पर किया। उनके भागवत-विषयक ग्रंथ तीन हैं—

(१) हरिलीलामृत या भागवतानुक्रमणी जिसमें भागवत के समग्र अध्यायों की विशिष्ट सूची दी गई है।

(२) **मुक्ताफल**—यह भागवत के श्लोकों के नवरस की दृष्टि से वर्गीकरण का एक श्लाघनीय प्रयास है जिसमें इस पुराण के कमनीय पद्य शृंगारादि रसों के अंतर्गत चुनकर एकत्र किये गये हैं। ये दोनों ग्रंथ तो प्रकाशित हैं[1], परंतु इनका तीसरा एतद्विषयक ग्रंथ **परमहंसप्रिया** अभीतक अप्रकाशित ही है। क्या ग्रंथकार अपने ही ग्रंथ के श्लोकों के संग्रह प्रस्तुत करने का कभी प्रयास करता है ? यह कार्य तो अवांतरकालीन गुणग्राही लेखकों का प्रयत्न होता है। अन्य प्रमाणों पर दृष्टिपात कीजिए—

(क) हेमाद्रि ने जो यादवनरेश महादेव (१२६०–७१ ई०) तथा रामचंद्र (१२७१–१३०९ ई०) के धर्मामात्य तथा बोपदेव के आश्रयदाता थे अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' तथा 'दानखंड' में भागवत के श्लोकों को प्रमाण में उद्धृत किया है। क्या कोई भी ग्रंथकार धर्म के विषय में अपने किसी समकालीन लेखक के ग्रंथ का आदर तथा आग्रह से निर्देश करता है ?

(ख) द्वैतमत के आदरणीय आचार्य आनंदतीर्थ (मध्वाचार्य) ने जिनका जन्म ११९९ ई० में होना माना जाता है अपने भक्तों की भक्तिभावना की पुष्टि के निमित्त श्रीमद्भागवत के गूढ़ अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है अपने 'भागवत तात्पर्य निर्णय' नामक ग्रंथ में। वे भागवत को पंचमवेद मानते हैं।

(ग) रामानुजाचार्य (जन्मकाल १०१७ ई०) ने अपने 'वेदान्ततत्त्वसार' ग्रंथ में भागवत की वेदस्तुति (दशमस्कंध,

---

१ हरिलीलामृत चौखंभा सं० सी० काशी से प्रकाशित। मुक्ताफल टीका के साथ कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित है।

अध्याय ८७) से तथा एकादश स्कंध से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे भागवत का ११ शतक से प्रचीन होना नितांत सिद्ध है।

(घ) काशी के प्रसिद्ध सरस्वतीभवन पुस्तकालय में बंगाक्षरों में लिखी भागवत की एक विशिष्ट प्रति है जिसकी लिपि का काल दशम शतक के आसपास निर्विवाद सिद्ध किया गया है।

(ङ) शङ्कराचार्य के 'प्रबोध सुधाकर' के अनेक पद्य भागवत की छाया पर निबद्ध किये गये हैं, परंतु इन सबसे प्राचीन निर्देश मिलता है हमें शङ्कराचार्य के दादा-गुरु अद्वैत के महनीय आचार्य गौड़पाद के ग्रंथों में। गौड़पाद ने अपनी 'पंचीकरण व्याख्या' में 'जगृहे पौरुषं रूपम्' श्लोक उल्लिखित किया है जो भागवत के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय का प्रथम श्लोक है। उत्तर गीता की टीका में तो उन्होंने भागवत का निर्देश करके उसके निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य को उद्धृत किया है—

तदुक्तं भागवते—

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
—(भाग० १०।१४।४)

आचार्य शंकर का आविर्भावकाल सप्तम शतक में माना जाता है। उनके दादागुरु का समय षष्ठ शतक के उत्तरार्द्ध में मानना सर्वथा उचित होगा। अतः भागवत षष्ठ शतक से अर्वाचीन कथमपि नहीं हो सकता।

इस प्रकार गौडपाद के समय में प्रामाण्य के लिए उद्धृत होने से क्या किसी को अब भी संदेह रह सकता है कि भागवत की रचना १३ शतक के ग्रंथकार बोपदेव के हाथों की रचना नहीं है। इस भ्रांत धारणा को अपने हृदय से सर्वदा के लिए उन्मूलित कर देना चाहिए। भागवत कम से कम दो हजार वर्ष पुराना है। पहाड़पुर (राजशाही जिला, बंगाल) की खुदाई में मिली हुई राधाकृष्ण की मूर्ति (जिसका समय पचम शतक है) भागवत की प्राचीनता सिद्ध कर रही है।

भागवत का रूप

श्रीमत्भागवत का वर्तमान रूप ही प्राचीन है। उसमें क्षेपक की कल्पना नितांत निराधार है। इसमें १२ खंड या १२ स्कंध हैं तथा श्लोकों की संख्या १८ हजार है। इसमें किसी भी आलोचक को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती, परंतु अध्यायों के विषय में संदेह का अवसर है। अध्यायों की संख्या के विषय में पद्मपुराण का वचन है—द्वात्रिंशत्‌त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखाः'। चित्सुखाचार्य के अनुसार भी भागवत के अध्यायों की संख्या ३३२ ही है (द्वात्रिंशत् त्रिशतं पूर्णमध्यायाः), परंतु वर्तमान भागवत के अध्यायों की संख्या है—३३५। अतः किसी किसी टीकाकार ने दशम स्कंध के तीन अध्यायों—१२, १३ तथा १४ अध्याय—को प्रक्षिप्त माना है, परंतु श्रीजीव गोस्वामी ने इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा कर अध्यायों की संख्या ३३५ ही मानी है तथा पूर्वोक्त 'द्वात्रिंशत्‌त्रिशतं' पद में 'द्वात्रिंशत् च त्रयश्च शतानि च' इस प्रकार का विग्रह मानकर अपने मत का समर्थन किया है।

—❀—

भागवत की टीकायें

टीकासंपत्ति की दृष्टि से भी भागवत पुराण साहित्य में अग्रगण्य है। भागवत इतना सारगर्भित तथा प्रमेय-बहुल है कि व्याख्याओं के प्रसाद से ही उसके गंभीर अर्थ में मनुष्य प्रवेश पा सकता है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' कोई निराधार आभाणक नहीं है। समस्त वेद का सारभूत, ब्रह्म तथा आत्मा की एकता-रूप अद्वितीय वस्तु इसका प्रतिपाद्य है और यह उसी में प्रतिष्ठित है। कैवल्य-मुक्ति-ही इसमें निर्माण का एकमात्र प्रयोजन है। इसी के गंभीर अर्थ को सुबोध बनाने के निमित्त अत्यंत प्राचीन काल से इससे ऊपर टीकाग्रंथों की रचना होती चली आ रही है। इनमें से मुख्य टीकाओं का ही विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। विभिन्न वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों ने अपने मत के अनुकूल इस पर प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं और अपने मत का भागवत-मूलक दिखलाने का उद्योग किया है।

(१) श्रीधर स्वामी—भावार्थदीपिका।

श्रीधरस्वामी की टीका उपलब्ध टीकाओं में सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्राचीन प्रतीत होती है। इनका समय ११ वीं शताब्दी माना जाता है। टीका के मंगल श्लोक से जान पड़ता है कि ये नृसिंह भगवान् के उपासक थे। इनकी टीका के विषय में यह प्रसिद्ध है—

> व्यासो वेत्ति शुको वेत्ति राजा वेत्ति न वेत्ति वा।
> श्रीधरः सकलं वेत्ति श्रीनृसिंह-प्रसादतः।

भागवत का मर्म व्यास जी तथा उनके पुत्र शुकदेव जी जानते हैं। राजा परीक्षित के ज्ञान में संदेह है कि वे जानते हैं कि नहीं। परंतु ऐसे गंभीर अर्थ को भी श्रीधर स्वामी भगवान् नृसिंह की कृपा से भली भाँति जानते हैं। चैतन्य को श्रीधर टीका में इतनी आस्था थी कि वे कहा करते थे कि जिस प्रकार स्वामी की प्रतिकूला भार्या पतिव्रता नहीं हो सकती, उसी प्रकार स्वामी का प्रतिकूल व्यक्ति भागवत का मर्म समझ ही नहीं सकता। श्रीधरी शंकराचार्य के अद्वैतानुयायिनी है, परंतु भिन्न मत होने पर भी चैतन्य संप्रदाय का आदर इसके महत्त्व तथा प्रामाण्य का पर्याप्त परिचायक है। इसीलिए यह टीका सर्वोपेक्षा अधिक लोकप्रिय है। इस टीका की उत्कृष्टता के विषय में नाभादास जी ने अपने भक्तमाल में एक प्राचीन आख्यान का निर्देश किया है। श्रीधर के गुरु का नाम परमानंद था जिनकी आज्ञा से काशी में रह कर ही इन्हों ने भागवत की टीका लिखी। टीका की परीक्षा के निमित्त यह ग्रंथ बिंदुमाधव जी की मूर्ति के सामने रख दिया गया। एक प्रहर के बाद पट खोलने पर लोगों ने आश्चर्यभरे लोचनों से देखा कि माधव जी ने इस व्याख्या-ग्रंथ को अन्य ग्रंथों के ऊपर रखकर उत्कृष्टता-सूचक अपनी मुहर लगा दी थी। तब से इसकी ख्याति समस्त भारतवर्ष में हो गई। नाभादास जी के शब्दों में—

तीन काण्ड एकत्व सानि कोउ अज्ञ बखानत।
कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थ को अनरथ बानत।
'परमहंससंहिता' विदित टीका विसतारयौ।
षट् शास्त्रनि अविरुद्ध वेद-सम्मतहिं विचारयौ।

'परमानंद' प्रसाद तें माधौ सुकर सुधार दियौ।
श्रीधर श्री भागौत मैं परम धरम निरनै कियौ॥
(छप्पय ४४०)

श्रीधर ने इस ग्रंथ में वेदांत के प्रसिद्ध आचार्य चित्सुखाचार्य की टीका का निर्देश किया है। राधारमणदास गोस्वामी ने **दीपनी** नामक व्याख्या श्रीधर पर लिख कर उसे सुबोध बनाया है।

विशिष्टाद्वैत टीकायें—

(२) सुदर्शन सूरि—शुकपक्षीया

श्रीरामानुज के श्रीभाष्य पर 'श्रुतप्रकाशिका' के रचयिता सुदर्शन सूरि विशिष्टाद्वैत मत के विशिष्ट आचार्य हैं। इनका समय १४ श० ईस्वी था। सुनते हैं कि दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के सेनापति ने जब १३६७ ई० में श्रीरंगम् पर आक्रमण किया था, तब उस युद्ध में ये मारे गये थे। इनकी टीका परिमाण में स्वल्प होने पर भी भावप्रकाशन मे गंभीर है।

(३) वीरराघव—भागवत चंद्रिका

वीरराघव की यह टीका पूर्व टीका की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। ये सुदर्शन सूरि के ही अनुयायी हैं। समय १४ शतक माना जाता है। रामानुज के मतानुसार भागवत के रहस्यों की जानकारी के लिए यह टीका अनुपम है। ये वत्सगोत्री श्रीशैलगुरु के पुत्र थे, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है।

द्वैतमत टीका

(४) विजयध्वज-पदरत्नावली

द्वैत मत के प्रतिष्ठापक श्रीमध्वाचार्य ने भागवत के रहस्यों के उद्घाटनार्थ, 'भागवत तात्पर्य निर्णय' नामक ग्रंथ लिखा था,

परंतु यह वस्तुतः व्याख्या नहीं है। इस मत के अनुकूल प्रसिद्ध टीकाकार हैं **विजयध्वज** जिन्होंने अपनी 'पदरत्नावली' में भागवत की द्वैतपरक व्याख्या लिखी है। अपनी टीका के आरंभ में इन्हों ने आनंदतीर्थ (मध्वाचार्य) तथा विजयतीर्थ के ग्रंथ के आधार पर अपने टीकानिर्माणकी बात लिखी है[1]। आनंद तीर्थ का तो पूर्वोक्त ग्रंथ प्रसिद्ध ही है, परंतु विजयतीर्थ के भागवत-विषयक ग्रंथ का पता नहीं चलता। पदरत्नावली सुबोध तथा प्रामाणिक है।

वल्लभमत टीका

(५) वल्लभाचार्य–सुबोधिनी

आचार्य वल्लभ ने शुद्धाद्वैत मत के अनुसार अपनी प्रसिद्ध टीका सुबोधिनी लिखी है। यह समग्र भागवत के ऊपर उपलब्ध नहीं होती। आरंभ के कतिपय स्कंधों के अतिरिक्त यह संपूर्ण दशम स्कंध के ऊपर है। सुबोधिनी बड़ी ही गंभीर तथा विवेचनात्मक व्याख्या है। वल्लभाचार्य ने भागवत के स्कंधों का नई दृष्टि से विभाग कर उसमें नये अर्थ ढूँढ़ निकाला है। वे कहते हैं कि भगवान् विष्णु के स्पष्ट आदेश पाकर ही उन्होंने इस टीका का निर्माण किया है। इनके संप्रदाय में **गिरिधर** महाराज ने भी भागवत पर टीका लिखी है जिसमें स्कंधों के ही विषय का नहीं, प्रत्युत उनके अध्यायों के विषय का भी बड़ा ही सूक्ष्म विभाजन प्रस्तुत किया गया है। भागवत के आख्या-

---

१ आनन्दतीर्थ-विजयतीर्थौ प्रणम्य मस्करि-वर-वन्द्यौ।
तयोः कृतिं स्फुटमुपजीव्य प्रवच्मि भागवतं पुराणम्॥
—टीका का आरंभ

त्मिक अर्थ समझने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। अन्य टीकायें भी छोटी मोटी यहाँ उपलब्ध होती हैं।

निम्बार्क मत टीका

(६) शुकदेवाचार्य–सिद्धांत प्रदीप

आचार्य निंबार्क की लिखी भागवत की कोई व्याख्या नहीं मिलती। उनके मतानुयायी शुकदेवाचार्य ने भागवत की यह नई टीका लिखकर अपने सिद्धांतों का प्रकाशन किया है। टीका के आरंभ में इन्होंने अपने प्राचीन आचार्य श्रीहंस भगवान्, सनत्कुमार, देवर्षि नारद तथा निंबार्काचार्य को नमस्कार किया है। यह टीका तो पूरी भागवत पर है, परंतु इस मत के अन्य आचार्यों ने दशम स्कंध के रासलीला आदि प्रसंगों की बड़ी ही सरस व्याख्या प्रस्तुत की है।

चैतन्य संप्रदाय—

(७) सनातन गोस्वामी–बृहद् वैष्णव तोषिणी

श्रीचैतन्य श्रीधर स्वामी की टीका को अपने मत के लिए भी प्रामाणिक मानते थे, परंतु उनके अनुयायी गोस्वामियों ने भागवत पर अनेक माननीय टीकाओं का निर्माण किया है जिनमें सनातन गोस्वामी की यह टीका प्राचीनतर तथा अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। यह केवल दशम स्कंध पर ही है।

(८) जीव गोस्वामी–क्रमसंदर्भ

जीव गोस्वामी की यह टीका समस्त भागवत के ऊपर है। व्याख्यान की दृष्टि से बड़ी ही प्रामाणिक तथा तलस्पर्शिनी है। जीव गोस्वामी भागवत के अनुपम मार्मिक विद्वान् थे और इस पुराण के गूढ़ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने षट् संदर्भ

नामक ६ संदर्भों की पृथक् रचना की है। यह क्रमसंदर्भ एक प्रकार उनका सप्तम संदर्भ है। अपने पितृव्य रूप और सनातन की आज्ञा से निर्मित होने के कारण ये इस ग्रंथ को 'रूपसनातनानुशासन भारती गर्भ' कहा है[1]।

(६) *विश्वनाथ चक्रवर्ती–सारार्थदर्शिनी*

विश्वनाथ चक्रवर्ती चैतन्य संप्रदाय के मान्य आचार्य थे। इन्होंने ही भागवत की यह सुबोध टीका निबद्ध की है जो श्रीधर स्वामी, प्रभुचैतन्य तथा उनके गुरु के व्याख्यानों का सार संकलन करने के कारण 'सारार्थ दर्शिनी' नाम से विख्यात है।[2] यह टीका है तो लघ्वक्षर परंतु श्लोकों के मर्म समझने में नितांत कृतकार्य है।

इन टीकाकारों के अतिरिक्त भागवत को अन्य मान्य व्याख्याताओं ने भी अपने व्याख्यान-ग्रंथों से सज्जित किया है। जीव गोस्वामी ने अपने 'तत्त्व-संदर्भ' (पृष्ठ ६७) में हनुमद्भाष्य, वासनाभाष्य, संबंधोक्ति, विद्वत्कामधेनु, तत्त्वदीपिका, भावार्थदीपिका, परमहंसप्रिया तथा शुकहृदय नामक व्याख्याग्रंथों का स्पष्ट निर्देश किया है जिनमें भावार्थदीपिका के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ अप्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त श्री गंगासहाय विद्यावाचस्पति की 'अन्वितार्थ प्रकाशिका', 'वंशीधरी', 'चूर्णिका', आदि दूसरी टीकाएँ भी उपलब्ध हैं।

---

१ क्रमसंदर्भ की पुष्पिका इस प्रकार है—श्रीरूपसनातनानुशासन भारती गर्भे सप्तसन्दर्भात्मक श्रीभागवत-सन्दर्भे प्रथमस्कन्धस्य क्रमसन्दर्भः समाप्तः।

२ श्रीधरस्वामिनां श्रीमत्प्रभूणां श्रीमुखाद् गुरोः।
व्याख्यासु सारग्रहणात् इयं सारार्थदर्शिनी।
—टीका की पुष्पिका।

श्रीहरि—हरिभक्ति रसायन

श्रीहरि एक महनीय कवि तथा भक्त हो गये। ये गोदावरी-तट निवासी सदाचारी काश्यपगोत्री ब्राह्मण थे। इस टीका का रचना काल है १७५६ शक। यह दशम स्कंध के पूर्वार्ध पर ही है और है स्वयं पद्यात्मक टीका। कुल ४६ अध्याय हैं और विविध छंदों में लगभग ५ हजार श्लोक हैं। श्रीहरि का कहना है कि भगवान् का प्रसाद ग्रहण कर ही वे इस ग्रंथ की रचना में प्रवृत्त हुए। यह साक्षात् टीका न होकर प्रभावशाली मौलिक ग्रंथ है जिनमें भागवती लीला का कोमल पदावली में ललित विन्यास है। इनकी प्रतिभा के प्रकाशक ये पद्य पर्याप्त[1] होंगेः—

अगाधे जलेऽस्याः कथं वाम्बुकेलिः ममाग्रे विधेयेति शङ्कां प्रमार्ष्टुम्।
क्वचिज्जानुदघ्ना क्वचिन्नाभिदघ्ना क्वचित् कण्ठदघ्ना च सा किं तदासीत्॥

बालकृष्ण भक्तों के चरणरज को मुख में डालकर भक्त-वत्सलता प्रकट कर रहे हैं—

मय्येव सर्वार्पित-भावना ये
माान्या हि ते मे त्विति किन्नु वाच्यम्।
मुख्यं तदीयाङ्घ्रिरजोऽपि मे स्या-
दित्यच्युतोऽधात् स्फुटमात्तरेणुः॥

---

१ पूर्वोक्त टीकाओं में बृहद् वैष्णव तोषिणी को छोड़ कर अन्य आठ टीकाओं का एकत्र प्रकाशन श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारी ने वृंदावन से सं० १६५८ में किया था। भागवत का यह सुंदर संस्करण अब नितांत दुर्लभ है। हरिभक्ति-रसायन काशी से कभी निकला था। आज यह भी दुर्लभ है। अन्य टीकायें व्यंकटेश्वर प्रेस में छपी हैं और प्राप्य हैं।

४—भागवत का साध्य-तत्त्व

भागवत पुराण के दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन प्राचीन आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म गवेषणा के साथ किया है। भागवत के अनुशीलन से इसके अभिमत सिद्धांत का परिचय भली भाँति किया जा सकता है। भागवत का अध्यात्म-पक्ष है पूर्ण अद्वैत तथा व्यवहार पक्ष है विशुद्ध भक्ति। भागवत की यही विशेषता है कि वह अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का सामञ्जस्य उपस्थित करता है।

श्री भगवान् ने अपने तत्त्व का विवेचन ब्रह्मा जी से इस प्रकार किया है:—

अहमेवासमेवाऽग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
भागवत २।६।३२

इसका आशय है कि सृष्टि के पूर्व केवल मैं ही था—दूसरी कोई वस्तु नहीं थी। तब मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अथवा कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत् अथवा कारणात्मक सूक्ष्म भाव न था। यहाँ तक कि दोनों का कारण-रूप प्रधान भी अंतर्मुख होकर मुझमें ही लीन था। सृष्टि के परे ही हूँ अर्थात् यह प्रपंच, यह विश्व मैं ही हूँ। सबके लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रह जाऊँगा। इस पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भागवत की दृष्टि में निर्गुण, सगुण, जीव और जगत् सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म स्वयं स्वरूपतः निर्गुण हैं। माया के योग से वही सगुण है। अविद्या के कारण प्रतिबिंबरूप में जीव है। और विवर्तरूप में वही जगत् है।

चैतन्य ही ब्रह्म या भगवान् का रूप है, परंतु जब वह सत्त्व-गुण रूपी उपाधि के द्वारा अवच्छिन्न नहीं होता तब वह अव्यक्त और निराकार भाव में वर्तमान रहता है। इसी को 'निर्गुण ब्रह्म' कहते हैं। जब यह सत्त्व से अवच्छिन्न होता है तब वह साकार या सगुण रूप में व्यक्त होता है। वस्तुतः साकार और निराकार एक ही वस्तु हैं। चिद्-वस्तु स्वरूपतः अव्यक्त है परंतु प्रकृति के सत्त्व गुण के संबंध से यह व्यक्त होती है परंतु व्यक्त होकर भी वह एक ही रहती है। अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप में आने पर ब्रह्म अनेक रूपों में अपने को व्यक्त करता है। इसका कारण है सत्त्वगुण में तारतम्य। सत्त्व दो प्रकार का होता है—विशुद्ध और मिश्र। मिश्र सत्त्व भी एक गुण के मिश्रण अथवा दो गुणों के मिश्रण के कारण दो प्रकार का होता है—एक गुण के मिश्रण में भी मिश्रसत्त्व रजोमिश्र तथा तमोमिश्र के भेद से दो प्रकार का होता है। इस प्रकार सत्त्व गुण के तारतम्य से भगवान् का साकार रूप चार प्रकार का होता है—

(१) तुल्यबल रजोगुण और तमोगुण से मिश्रित सत्त्व से अवच्छिन्न चैतन्य। इसी रूप का नाम है पुरुष।

(२) शुद्ध सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य—इसी को विष्णु कहते हैं।

(३) रजोमिश्र सत्त्वावछिन्न चैतन्य–इसका नाम है ब्रह्मा।

(४) तमोमिश्र सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य–इसका नाम है रुद्र।

निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन भागवत में उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार उपनिषदों में। सगुण दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान कारण कहते हैं। परंतु निराकार दृष्टि से वह न तो कार्य है और न कारण। वह गुणा-

तीत है, काल के द्वारा अपरिच्छिन्न है। शांत तथा अद्वय है। यही विष्णु का परम पद है। भागवत इस रूप के वर्णन में कह रहा है:—

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तत् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥
भागवत २।२।१८

अर्थात् जिस परम पूज्य भगवान् को योगी लोग 'यह नहीं, यह नहीं' इस प्रकार विचार के द्वारा तद्भिन्न पदार्थों का परिहार करने की इच्छा करते हुए विषयासक्ति को छोड़कर अनन्य प्रेम-पूर्ण हृदय से प्रतिक्षण आलिंगन करते रहते हैं उसी को 'विष्णु' का परम पद कहा जाता है। देवकी ने स्तुति के अवसर पर इसी परम रूप का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। वह कहती हैं:—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥
—भाग० १०।३।२४

हे प्रभो, वेद में आप के जिस रूप को अव्यक्त तथा सब का कारण कहा गया है, जो व्यापक ज्योतिःस्वरूप है, जो गुणहीन, विकारहीन निर्विशेष तथा क्रियाहीन सत्तामात्र है, वही बुद्धि के प्रकाशक आप स्वयं विष्णु हैं। निर्गुण ब्रह्म का यही विशुद्ध रूप है।

इस निर्गुण परमेश्वर का आदि अवतार ही पुरुष है—

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य। भागवत २।६।४१

परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि कार्य करता है, जो स्वरूपः एक होते हुए भी, नाना प्रकार से निखिल प्राणियों का विस्तार करता है, जो माया के संबंध से रहित होते हुए भी माया से युक्त सा प्रतीत होता है उसी को 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से विभिन्न अवतारों की अभिव्यक्ति होती है। ये केवल संकल्पमात्र से सब कार्यों का संपादन करते हैं। इसलिये प्रकृति और प्रकृति-जन्य पदार्थों में प्रविष्ट होते हुए भी अचिंत्य शक्ति के द्वारा उनसे तनिक भी स्पर्श नहीं होता; सदा विशुद्ध रहते हैं।

भागवत का स्पष्ट कथन है कि आदिदेव नारायण प्रकृति में अधिष्ठित होकर पञ्चभूतों की सृष्टि करते हैं तथा उनके द्वारा ब्रह्माण्ड नामक विराट् पुरी अथवा देह की रचना करते हैं। तत्पश्चात् उसमें अपने अंश के द्वारा प्रवेश करते हैं। इस प्रकार विराटपुरी में जीव कला के द्वारा प्रवेश करने पर 'नारायण' ही पुरुष शब्द के द्वारा अभिहित किये जाते हैं:—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्म – सृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान–
मवाप नारायण आदिदेवः॥
—भागवत–११।४।३

भगवान् वामन के वर्णन प्रसंग में भागवत में भागवत में पुरुष रूप का बड़ा ही प्राञ्जल वर्णन उपलब्ध होता है (भागवत ८।२०।२१-३३)। यह रूप त्रिगुणात्मक है। उसमें आकाश पाताल, मनुष्य, देवता आति समस्त स्थावर जंगम पदार्थ दृष्टिगोचर हुए थे। दैत्यराज बलि ने अपने ऋत्विक्,

आचार्य आदि के साथ समस्त त्रिगुणात्मक विश्व को उसी प्रकार देखा था जिस प्रकार अर्जुन ने भगवत्कृपा से दिव्य चक्षु प्राप्त कर कृष्ण के शरीर में विश्वरूप का दर्शन किया था। भगवान् का यही पुरुषरूप जगत् की सृष्टि के लिये रजोगुण के अंश में ब्रह्मा बनता है। स्थिति के लिये सत्त्वगुण के अंश में यज्ञपति विष्णु बनता है तथा संहार के लिये तमोगुण के अंश में रुद्ररूप धारण करता है। (भागवत ११।४।५)।

शुद्ध सत्त्वात्मक विष्णु का विशेष वर्णन भागवत के दशम स्कंध (१०।८६।५४-५६) में उपलब्ध होता है। इस रूप का दर्शन श्रीकृष्णचंद्र ने अर्जुन के साथ द्वारका के मृत ब्राह्मण-कुमार को लेने के लिये गर्भोदक में जाकर किया था। कृष्ण और अर्जुन ने रथ पर सवार होकर पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया और सप्त समुद्र, सप्त द्वीप तथा लोकाऽलोक पर्वत को लाँघ कर घन घोर अंधकार में प्रवेश किया। सुदर्शन चक्र के बल पर अंधकार के दूर होने पर उन्हें भागवत ज्योति का दर्शन हुआ। अर्जुन ने इस ज्योति की झलक न सहकर अपनी आँखें मूँद ली। इसके बाद उत्ताल तरंगों से युक्त समुद्र[1] में एक अत्यंत प्रकाशमान भवन दिखलाई पड़ा जो श्रीधरस्वामी के मत में 'महाकालपुर' था। यहीं पर शेषनाग के ऊपर शयन किये हुए महाविष्णु दिखलाई पड़े जिसे भागवतकार ने 'पुरुषोत्तमोत्तम' तथा 'परमेष्ठिनां पतिः' कहा है। महाविष्णु का शरीर श्याम

---

१ हेमाद्रि के अनुसार इस समुद्र का नाम (ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता—भाग० १०।८६।५३) 'गर्भोदक' है। इस गर्भोदक का वर्णन प्राचीन आगम साहित्य में विशेषतः उपलब्ध होता है।

प्रभा के पुञ्ज से झलक रहा था, तथा वे कुंतल दाम, श्रीवत्स चिन्ह, कौस्तुभ तथा वनमाला से विभूषित थे। उनकी आठों भुजाएँ सुशोभित हो रही थीं। वे अपने पार्षदों के द्वारा संतत परिवेष्टित होकर विराजमान थे। भगवान् विष्णु का यह तो एक रूप है, परंतु वे भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति के लिये स्वयं 'अरूपी' होकर भी नाना रूपों को ग्रहण किया करते हैं—

> तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवँस्तव ।
> यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥
>
> (भाग० ३।२४।३१)

भगवान् भक्तवत्सल ठहरे। भक्तों ने जिस रूप में उन्हें पुकारा, वे उन रूपों को ग्रहण कर सद्यः प्रकट हो जाते हैं:—

> त्वं भावयोग-परिभावितहृत्सरोजः
> आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
> यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
> तद् वद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥
>
> (भाग० ३।९।११)

भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति के लिए भगवान विष्णु के पुरुषावतार तथा गुणावतार के अतिरिक्त कल्पावतार, मन्वन्तरा-वतार, युगावतार तथा स्वल्पावतार अन्य चार अवतार होते हैं जिनका विस्तृत वर्णन भागवत में मिलता है।

एक दूसरी दृष्टि से भी इस परम तत्त्व की मीमांसा की जा सकती है। भागवत का कथन है कि परमार्थतः एक ही अद्वय ज्ञान है। वही ज्ञानियों के द्वारा 'ब्रह्म', योगियों के द्वारा

'परमात्मा' तथा भक्तों के द्वारा 'भगवान्' कहा जाता है। भेद है केवल उपासकों की दृष्टि का, उपासना के तारतम्य का। वस्तु के रूप में वस्तुतः कोई भी भेद या पार्थक्य नहीं है। एक ही वस्तु दूध भिन्न भिन्न इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने पर नानागुणों वाली जान पड़ती है; नेत्रों के द्वारा दूध शुक्ल गुण-वाला ही प्रतीत होता है और जिह्वा के द्वारा मधुर आदि। उसी प्रकार एक अभिन्न परम तत्त्व नाना रूपों में उपासना की दृष्टि से भिन्न प्रतीत होता है[1]—

> वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ (भाग० १।२।११)

परंतु एक ही अभिन्न पदार्थ के नानारूपों के धारण करने का कारण है—भगवान् की अचिन्त्य शक्ति। इस अचिन्त्य शक्ति की लीला भी विचित्र है। इसी के कारण वह एक होते हुए अनेक प्रतीत होता है, और अनेक भासित होकर भी वस्तुतः एक ही है। भगवान् श्रीकृष्ण इसी शक्ति के बल पर एक समय में ही द्वारिका में अपनी षोडश सहस्र प्रियतमाओं के महल में पृथक् कार्य में निरत होकर नारद जी को दृष्टिगोचर हुए थे (भाग १०।६९) इसी लिए अक्रूर ने श्रीकृष्ण की 'बहु-मूर्त्येकमूर्तिकम्' कह कर स्तुति की है[2]। विष्णु पुराण के 'एका-

---

१ कपिल ने इसी बात का प्रतिपादन किया है—

> यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
> एको नानेयते तद्वत् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ॥

२ अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाऽभिहितेन ते।
> यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥
>
> —भाग० १०।४०।७

नेक स्वरूपाय' तथा गोपाल पूर्वतापनी के 'एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति' (मत्र २०) वाक्य का लक्ष्य इसी अचिन्त्य शक्ति की ओर है।

शक्ति के प्रकार

भगवान् अनंत शक्तियों का निवास है, परंतु इन शक्तियों को तीन श्रेणी में विभक्त किया जाता है—(१) स्वरूपशक्ति, (२) मायाशक्ति, (३) जीव शक्ति । स्वरूपशक्ति चिच्छक्ति या अंतरंग शक्ति कहलाती है, मायाशक्ति जड़शक्ति या बहिरंग शक्ति तथा दोनों के बीच में स्थित होने के कारण जीवशक्ति तटस्थशक्ति कहलाती है। अव्यक्तावस्था में ये तीनों शक्तियाँ ब्रह्म में ही लीन रहती हैं और अंतर्लीन-विमर्श होने से वह परमतत्त्व 'ब्रह्म' नाम से अभिहित होता है। तथा शक्तियों की अभिव्यक्ति होने पर वही 'भगवान्' की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। अव्यक्त तथा व्यक्त—ये दोनों ही दशायें उसमें एक साथ रहती हैं। एक ही स्वरूप में केवलत्व तथा भगवत्त्व इन दोनों परस्पर विरोधी धर्मों का एक साथ वह आश्रय होता है। यह सब कुछ है भगवान् की अचिंत्य शक्ति का विकास, अचिंत्य ऐश्वर्य का विलास। भागवत के शब्दों में भगवान् में परस्पर विरुद्ध धर्मों का कितना सामञ्जस्य है—

कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते
दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम् ।
कालात्मनो यत् प्रमदायुताश्रयः
स्वात्मन् रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥
(भाग० ३।४।१६)

भगवान् अनीह होकर भी कर्मासक्त हैं, अजन्मा होने पर भी जन्म लेते हैं, कालात्मक होने पर भी दुर्गका आश्रय तथा शत्रु से पलायन करते हैं; आत्मरति होने पर भी असंख्य प्रमदाओं के संग विहार करते हैं—इन विरुद्ध गुणों के आश्रय होने के कारण ही भगवान् के वास्तव रूप को समझने में विद्वानों की भी बुद्धि थक जाती है।

भगवान् के इसी अचिंत्य-रूप का वर्णन वृत्रासुर से संत्रस्त देवताओं ने बड़ी ही सुंदर भाषा में किया है। उनका कथन है कि भगवान् की लीला दुरव-बोध है। उसकी इयत्ता तथा प्रसार का ज्ञान इदमित्थं रूपेण किसी भी विवेचक को नहीं हो रवकता। 'दुरवबोधोऽयं तव विहार-योगः' देवताओं की यह उक्ति भगवान् की अचिंत्य शक्ति की परिचायिका है:—

दुरवबोध इवायं तव विहारयोगः यद् अशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मना एव अविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि। —भाग० ६।६।३४

भगवान् आश्रयशून्य हैं, शरीररहित हैं, स्वयं अगुण हैं तथापि अपने स्वरूप के द्वारा ही इस सगुण विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करते हैं और इससे उनमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता।

जिस प्रकार सूर्यमंडलस्थ एक ही तेजमंडल बाहरी किरण समूह तथा उनके प्रतिफलन के रूप में विभिन्न भाव से वर्तमान रहता है, उसी प्रकार एक ही परम तत्त्व अपनी स्वभावसिद्ध अचित्य अनंत शक्ति की महिमा से सर्वदा स्वरूप, जीव तथा प्रधान रूप में विचित्र नाना भावों में विराजमान रहता है।

भगवान् के तीन रूप

श्रीमद्भागवत के गंभीर अनुशीलन करने से भगवत्-तत्त्व के विषय में नितांत गंभीर तथा गूढ़ रहस्यों का परिचय उपलब्ध होता है। भगवान् का स्वरूप तीन प्रकार का जान पड़ता है—(१) स्वयंरूप, (२) तदेकात्मरूप तथा (३) आवेशरूप।

(१) 'स्वयंरूप' ही मुख्य रूप है। यह रूप अनन्यापेक्षी है अर्थात् किसी अन्य की अपेक्षा बिना किये ही यह रूप सिद्ध होता है। जिस प्रकार संख्यामें द्वित्व आदि संख्यायें अपेक्षा-बुद्धि-जन्य होती हैं, परंतु एकत्व संख्या किसी की अपेक्षा के बिना भी स्वतः सिद्ध होती है, वही अवस्था है भगवान् के स्वयं-रूप की। वस्तुतः सच्चिदानंद-विग्रह, परम-सौंदर्य-निकेतन तथा परम-नयनाभिराम स्वयंरूप ही भगवान् का सर्वश्रेष्ठ रूप है। भगवान् के इस रूप से सृष्टि-स्थिति आदि व्यापारों की सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत उनके अंश रूपों का ही यह कार्य है; भगवान् का साक्षात् कार्य नहीं है। भगवान् स्वयंरूप से अपने ही साथ अपनी ही लीला में नित्य निमग्न रहते हैं। भगवान् का देह प्राकृतिक न होकर चिन्मय, आनंदमय होता है। वे स्वयं देह भी हैं और आत्मा भी हैं—उनके देह तथा आत्मा में किसी प्रकार का अंतर नहीं है। इस विषय में भागवत की बड़ी मार्मिक उक्ति है—

> गोप्यः तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
> लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
> दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
> मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥
> (भाग० १०।४४।१४)

गोपियाँ भगवान् के जिस लावण्य निकेतन रूप का प्रतिदिन दर्शन किया करती हैं वह रूप है—अनन्यसिद्ध अर्थात् स्वतः सिद्ध स्वयमुद्भूत रूप। यह केवल लावण्य का ही सार नहीं है, अपितु यश, श्री तथा ऐश्वर्य का भी एकमात्र आश्रय है तथा नित्य नूतन है। इसके समान दूसरा रूप कोई नही है, उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ रूप की कल्पना तो नितांत असंभव है।

भक्त के नेत्रों के सामने भगवान् का शरीर मध्यम आकार का प्रतीत होता है, परंतु सब का आधार होने के कारण वह सर्व-व्यापक ही होता है। भगवान् का शरीर भी 'नित्यसुखबोध' रूप होता है। त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते, भाग० १०।१४।२२। माया नामक शक्ति के द्वारा यह संसार भगवान् से उत्पन्न होता है और पुनः संहार के अवसर पर उसमें लीन हो जाता है।

भगवान् की एक द्वारिकालीला ने नारद जी को भी आश्चर्य में डाल दिया था। एक ही समय भगवान् श्रीकृष्ण ने एक ही देह से स्थित होते हुए भी सोलह हजार रानियों से विवाह किया था—यह घटना नारद को भी चकित करने वाली थी। भगवान् के इस रूप को योगशास्त्र में परिचित 'निर्माणकाय' या 'निर्माण-चित्त' मानना उचित नहीं है क्योंकि निर्माणकाय होता है मायिक देह या बैन्दव देह, परंतु भगवान् का यह रूप नित्य-सिद्ध देह था—उसी समय रचा गया मायिक देह नहीं था। इसे ही वैष्णव आचार्य स्वयंरूप का 'प्रकाश'[1] मानते हैं। यह

---

१ प्रकाश—आकार, गुण तथा लीला में एकता होने पर भी एक ही विग्रह का अधिकता से अनेक स्थानों में आविर्भाव 'प्रकाश' कहलाता है—

अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा।
सर्वथा तत्स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्यते ॥ —लघुभागवतामृत पृ० १३

रूप परिछिन्न भी था और अपरिछिन्न भी था। भगवान् की स्वरूप शक्ति की महिमा ही ऐसी है। अतः भगवान श्री कृष्ण का स्वयंरूप परिछिन्नवत् प्रतीयमान होने पर भी विभु ही रहता है—यही इस रूप की विशेषता है।

(२) भगवान का द्वितीय रूप है—तदेकात्म रूप। यह रूप स्वयं-रूप के साथ एकता रखने पर भी आकृति, आकार तथा चरितादिकों के द्वारा उससे भिन्न के समान प्रतीत होता है, परंतु वस्तुतः वह उस रूप से पृथक् नहीं होता। यह भी शक्तियों के उत्कर्ष तथा ह्रास के कारण दो प्रकार का होता है—(क) विलास, (ख) स्वांश। विलास का रूप मूलरूप से आकृति में अवश्यमेव भिन्न होता है, परंतु गुणों में उससे प्रायः समान ही होता है। 'प्रायः' शब्द का तात्पर्य यह है कि यह रूप पूर्वरूप से गुणों में किंचित् न्यून रहता है। 'विलास' में तो शक्ति की न्यूनता कम रहती है, और 'स्वांश' में कुछ अधिक रहती है। विलास में शक्ति का प्राकट्य अधिक रहता है और स्वांश में शक्ति का प्राकट्य तदपेक्षया न्यून रहता है। भगवान में तो अनंत गुणों का निवास रहता है, परंतु भगवान के 'स्वयंरूप' में ६४ गुणों की सत्ता मानी जाती है जिनमें चार गुण तो विशिष्ट रूप से गोविंद में ही रहते हैं। ये चार गुण हैं—(१) समस्त लोक को चमत्कृत करनेवाली लीला, (२) अतुलित प्रेम द्वारा सुशोभित 'प्रियमंडल', (३) वंशी-निनाद तथा (४) चराचर को विस्मित करने वाली 'रूपमाधुरी'। श्री कृष्ण के विलासरूप नारायण में केवल ६० गुण ही पाये जाते हैं। स्वांशभूत शिव ब्रह्मा आदि में और भी कम गुण पाये जाते हैं।

(३) भगवान् का तृतीय रूप है—आवेश। ज्ञानशक्ति आदि का विभाग कर नारायण जिन महान् जीवों में आविष्ट हुआ

करते हैं उनको 'आवेश' रहते हैं, जैसे, बैकुंठ में नारद, शेष, सनत्कुमार आदि भगवान के आवेश माने जाते हैं[1]।

जीव का स्वरूप

जीव भी भगवान् की तटस्थ शक्ति का विलास है। वह है तो स्वय तीनों गुणों—सत्त्व, रज तथा तम—से नितांत पृथक् परंतु माया के द्वारा मोहित होकर वह अपने को त्रिगुणात्मक मान लेता है तथा इससे उत्पन्न होनेवाले अनर्थ को भी प्राप्त करता है। भागवत का कथन है—

> यया संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
> परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥
>
> (भाग० १।७।५)

जीव को जगत् से बाँधने वाली वस्तु यही माया है। जीव और ईश्वर में यही अंतर है कि जीव माया के द्वारा नियम्य होता है (मोहित होता है), परंतु ईश्वर माया का नियामक होता है। माया भी भगवान् की ही एक विलक्षण शक्ति है जिसके विषय मे भागवत का स्पष्ट विवेचन है—

> ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
> तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथातमः ॥
>
> (भाग० २।९।३३)

आशय है कि माया वही है जिसके द्वारा विद्यमान वस्तु के बिना भी आत्मा में (अधिष्ठान में) किसी अनिर्वचनीय वस्तु

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य पंडित गोपीनाथ कविराज जी का एतद्विषयक लेख—कल्याण भाग १६, अंक ४ तथा अंक ८।

की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चंद्रमा के होने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा का दीखना) तथा जिसके द्वारा सत् वस्तु की भी प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान रहते हुए भी राहु नक्षत्र-मंडल में दृष्टिगोचर नहीं होता) ; माया के द्वारा अविद्यमान भी संसार सत् की भाँति प्रतीत होता है तथा जगत् का समग्र व्यापार चलता रहता है। परंतु भागवत की दार्शनिक दृष्टि मायावादी अद्वैत वेदांत की नहीं है।

—•—

५—साधनतत्त्व

भागवत के साधनमार्ग के प्रति आलोचकों के दो मत नहीं हो सकते। भागवत की रचना का कारण भी यही है भक्ति की महिमा का प्रकाश करना। भागवत भक्तिशास्त्र का एक विशाल विपुलकाय विश्वकोष माना जा सकता है जिसमें भक्ति के तत्त्व का, प्रेम के सिद्धांत का, बड़ा ही मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भागवत का तो स्पष्ट कथन है कि निर्मल ज्ञान तथा नैष्कर्म्य भगवान् की भक्ति से स्निग्ध न होने पर नितांत उपेक्षणीय होता है—

नैष्कर्म्यमप्युच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्

ज्ञान की हीनता दिखलाते हुए भागवतकार ने एक बड़ी ही सुंदर उपमा की अवतारणा की है। भक्ति से विरहित ज्ञान का अभ्यास भूसा कूटने के समान होता है। धान को कूटने से

चावल निकल सकता है, परंतु पुआल के कूटने से क्या एक दाना भी चावल हमें मिल सकता है ?

> श्रेयः—स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
> (भाग० १०।१४।४)

हे भगवन्, कल्याण की प्रसवकर्मणी आपकी भक्ति को छोड़कर जो प्राणी केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए क्लेश करते हैं, उनके हाथ में केवल क्लेश ही बच रहता है जैसे भूसा कूटने-वाले को केवल परिश्रम ही हाथ लगता है, दाने का दर्शन नहीं होता।

भगवान् की भक्ति मुक्ति से भी बढ़कर है। साधारण जन तो मुक्ति को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं, परंतु भगवद्भक्तों के लिए मुक्ति दासी की भाँति पाँव पलोटने के लिए प्रस्तुत रहती है, परंतु वे उसकी ओर फूटी दृष्टि से भी नहीं देखते। भगवान् का भक्त क्या चाहता है ? केवल प्रियतम के पादपद्मों की सेवा। ब्रह्मपद, स्वर्गराज्य, चक्रवर्ती राज्य, पाताल का राज्य, योग की अलौकिक सिद्धि ही नहीं, प्रत्युत मोक्ष की भी कामना उसे नहीं रहती—

> न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
> न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
> मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनाऽन्यत्॥
> (भाग० ११।१४।१४)

इतना ही नहीं, यदि भगवान् भी प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करते हैं, तब भी उनका एकांती भक्त उस मुक्ति की वाञ्छा भी नहीं करता—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥
(भाग० ११।२०।३४)

माँगने पर भगवान् मुक्ति को तो दे देते हैं, परंतु भक्ति नहीं देते। तीव्र ज्ञान के बल पर मुक्ति की उपलब्धि तो एक साधारण व्यापार है, परंतु भक्ति की प्राप्ति एक दीर्घ व्यापार होने के अतिरिक्त भगवान् की केवल कृपा से ही साध्य होती है:—

······भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥
(भाग० ५।६।१८)

जब भगवान् का ही भक्ति के विषय में इतना पक्षपात है, तब उनके भक्तों की तो बात ही निराली है। प्रेमाभक्ति का रसज्ञ भक्त मोक्ष को भी भगवान् का अनुग्रह नहीं मानता, उस इंद्रादि पद की कथा ही क्या है जिसमें भगवान् के भृकुटी उठाने पर ही खलबली मच जाती है। वह तो गोविंद के पादारविंद-मकरंद का लोलुप भ्रमर बनकर जीवन-यापन ही अपना चरम लक्ष्य मानता है। भागवत का कथन नितांत स्पष्ट है—

नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किं त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते ।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥
(भाग० ३।१५।४८)

भगवान् की भक्ति के आकर्षण—प्रभाव का किञ्चित् परिचय हमें इस घटना से भी लग सकता है कि जिन मुनिजनों की संसार से संबद्ध समस्त ग्रंथियाँ खुल गई हैं और इसीलिए जो ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप की उपलब्धि कर अपने में ही आनंद मनाया करते हैं, ऐसे आत्माराम ज्ञानी जन भी भगवान के विषय में अहैतुकी भक्ति किया करते हैं। यह सब भगवान् के गुणों की महिमा है। सौंदर्य-निकेतन साक्षान्मन्मथ मन्मथ श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी ही इतनी अधिक है, इतनी अलौकिक है कि समस्त प्रपचों के पारगामी ज्ञानी लोग भी उनके पादारविंद की सेवा में अपने को निमग्न कर जीवन यापन करते हैं—

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
(भाग० १।७।१०)

मुक्ति से बढ़कर भक्ति के इस आकर्षण में एक ज्ञातव्य रहस्य है। ज्ञान के द्वारा उपलब्ध ब्रह्मानंद की अपेक्षा प्रेमाभक्ति की कक्षा कहीं ऊँची है। ब्रह्मानंद रस नहीं होता, परंतु भक्ति रस है। ब्रह्मानंद तथा रस में महान् अंतर है। भक्त वासना के विनाश से जायमान मुक्ति की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखता। वह तो वासना के विशोधन से उत्पन्न अलौकिक रसानंद के लिए लालायित रहता है। इसीलिए मुक्ति की अपेक्षा भक्ति का स्थान कहीं ऊँचा, कहीं महत्त्वपूर्ण होता है। परंतु यह भक्ति साधनारूपा वैधी भक्ति नहीं है, अपितु साध्यरूपा रागानुगा प्रेमाभक्ति है जिसके विषय में भागवतप्रवर प्रह्लाद का अनुभूत कथन यह है—

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥
(भाग० ७।७।५२)

इसीलिए श्रीमद्भागवत भगवान् के चरणारविंद के उपासक भक्तों को प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ बतलाकर उनके आदर्श के पालन का उपदेश देता है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥
(भाग० १०।१४।५८)

समस्त वेदांतसारमयी भागवती कथा का यही प्रयोजन है, यही चरम लक्ष्य है—प्रीतिमय हृदय से भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण। भागवत भगवद्गीता का ही उपबृंहण नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मसूत्र का मर्मप्रकाशक भाष्य भी है। जिस भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना कर उपनिषदों के प्रकीर्ण तथ्यों को एक सूत्र में ग्रथित किया उन्होंने ही भागवत का निर्माण कर अपने सूत्रों के ऊपर अकृत्रिम भाष्य की रचना स्वयं कर दी। अतः स्कंद-पुराण का यह अभिमत सिद्धांत है कि भागवत ब्रह्म-सूत्रों का अर्थोपबृंहण है। वैष्णव आचार्यों का भी इस विषय में ऐकमत्य है।

—:o:—

(५)

दक्षिण के संप्रदाय

श्रीवैष्णव संप्रदाय

तथा

माध्व संप्रदाय

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते ॥

—आलवन्दारस्तोत्र

१-भक्ति का द्वितीय उत्थान (७०० ई०—१४०० ई०)

वैष्णवभक्ति का द्वितीय उत्थान हमें दक्षिण भारत के तमिल-नाडमें उपलब्ध होता है। यह युग आरंभ होता है आळवार संतों से और अंत होता है वैष्णव आचार्यों से। तमिल देश के वैष्णव संतों का सामान्य अभिधान है आळवार। इस तमिल शब्द का अर्थ है भगवद्भक्ति-रस में लीन व्यक्ति। इस काल में विष्णु भक्ति की बाढ़ आ गई थी इस द्रविड़ देश में। भक्तों की संख्या की कोई गिनती न थी। ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं था। स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सर्वत्र भगवान् के भक्तिरस से सिक्त भक्तों की बानी भगवान् की दिव्य लीला दिखलाने में मुखरित हो रही थी। ऐसे भक्तों में से केवल १२ आलवार विशेष गौरव तथा सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। इनका द्रविड़ भाषा में निबद्ध पदावली वेद मंत्रों के समान पवित्र, मधुर तथा सरस मानी जाती है। आलवारों के द्वारा क्षेत्र प्रस्तुत किया गया था जिसमें आचार्यों ने भक्ति के बीज का वपन किया। आळवार लोग मस्त जीव थे। भक्ति में सराबोर होकर ये लोग भगवान की कला का आविर्भाव जनता के बीच अपने पदों द्वारा किया करते थे। इसके विपरीत आचार्य लोग संस्कृत के महान विद्वान् थे तथा वैदिक विधि-विधानों के विशेष पक्षपाती थे। इन्हीं लोगों ने भक्ति-आंदोलन को शास्त्रीय पीठ पर प्रतिष्ठित किया। चार संप्रदायों का जन्म इस युग में संपन्न हुआ—निम्बार्क (या सनकादि संप्रदाय), श्रीसंप्रदाय, माध्वसंप्रदाय तथा

रुद्रसंप्रदाय (विष्णुस्वामी)। इन आचार्यों की दृष्टि में शंकराचार्य का मायावाद भक्ति का महान् प्रतिबंधक था। भेदसिद्धि होने पर ही भक्ति का उदय होता है। अद्वैत भावना भक्ति की नितांत बाधिका है। इसलिए इन आचार्यों ने—श्रीवैष्णव तथा माध्व वैष्णवों ने—बड़ी ही सतर्कता से मायावाद का खंडन किया। निम्बार्क—मत द्वैत तथा अद्वैत दोनों सिद्धांतों को दशाभेद से अंगीकार करता है। अतः इस मत के आचार्यों ने खंडन की ओर ध्यान न देकर अपने मतानुसार भजन तथा पूजन की ओर ही अपनी दृष्टि लगाई। इस युग की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम देववाणी है। संस्कृत के द्वारा ही इन आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता-पर प्रौढ़ भाष्यों का निर्माण कर अपने दार्शनिक सिद्धांतों की वैदिकता तथा परंपरा सिद्ध की। निंबार्कीय राधाकृष्ण के उपासक हैं। श्रीवैष्णव तथा माध्व लोग लक्ष्मीनारायण की विशेष आराधना करते हैं। दार्शनिक सिद्धांतों में स्पष्ट भेद होने पर भी व्यावहारिक सिद्धांतों में इनमें विशेष अंतर नहीं था। भक्ति की उपयोगिता सर्वत्र मानी जाती थी, परंतु इस भक्ति के रूप में थोड़ा बहुत अंतर दीख पड़ता है। आदिम तीनों संप्रदायों की परंपरा तो जागरूक रही, परंतु विष्णुस्वामी का संप्रदाय किसी कारण से उच्छिन्न हो गया और तृतीय उत्थान में वल्लभाचार्य ने इस मतको आगे बढ़ाकर लोकप्रिय बनाया।

दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन

भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास की सबसे विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण घटना भक्ति का जन-आंदोलन है। अब तक व्यापक प्रभाव रखने पर भी भक्ति आंदोलनरूप में हमारे सामने नहीं

आती। मध्ययुग की अनेक घटनाओं ने मिलकर भक्ति के धार्मिक आंदोलन को जन्म दिया। उत्तर भारत को इस आंदोलन की प्रेरणा दक्षिण भारत से मिली। अतः इस वैष्णव आन्दोलन की व्यापकता तथा प्रभविष्णुता के रहस्य को जानने के लिए दक्षिण भारत की धार्मिक स्थिति का अनुशीलन नितांत आवश्यक है।

दक्षिण भारत में लोगों के हृदय में भगवत्प्रेम की निष्ठा तथा आस्था को जागरित करनेवाले दो प्रकार के संत हुए। एक तो शैव संत हुए जिनकी संख्या ६४ मानी जाती है और जिनमें माणिक्कवाचक, संबंध, वागीश और सुंदर ये चार संत सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी अमरवाणी आध्यात्मिक साहित्य के दो महान् संग्रहग्रंथो में आज भी सुरक्षित है। एक का नाम है 'देवरम्' जिसका अर्थ होता है = 'भगवत्प्रेम के हार' और दूसरे का नाम है 'तिरु वाचकम्' जिसका अर्थ है 'पवित्रवाणी'। इसी प्रकार दक्षिण भारत के आध्यात्मिक गगन में चमकने वाले अनेक वैष्णव संत भी हुए जो 'आळवार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'आलवार' शब्द का अर्थ है 'अध्यात्मज्ञानरूपी समुद्र में गहरा गोता लगानेवाला व्यक्ति'। ये संत भगवान् नारायण के सच्चे प्रेमी उपासक थे। इनके जीवन का एक ही व्रत था विष्णु के विशुद्ध प्रेम में स्वतः लीन होना तथा अपने उपदेशों द्वारा दूसरों को लीन करना। इनकी मातृभाषा द्राविड़ी या तमिळ थी जिसमें सरस भक्तिरस-स्निग्ध सहस्रों पद्यों की रचनाकर इन लोगों ने जनता के हृदय में भक्ति की सरिता बहा दी।

'आलवार युग' के अनंतर 'आचार्ययुग' आता है जिसमें वैदिक कर्मकांड तथा मीमांसा के विद्वान आचार्यों ने तर्क तथा युक्ति के द्वारा भक्ति की उपादेयता सिद्ध की

तथा मायावाद का प्रखर खंडनकर ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सरलतर भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा जनता में की। आलवार तथा आचार्य—दोनों ही विष्णुभक्ति के जीवंत प्रतिनिधि थे, परंतु दोनों में एक पार्थक्य है। आलवारों की भक्ति उस पावनसलिला सरिता की नैसर्गिक धारा के समान है जो स्वयं उद्वेलित होकर प्रखर गति से बहती जाती है और जो कुछ सामने आता है उसे तुरंत बहाकर अलग फेंक देती है। आचार्यों की भक्ति उस तरंगिणी के समान है जो अपनी सत्ता जमाए रखने के लिए रुकावट डालनेवाले विरोधी पदार्थों से लड़ती झगड़ती आगे बढ़ती है। आलवारों के जीवन का एकमात्र आधार था प्रपत्ति; विशुद्ध भक्ति; परंतु आचार्यों के जीवन का एकमात्र सार था भक्ति तथा कर्म का मंजुल समन्वय। आलवार शास्त्र के निष्णात विद्वान न होकर भक्तिरस से सिक्त थे। आचार्य वेदांत के पारंगत विद्वान् ही न थे, प्रत्युत तर्क और युक्ति के सहारे प्रतिपक्षियों के मुखमुद्रण करनेवाले वावदूक पंडित थे। आलवारों में हृदयपक्ष की प्रबलता थी, तो आचार्यों में बुद्धिपक्ष की दृढ़ता थी। यही विभेद दोनों की जीवन दिशा को परिवतन करनेवाला मार्मिक अंतर था।

२—आलवार

आलवार लोगों ने अपने जीवन से इस सत्य की घोषणा की थी कि भगवान् के दरबार में प्रवेश पाने का सबको अधिकार है। ब्राह्मण और शूद्र, पुरुष तथा स्त्री, बालक तथा वृद्ध—सबका समान अधिकार है। आवश्यकता है भक्तिमय हृदय की। सुनते हैं आलवारों में कतिपय भक्त नीच जाति के भी थे। एक आलवार (गोदा) स्त्री जाति के भी थे। आलवारों की संख्या बारह मानी

जाती है। इनकी स्तुतियों का संग्रह **नालायिर प्रबंधं** (चतुः सहस्र पद्यात्मक) के नाम से विख्यात है जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौंदर्य तथा आनंद से ओतप्रोत अध्यात्मज्ञान का एक अनमोल निधि है। इनके आविर्भाव का काल सप्तम शतक से लेकर दशम शतक तक माना जाता है।

आळवारों के दो प्रकार के नाम मिलते हैं। एक तो तमिल नाम और दूसरा संस्कृत नाम। इन भक्तों का दक्षिण भारत में इतना अधिक आदर है कि इनकी मूर्तियों की स्थापना वैष्णव मंदिरों में की गई है जहाँ इनके मधुर पद्य आज भी गाये जाते हैं तथा इनकी प्रभावशालिनी जीवन-घटनायें नाटक के रूप में आज भी उपदेश के लिए दिखलाई जाती हैं। इनके पद वेदमंत्रों के समान पवित्र माने जाते हैं। पवित्रता तथा आध्यात्मिकता की दृष्टि से इन भक्तों के पदों का संग्रह 'तमिळवेद' के नाम से पुकारा जाता है। पराशर भट्ट ने इन आलवारों का नाम निर्देश बड़ी सुंदरता से इस पद्य में किया है—

> भूतं सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ—
> श्री भक्तिसार-कुलशेखर-योगिवाहान्।
> भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्
> श्रीमत् परांकुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम्।

इन आलवारों का संक्षिप्त परिचय[1] नीचे दिया जाता है।

(१) पोयगै आलवार (सरो योगी)
(२) भूतत्तालवार (भूत योगी)
(३) पेयालवार (महत् योगी)

---

१ द्रष्टव्य कल्याण—सन्तांक पृ० ४०४–४१६

ये तीनों आलवार अत्यंत प्राचीन तथा समकालीन माने जाते हैं। इनके बनाये हुए तीन सौ भजन मिलते हैं, जिन्हें भक्त लोग ऋग्वेद का सार मानते हैं। पोयगै आलवार का जन्म कांची नगरी में हुआ था जो उन दिनों में विद्या का एक प्रधान केन्द्र माना जाता था। भूतत्तालवार का जन्म 'महाबलीपुर' में तथा पेयालवार का मद्रास के समीप मैलापुर में हुआ था। ये तीनों भक्त भक्ति तथा ज्ञान के जीवित प्रतीक थे और भगवच्चर्चा करते हुए नाना तीर्थों में भ्रमण किया करते थे। एकबार ये तीनों संत 'तिरुक्कोईलूर' नामक क्षेत्र में गये। उस समय तक ये लोग एक-दूसरे से परिचित नहीं थे। सरोयोगी भगवान् की पूजा कर कुटिया के भीतर जाकर लेट गये थे। स्थान एक व्यक्ति के सोने के लिए पर्याप्त था। भूतयोगी के आने पर दोनों भक्त उठकर बैठ गये तथा महत्योगी के उस कुटिया के पधारने पर तीनों जन खड़े होकर भगवान् के भजन में निरत हो गए। उसी समय साक्षात् भगवान् की दिव्य प्रभा का आविर्भाव हो गया। कुटिया प्रकाशित हो उठी। भक्तों ने आश्चर्यचकित नेत्रों से भगवान् के दिव्यरूप का दर्शन किया और उनकी अलौकिक भक्ति का वरदान माँगा। इनके पद्यों का संग्रह 'ज्ञानप्रदीप' के नाम से विख्यात है।

(४) भक्तिसार–तिरुमड़िसै आलवार

दक्षिण भारत में 'तिरुमड़िसै' नाम का एक प्रसिद्ध तीर्थ है जहाँ जन्म ग्रहण करने के कारण भक्तिसार इस नाम से विख्यात हुए थे। इनके पिता का नाम भार्गव था तथा माता का 'कनकावती'। सुनते हैं कि इनके माता-पिता ने इन्हें सरकंडों के जंगल में छोड़ दिया था जहाँ तिरुवाड़न् नामक व्याध तथा उनकी

पत्नी पंकजवल्ली उठाकर अपने घर ले आये और पाल पोस कर बड़ा किया। भक्तिसार ऐसे अलौकिक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति थे कि थोड़ी अवस्था में इन्होंने प्रायः सभी धर्मग्रंथ पढ़ डाला था। तपस्या तथा भजन इनके जीवन का सर्वस्व था। विशेष पंडित होने पर भी अभिमान का इनमें तनिक भी लेश न था। इनके बनाये हुए पदों के कारण जब इनकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी तो इन्होंने एक दिन अपने पदों की सारी पोथियों को कावेरी नदी में डाल दी। सब पुस्तकें तो कावेरी में बह गई, केवल दो पुस्तकें प्रवाह के प्रतिकूल भी तट पर आ गई और बच गई। इनके उपदेशों का सार इस प्रकार है—

भक्ति भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है। भगवान् की कृपा को पाकर मनुष्य अजेय बन जाता है। भगवत्प्रेम ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ी संपत्ति है। नारायण ही जगत् के आदि कारण हैं। ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान—तीनों वही हैं। नारायण ही सब कुछ है। वे ही हमारे सर्वस्व हैं।

(५) शठकोप—नम्मालवार (परांकुश मुनि)

आलवारों के इतिहास में शठकोप आचार्य का नाम सर्वातिशायी तथा नितांत महत्त्वपूर्ण है। इन्हें सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है। ये विष्वग्सेन के अवतार माने जाते हैं। विष्णु के अनुचरों में विष्वग्सेन का वही स्थान है जो शिव के अनुचरों में गणों के अधिपति गणेश का है। तिन्नवेली जिले के ताम्रपर्णी नदी के तीर पर स्थित 'तिरुक्कुरुकूर' गाँव में इनका उच्च ब्राह्मण वंश में जन्म हुआ था। इनके पिता कारिमारन् पांड्यदेश के राजा के उच्च अधिकारी थे। तदनंतर वे दक्षिण के एक छोटे राज्य के सामन्त पद पर अधिष्ठित हुए। शठकोप ने अपने जन्म लेने के

दस दिनों तक कुछ भी भोजन नहीं किया जिससे इनके पिता को विशेष चिंता हुई और उन्होंने अपने ग्राम के स्थानीय मंदिर में इन्हें चढ़ा दिया। मंदिर के पास इमली के खोखले में रहकर इन्होंने कठिन तपस्या की तथा भगवान् की उच्चकोटि की उपासना में अपना अमूल्य समय बिताया। ये ३५ वर्षों तक इस भूतल पर रहकर उपासना की दिव्य प्रभा दिखलाकर अस्त हो गये।

इनके बनाए हुए चार ग्रंथ हैं जो गंभीरता तथा सुंदरता के कारण चारों वेदों के समान मान्य तथा महनीय माने जाते हैं। इन ग्रंथों के नाम हैं—(१) **तिरुविरुत्तम्**, (२) **तिरुवाशिरियम्**, (३) **पेरिय तिरुवन्ताति**, (४) **तिरुवाय मोळि**। इन ग्रंथों में से केवल तिरुवाय मोलि में (जिसका अर्थ 'पवित्र ज्ञान' है) हजार से ऊपर पद हैं। तमिल देश के वैष्णवों के प्रधान ग्रंथ 'दिव्य प्पिरबन्दम्' के चतुर्थांश में शठकोप के ही पद संगृहीत हैं। इनके पद मंदिरों तथा धार्मिक उत्सवों में बड़े प्रेम से गाये जाते हैं। मोलि का पाठ वेदपाठके समान पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। शठकोप की उपासना गोपीभाव की थी। इन्होंने भगवान् को नायक तथा अपने को नायिका के रूप में अंकित किया है। वेदान्तदेशिक ने तिरुवायमोलि को 'द्रविडोपनिषत्' नाम दिया है और महत्त्वपूर्ण होने के कारण उसका संस्कृत में अनुवाद भी किया है। इनके पद तमिल कविता की मधुरिमा के आदर्श माने जाते हैं। तमिलभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि कंबन् के रामायण को भगवान रंगनाथ ने तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक उन्होंने आरंभ में शठकोप की स्तुति नहीं की। कंबन् का कहना है— क्या संसार के समग्र काव्य नाम्मालवार के एक शब्द की भी बराबरी कर सकते हैं? क्या मच्छर गरुड़ का मुकाबला कर सकता है? क्या जुगनू सूर्य के सामने चमक सकता है? प्रसिद्धि

है कि जब शठकोप ने भगवान् रंगनाथ के सामने अपने पदों को गाकर सुनाया, तो मूर्ति में से आवाज निकली—'ये हमारे आलवार (नम् आलवार) हैं'। तभी से इनका नाम 'नम्मालवार' पड़ गया।[1]

(६) मधुरकवि

मधुर कवि गरुड़ के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म तिरुक्कालूर नामक गाँव में किसी सामवेदी ब्राह्मणकुल में हुआ। ये वेद के अच्छे ज्ञाता थे। परंतु पांडित्य का सब अभिमान छोड़ कर इन्होंने भगवान् के प्रेम को ही अपने जीवन का सर्वस्व बनाया। ये तीर्थयात्रा के प्रसंग में नानास्थानों में घूमते हुए उत्तर भारत में आये। एक बार जब गंगा के तीर पर भ्रमण कर रहे थे, तब उनके सामने दक्षिण की ओर एक दिव्य प्रभा प्रज्वलित हुई। इन्होंने इस दैवी आदेश मानकर उसका अनुगमन किया। वह प्रभा कई दिनों तक इस प्रकार जलती रही। अंत में वह ताम्रपर्णी के तीरस्थ कारुकूर गाँव में जाकर बंद हो गई। खोज करने पर मधुर कवि ने शठकोपाचार्य को इमली के खोखले में ध्यानस्थ पाया और उन्हें ही अपना गुरु बनाया। शठकोप की कृपा से मधुरकवि भगवान् के भव्य भक्त बन गए और उन्होंने भी अपने गुरुदेव की कीर्ति का गायन कर उनके नाम को दक्षिण भारत के घर घर में पहुँचा दिया। अपनी कविता के माधुर्य के कारण ही ये महाशय मधुरकवि के नाम से विख्यात हैं और उनका असली नाम बिल्कुल अज्ञात ही है।

---

१ विशेष द्रष्टव्य कल्याण के 'संतांक' में एतद्विषयक लेख।

(७) कुलशेखर आळवार

ये केरल देश के राजा दृढ़व्रत के पुत्र थे। ये भगवान् के कौस्तुभमणि के अवतार माने जाते हैं। इन्होंने राजोचित समग्र विद्याओं का विधिवत् अध्ययन किया था। राजसिंहासन पर बैठने पर इन्होंने प्रजा के अनुरंजन तथा विधिवत् पालन में बड़ा ही अनुराग दिखलाया तथा न्याय की सीमा बाँधी, परंतु अतुल संपत्ति के अधिकारी होने पर भी इनकी प्रीति विषयों की ओर तनिक भी न थी। ये सदा भगवान् के चिंतन में निमग्न रहते थे। सुनते हैं कि एक बार ये रामायण की कथा सुन रहे थे। प्रसंग यह था कि भगवान् श्रीराम सीता की रक्षा का भार लक्ष्मणजी के ऊपर छोड़ कर स्वयं अकेले खरदूषण की विपुल सेना से युद्ध करने के लिए जा रहे हैं। व्यासजी ने ज्योंही यह श्लोक पढ़ा—

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं करिष्यति॥

रामायणीय कथा में कुलशेखर इतने तन्मय हो गए कि उन्होंने अपने सेनानायक को तुरंत आज्ञा दी कि चलो, हम लोग श्रीराम की सहायता के लिए राक्षसों से युद्ध करें। व्यास जी के आश्वासन देने पर कि अकेले राम ने समग्र सेनाओं का तुरंत विनाश कर डाला राजा को शांति मिली और उन्होंने अपनी सेना को लौट आने का आदेश दिया[1]।

---

१ नाभादासजी ने अपने भक्तमाल (छप्पय ४४) में 'भक्तदास' के नाम से कुलशेखर का उल्लेख किया है और सीताहरण का प्रसंग सुनकर तलवार तान कर अपने घोड़े को दौड़ा कर समुद्र में डाल देने का परिचय दिया है—

भक्तदास इक भूप श्रवन सीता हर कीनौं।
'मार' 'मार' करि खड्ग बाजि सागर में दीनौं।

अन्ततो गत्वा कुलशेखर ने अतुल संपत्ति तथा पैतृक राजपाट को तिलाञ्जलि देकर भगवान् रंगनाथ के शरण में अपना अभीष्ट स्थान पाया। श्रीरंगम् में रहकर ही उन्होंने अपनी प्रसिद्ध स्तुति 'मुकुंदमाला'[1] की रचना की। यह मुकुंदमाला स्तोत्र समस्त वैष्णवों के, विशेषतः श्रीवैष्णवों के, गले का हार है। भाषा की मधुरता तथा भावों की कोमलता में यह स्तोत्र अपना प्रतिद्वंदी नहीं रखता। इसके सौंदर्य के परिचय के लिए एक-दो श्लोक पर्याप्त होंगे।

जयतु जयतु देवो देवकीनन्दनोऽयं
जयतु जयतु कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयतु जयतु मेघश्यामलः कोमलाङ्गो
जयतु जयतु पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः॥
मुकुन्द! मूर्ध्ना प्रणिपत्य याचे
भवन्तमेकान्त-मियन्तमर्थम्।
अविस्मृतिस्त्वच्चरणारविन्दे
भवे भवे मेऽस्तु भवत्प्रसादात्॥

(८) *विष्णुचित्त = परि-अलवार*

इनका जन्म मद्रास प्रांत के तिन्नेवेली जिले के 'विल्लीपुत्तूर' नामक पवित्र स्थान में हुआ था। इनके पिता-माता का नाम

नरसिंह को अनुकरण होइ हिरनाकुस मारयौ।
वहै भयो दसरत्थ, राम बिछुरत तन छाड्यौ॥

१ 'मुकुंदमाला' के दो संस्करण मिलते हैं—एक छोटा और दूसरा बड़ा। इसके ऊपर अनेक प्राचीन टीकायें उपलब्ध होती हैं जिनमें से एक प्राचीन टीका के साथ यह अन्नमलै विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है।

था—मुकुन्दाचार्य तथा पद्मा जिन्होंने वट-पत्र-शायी भगवान् महाविष्णु की कृपा से इस भक्त पुत्ररत्न को प्राप्त किया था। ये गरुड़ के अवतार माने जाते हैं। बाल्यकाल से ही इनके हृदय में विशुद्ध अनन्य भक्ति का उदय हो गया था जिसके वश होकर इन्होंने अपनी समग्र संपत्ति भगवान् की अर्चना-पूजा में लगा दी। इसी समय पांड्य देश में बलदेव नामक राजा राज्य कर रहे थे जिनके राज्य के अंदर मदुरा तथा तिन्नेवेली का जिला पड़ता था। राजा अध्यात्म-विद्या का रसिक था, और उसकी उत्सुकता और भी बढ़ गई जब किसी पंडित के मुख से उन्हों ने परलोक के लिए इस जीवन में पुण्य कमाने की बात सुनी—

वर्षार्थमष्टौ प्रयतेत मासान्
निशार्थमर्धं दिवसं यतेत।
वार्धक्यहेतो—र्वयसा नवेन
परत्र हेतो-रिह जन्मना च॥

राजा किसी भक्त विद्वान् की खोज में ही था कि भगवान् के आदेश से स्वयं विष्णुचित्त उसकी राजधानी मदुरा में गये और राजा को भक्ति के रहस्यों की शिक्षा दी। राजा योग्य गुरु से भक्ति की यथार्थ शिक्षा पाकर कृतकृत्य हो गया और उसने इनको बड़े आदर से गाजे-बाजे के साथ इनके जन्मस्थान पर पहुँचा दिया। इनके द्वारा रचित ललित पद्य भी उपलब्ध होते हैं।

(६) *गोदा—आण्डाल (रंगनायकी)*

विष्णुचित्त की विपुल ख्याति का एक अन्य कारण यह भी था कि उन्हीं की पोष्य पुत्री 'आंडाल' रंगनाथ की विशिष्ट सेविका बन कर आलवारों में परिगणित की गई। कहा जाता

है कि एकदिन विष्णुचित्त भगवान् की पूजा के लिए फूल चुन रहे थे तो उन्होंने तुलसी के वन में एक हाल की जनमी लड़की पाई। भगवान् का आदेश पाकर वे उसे उठा ले गए और नाम रखा 'कोदइ' जिसका अर्थ है फूलों के हार के समान कमनीय। 'आंडाल' नाम तो भगवत् कृपा तथा प्रेम की अधिकारिणी होने पर उसे प्राप्त हुआ। आंडाल विष्णुचित्त को भगवान् की पूजा अर्चा में सहायता दिया करती थी। आंडाल की उपासना माधुर्य भाव की थी। वह भगवान् को सदा अपना प्रियतम मानती थी, ठीक गोपियों की भाँति। भावावेश में आकर वह कभी कभी रंगनाथ के निमित्त तैयार की गई माला को स्वयं पहन कर दर्पण में देखती कि उसका सौंदर्य भगवान् को पसंद आवेगा। जब विष्णुचित्त ने वह उपभुक्त माला भगवान् को अर्पित नहीं की, तब भगवान् ने स्वयं उस माला के पहनने का आग्रह दिखलाया। वह भगवान् के प्रेम में मतवाली मीरा के समान व्याकुल बनी रहती। एक दिन श्रीरंगनाथ जी ने मंदिर के अधिकारियों को आदेश दिया कि 'आंडाल' के साथ मेरा विवाह कराओ। अधिकारियों ने विविध उत्सव के साथ ऐसा ही किया। ज्यों ही आंडाल मंदिर में गई, त्यों ही वह भगवान् की शेषशय्या पर चढ़ गई। सुनते हैं उस समय सर्वत्र एक दिव्य प्रभा फूट निकली और उसी प्रभा में आंडाल विलीन हो गई। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गए! वह भगवान् के साथ मिल कर धन्य हो गई। दक्षिण के वैष्णव मंदिरों मे आज भी आंडाल के इस विवाह का शुभ उत्सव सर्वत्र मनाया जाता है। आंडाल की उपासना को हम गोपीभाव या माधुर्य भाव की उपासना मान सकते हैं। वह हमारी मीरा बाई की प्रतीक थी। गोपीप्रेम की झलक आंडाल के जीवन तथा काव्य में भरपूर

मिलती है। इनके दो काव्य-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार तिरोमोळि' जिनमे भक्तिरस में विभोर प्रकृत भक्त के सरस हृदयोद्गार विद्यमान हैं।

(१०) विप्रनारायण (भक्तपदरेणु)—तोण्डरडिप्पोलि

विप्रनारायण का जन्म एक उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था। विधिवत् शास्त्र का अध्ययन कर भगवान् श्री रंगनाथजी के अनन्य सेवक बनकर ये उनकी उपासना किया करते थे। उम्र थी अभी कच्ची; उपासना थी तीव्र, परंतु इनके जीवन में एक ऐसी विचित्र घटना घटी जिससे इनका संसार के नामरूप से व्यामोह जाता रहा और भगवान् के श्री चरणों में सच्ची उपासना का उदय हुआ। सुनते हैं कि श्रीरंगजी के मंदिर में एक बड़ी रूपवती देवदासी रहती थी जिसका नाम था 'देवदेवी'। एकबार वह अपनी बहन के साथ विप्रनारायण के बगीचे में गई जहाँ वे गद्गद स्वर से भगवान् की स्तुति करते जाते थे और पूजा के लिए तुलसी तथा फूल चुनते जाते थे। देवदेवी की बहिन ने अपनी बहिन को ताना मारा और इस भक्त के हृदय में काम की ज्वाला उत्पन्न करने का आग्रह किया। मरता क्या नहीं करता? रूप का प्रलोभन ही ऐसा होता है कि वह विश्व के बड़े से बड़ों को अपना चाकर बना डालता है। देवदेवी ने माघ के जाड़े की रात में विप्रनारायण की कुटिया के दरवाजे पर जाकर अपनी माया फैलायी और दर्पीड़ित नारी का स्वांग भर कर कुटिया में रात भर के लिए आवास माँगा। बिजुली की चमक में भक्त ने देवदेवी के अनुपम सौंदर्य को देखा। उनका चित्त चलायमान हो चला। वह अपना काम निपटा कर नौ दो ग्यारह हो गई। इधर विप्रनारायण का चित्त भगवान् की रूपसुधा से हटकर इस गर्हित

नारी की ओर जा चिपका। भगवान् को दया आई। एक रात कोई अपने को विप्रनारायण का सेवक बतला कर सोने की थाल देवदासी के घर पर दे आया जिसने प्रसन्न होकर विप्रनारायण को अपने यहाँ सप्रेम बुलाया। परंतु प्रातः काल जब पता चला कि वह रंगनाथ जी के मंदिर के सोने का थाल है, तब विप्रनारायण चोरी के अपराध में पकड़े गए और निगलापुरी (उरैउर, त्रिचिनापल्ली के पास) में कारागृह में रखे गए। तब भगवान् ने राजा को स्वप्न दिया और इस अपराध का दोष अपने ऊपर लेकर अपने भक्त का कारागृह तथा भवजंजाल दोनों से एक साथ ही उद्धार कर दिया। भक्त के हृदय में सच्ची भक्ति का उदय हुआ। वह मंदिर में आनेवाले समस्त भक्तों की चरणधूलि का सेवन कर भजनानंद में अपना जीवन व्यतीत करने लगा। इसी प्रकार उनकी प्रेयसी देवदेवी ने भी अपनी अतुल संपत्ति मंदिर में लगा कर स्वयं भगवान की सेवा में अपना जीवन बिताया।

(११) मुनिवाहन (योगवाह)—तिरुप्पन

तिरुप्पन अलवार जाति के अन्त्यज माने जाते थे। वे एक धान के खेत में पड़े मिले थे जहाँ से एक अन्त्यज उन्हें उठा कर अपने घर ले गया था। बालकपन में ही उन्होंने संगीतविद्या सीख ली और वीणा के ऊपर भगवान् के नाम के सिवाय और कुछ गाना जानते ही न थे। उनकी बड़ी इच्छा थी भगवान् के श्रीविग्रह को देखने की, परंतु अन्त्यज होने के कारण उनका प्रवेश मंदिर में नहीं हो सकता था। कावेरी के तटपर एक कुटिया बनाकर भगवान् के गुणों का कीर्तन कर अपना कालयापन करते थे। श्री रंगजी की सवारी निकलने के अवसर पर दूर से ही भगवान् के विग्रह का दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानते थे। मंदिर के

झाड़ने तक की आज्ञा इन्हें नहीं मिलती थी। एक बार भगवान के आदेश से लोरंगमा मुनि ने इनकी झोपड़ी में जाकर इनसे कहा कि भगवान् ने मुझे तुझे कंधों पर बैठा दर्शन करने की आज्ञा दी है। फिर क्या था? मुनि इनके वाहन बने। रात ही रात ये मंदिर में पहुँच गए और अपने जीवन की निधि पाकर सर्वदा के लिए कृतकृत्य बन गए। मुनि के वाहन बन जाने के समय से ही इनका नाम 'मुनि-वाहन' पड़ गया।

(१२) नीलन् (परकाल)—तिरुमंगैयालवार

इनका जन्म चोलदेश के किसी ग्राम में एक शैव घराने में हुआ था। युद्ध-विद्या में निपुण होने के कारण उस देश के राजा ने इन्हें सेनानायक के पद पर प्रतिष्ठित कर इसके विजयों के उपलक्ष में इन्हें भूमि का दान भी दिया। भगवद्भक्ति की ओर प्रेरणा देने का समग्र श्रेय प्राप्त है उनकी पत्नी को। तिरुवालि नामक क्षेत्र में कुमुदवल्लभी नाम्नी एक नितांत रूपवती कन्या रहती थी जिसका प्रथम आग्रह था कि उसका भावी पति विष्णु का भक्त हो तथा दूसरा आग्रह था कि उसका पति प्रतिदिन एक सहस्र आठ ब्राह्मणों को भोजन करा कर उसका प्रसाद उसे देवे। नीलन् ने दोनों शर्तों को मंजूर कर लिया और तदनुसार शादी कर अपना उदात्त काम करना आरंभ कर दिया। उसकी पूँजी परिमित थी। रुपया खर्च हो गया ब्राह्मणों के भोजन में, फलतः राजा के कोष में आवश्यक कर नहीं पहुँच सका। नीलन् कारागार में इस अपराध के कारण बंद कर दिये गये। स्वप्न में भगवान् ने कांची में गड़ी हुई अपनी अपार संपत्ति की सूचना दी। नीलन ने उस संपत्ति को खोद निकाला और राजा का कर देकर कारा से मुक्ति प्राप्त की। उन्होंने अपने ब्राह्मण भोजन वाले नियम के निर्वाह

के लिए धनी-मानी व्यक्तियों को लूटना भी आरंभ किया। कहते हैं कि एक बार ऐसे ही लूट के अवसर पर स्वयं भगवान् विष्णु ने धनी व्यक्ति के रूप में इन्हें नारायण मंत्र का उपदेश दिया। फलतः इस मंत्र के प्रभाव से इनका जीवन पलट गया और ये एक महान् भक्त बन गए। इन्होंने श्रीरंगजी के अधूरे मंदिर को अपने उद्योग तथा रुपैयों से पूर्ण बनाया। ये भगवान् की दास्य-भाव से उपासना करते थे। ये प्रसिद्ध शैवाचार्य श्री ज्ञान-संबंध के समसामयिक थे और वे भी इनके पदों का विशेष आदर करते थे। इन्हों ने ६ पद्य ग्रंथों की रचना की है जो तामिल भाषा के 'वेदांग' माने जाते हैं। रचना की दृष्टि से नीलन् का स्थान शठकोपाचार्य से ही कुछ घटकर है।

आचार्य

आलवारों के भक्तिरस पूरित जीवनचरित का एक सामान्य परिचय है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् जाति-पाँत का विचार नहीं करते। वे तो भक्ति के द्वारा द्रवीभूत होकर भक्त को अपनाते हैं। आलवारों की भक्ति नैसर्गिक झरने के समान आनंदरस झरती थी। आलवार युग के अनंतर भक्ति-आंदोलन के इतिहास में आता है **आचार्य युग**। दशम शताब्दी में तमिल प्रांत में वैष्णव धर्म की विशेष उन्नति हुई। इस समय से संस्कृतज्ञ विद्वानों ने तमिल जनता में विष्णु-भक्ति के प्रचार का श्लाघनीय उद्योग किया। ये 'आचार्य' कहलाते थे। इन्होंने आलवारों की भक्ति के साथ वेद-प्रतिपादित ज्ञान तथा कर्म का सुंदर समन्वय किया। इन विद्वानों ने भक्ति-आंदोलन को एक नवीन धारा में प्रचारित किया। इन्होंने तमिलवेद तथा संस्कृत वेद का गंभीर अध्ययन कर दोनों के सिद्धांतों में पूरा सामञ्जस्य दिखलाया।

इस सामञ्जस्य प्रवृत्ति के कारण ही ये 'उभयवेदान्ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों के सामने एक ही गभीर समस्या थी मायावाद का तिरस्कार, क्योंकि इस के साथ भक्ति का सामञ्जस्य कथमपि नहीं जमता। अतः मायावाद का बिना खंडन किए भक्तिवाद की प्रबल प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती थी। फलतः इन आचार्यों ने मायावाद के खंडन को अपने तर्कों का प्रधान लक्ष्य बनाया। 'श्री' के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण यह वैष्णव मत 'श्रीवैष्णव' के नाम से विख्यात है। व्यवहार-पक्ष में इसका लक्ष्य है भक्ति या प्रपत्ति तथा अध्यात्मपक्ष में इसका नाम है विशिष्टाद्वैत मत।

इन आचार्योंमें आद्य आचार्य हुए रंगनाथ मुनि (८२४ ई०—९२४ ई०) जो नाथ मुनिके नामसे वैष्णव जगत् में सर्वत्र विख्यात हैं। ये शठकोपाचार्यकी शिष्य परंपरामें थे। शठकोप—मधुरकवि—परांकुशमुनि—नाथमुनि। इन्होंने आलवारों के द्वारा विरचित तामिल भाषा में निबद्ध लुप्तप्राय भक्तिपूरित काव्या का (तामिल वेद का) पुनरुद्धार किया, श्रीरंगम के प्रसिद्ध मदिर में भगवान् के सामने इनके गायन की व्यवस्था की तथा वैदिक ग्रंथों के समान इन ग्रंथों का भी अध्यापन वैष्णव मंडली में आरंभ किया। इस प्रकार एक ओर नाथमुनि का कार्य था प्राचीन तामिल भक्तिग्रंथों का उद्धार तथा प्रचार; दूसरी ओर इनका काम था नवीन संस्कृत ग्रंथों की रचना कर वैष्णव मत का प्रचार। इनके 'योग रहस्य' नामक ग्रंथ का निर्देश वेदांत-देशिक ने अपने ग्रंथों में किया है। इनका 'न्यायतत्त्व' नामक ग्रंथ विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का प्रथम मान्य ग्रंथ माना जाता है जिसमें इस मत की दार्शनिक दृष्टि का आरंभिक विवेचन है। नाथमुनि के पौत्र उन्हीं के समान अध्यात्म-निष्णात विद्वान थे

उनका नाम था यामुनाचार्य। ये अपने तामिल नाम आलबंदार के नाम से विशेष प्रख्यात है। नाथमुनि के बाद श्री रंगम् की आचार्य गद्दी पर 'पुंडरीकाक्ष' तथा 'राममिश्र' आरूढ़ हुए। राममिश्र ने देखा कि यामुन अपने राजसी वैभव में ही दिन बिता रहे हैं, तब उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ और उन्होंने इन्हें समझा बुझाकर अध्यात्म-विद्या की अभिरुचि उत्पन्न की और इन्हें भक्तिशास्त्र का उपदेश देकर अपना शिष्य बनाया। इसी घटना का उल्लेख इस पद्य में है—

> अयत्नतो यामुनमात्मदासमलर्कपत्रार्पणनिष्क्रयेण
> यः क्रीतवान् आस्थितयौवराज्यं नमामि तं राममेयसत्त्वम् ॥

राममिश्र के बैकुंठवास के अनंतर आलबदार ही श्रीरंगम् के आचार्य-पीठ पर आरूढ़ होकर वैष्णव मंडली का नेतृत्व करने लगे। प्राचीन आलवार काव्यों के प्रचार, प्रसार तथा अध्यापन के अतिरिक्त इन्होंने नवीन ग्रंथों का भी निर्माण किया। इसमें मुख्य ग्रंथों का परिचय इस प्रकार है—

(क) **गीतार्थ संग्रह**—विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार गीता के गूढ़ सिद्धांतों का संकलन।

(ख) **श्रीचतुः श्लोकी** (भगवती लक्ष्मी की स्तुति)

(ग) **सिद्धित्रय**—आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि तथा संवित्-सिद्धि नामक तीन सिद्धियों का समुच्चय। अंतिम ग्रंथ में माया का विशिष्ट खंडन तथा आत्मा के स्वरूप का निर्देश है।

(घ) **महापुरुष निर्णय**—विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादक ग्रंथ।

(ङ) **आगम-प्रामाण्य**—इस पांडित्यपूर्ण ग्रंथ में श्रीवैष्णवों के आधारभूत पाञ्चरात्र सिद्धांत की प्रामाणिकता का विवेचन किया गया है। अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में पाञ्चरात्र सिद्धांत वैदिक मत का विरोधी माना जाता था। यामुनाचार्य ने युक्तियों तथा तर्कों के आधार पर इस मत का प्रबल खंडन इस ग्रंथ में किया है।

(च) **स्तोत्ररत्न** जो रचयिता के नाम पर **आलवंदारस्तोत्र** के नाम से प्रसिद्ध है। यामुनाचार्य के ग्रंथों में यही सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ है। इस स्तोत्र में ७० पद्य हैं जिनमें 'आत्म-समर्पण' के सिद्धांत का मनोरम वर्णन है। इस स्तोत्र के सरस पद्यों में कवि-हृदय की भक्ति भावना फूट कर बह रही है। एक पद्य का निदर्शन पर्याप्त होगा—

> न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
> न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
> अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य
> त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

हे भगवन्, मेरी धर्म में निष्ठा नहीं है जिससे कर्मकाण्ड का उपासक बनकर मैं स्वर्ग का अधिकारी बनता। और न मैं आत्म-ज्ञानी हूँ जिससे ज्ञान के बलपर मुक्ति पा लेता। तुम्हारे चरण कमलोंमें भी मेरी भक्ति नहीं है। बस मैं निर्धन हूँ; मेरा आप को छोड़कर कोई शरण नहीं है। आपका चरणकमल ही मेरे उद्धार का एकमात्र शरण है। इस कमनीय पद्य में भक्त कवि प्रपत्ति का उपदेश दे रहा है। ऐसे ही सौंदर्यपूर्ण पद्यों के कारण यह स्तोत्र 'स्तोत्ररत्नम्' के नाम से वैष्णव-समाज में सर्वत्र विख्यात है।

श्रीरंगम की रामानुजाचार्य की मूर्ति
(रामानुज की जीवितावस्था में निर्मित)

श्रीरामानुजाचार्य (१०१७ ई०–११३७ ई०)

श्रीवैष्णव मत के आचार्यों के शिखामणि थे श्रीरामानुजाचार्य। ये यामुनुजाचार्य के निकट संबंधी थे, क्योंकि उनके पौत्र श्री शैल-पूर्ण के भागिनेय थे। इनका जन्म हुआ १०१७ ई० में तेरुँकुदूर नामक मद्रास के समीपस्थ ग्राममें। इनके पिताका नाम था केशव-भट्ट जिनकी इसकी बाल्यदशा में ही शरीर पात होने पर इन्होंने कांची में जाकर 'यादव प्रकाश' नामक अद्वैती विद्वान् के पास वेद तथा वेदांत का अध्ययन आरंभ किया, किंतु यह अध्ययन अधिक दिनों तक न चल सका। उपनिषद् के अर्थ में गुरु-शिष्य में विवाद खड़ा हो गया। रामानुज यादव प्रकाश का साथ छोड़ कर स्वतंत्र रूप से वैष्णव-शास्त्र का अनुशीलन करने लगे। आलबंदार ने अपने मृत्युसमय अपने शिष्य के द्वारा इन्हें बुलवा भेजा, परंतु रामानुज के श्रीरंगम् पहुँचने से पहिले ही आल-बंदार का वैकुंठवास हो गया था। रामानुज ने देखा कि आचार्य के हाथ की तीन उँगलियाँ मुड़ी हुई हैं और उन सकेतों का उन्होंने यह अर्थ किया कि आलबंदार मेरे द्वारा ब्रह्मसूत्र पर और विष्णुसहस्रनाम पर भाष्य तथा आलवारों के 'दिव्यप्रबंधम्' की टीका लिखवाना चाहते थे। रामानुज ने आचार्य यामुन की इन तीनों बातों को पूरा कर वैष्णव समाज का बड़ा ही उपकार किया। ब्रह्मसूत्र के ऊपर उन्होंने स्वयं 'श्रीभाष्य' नामक विख्यात भाष्य का निर्माण किया और अपने पट्ट शिष्य कूरेश (कुरत्तालवार के ज्येष्ठ पुत्र पराशर) के द्वारा विष्णुसहस्रनाम की टीका 'भगवद् गुणदर्पण' लिखवाई तथा अपने मातुल-पुत्र कुरुकेश के द्वारा नम्मालवार के 'तिरुवाय मोलि' पर तमिल भाष्य की रचना करा कर रामानुज ने यामुनाचार्य के तीनों मनोरथों की पूर्ति कर डाली।

रामानुज के जीवन की तीन प्रधान घटनाएँ हैं—महात्मा नाम्बि से अष्टाक्षर मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) की दीक्षा। गुरु ने इस मंत्र को जगदुद्धारक होने के कारण अत्यंत गोप्य रखने का आग्रह किया, परंतु संसार के प्राणियों के विषम दुःखों से उद्धार के निमित्त शिष्य ने मकान के छतों से तथा वृक्षों के शिखरों से इसका उपदेश देकर प्रचार किया। दूसरी घटना है—श्रीरंगम् के अधिकारी चोलनरेश कट्टर शैव राजा कुलोत्तुंग के भय से श्रीरंगम् का परित्याग। यह घटना १०९६ ई० के आसपास रामानुज के अस्सी वर्ष की अवस्था में घटित हुई। जब राजा ने रामानुज को अपने दरबार में बुलाया, तब इनके पट्टशिष्य कुरेश ने इन्हें जाने नहीं दिया। वे स्वयं वहाँ गये और वैष्णव धर्म के उपदेश देने का यह फल मिला कि राजा के कोप का भाजन बन उन्हें अपनी आँखों से भी हाथ धोना पड़ा। तीसरी घटना है—मैसूर के शासक बिट्टिदेव को वैष्णव धर्म में दीक्षित करना तथा उनका विष्णुवर्धन नाम रखना। इस घटना का समय १०९८ ई० है। ११०० ई० के आसपास रामानुज ने मेलकोट में भगवान् श्रीनारायण के मंदिर की स्थापना की और लगभग १९ वर्षों तक इस देश में निवास किया। राजा कुलोत्तुंग की मृत्यु के अनतर वे १११८ ई० में श्रीरंगम् लौट आये और अनेक मंदिरों का निर्माण कर ११३७ ई० तक आचार्य पीठ पर विराजमान रहे। इन्होंने दक्षिण के विष्णु मंदिरों में वैखानस आगम के द्वारा होने वाली उपासना को हटा कर उसके स्थान में पाञ्चरात्र आगम को प्रतिष्ठित किया[1]।

---

१ रामानुज के जीवनचरित के लिए द्रष्टव्य गोविंदाचार्य—दी लाइफ़ आफ़ रामानुज, मद्रास १९०६; श्री ग्रेट आचार्यज् (नटेसन, मद्रास)

रामानुज के जिन प्रसिद्ध ग्रंथों पर श्रीवैष्णव संप्रदाय के सिद्धांत अवलंबित हैं उनके नाम ये हैं—(१) वेदार्थसंग्रह (शांकर मत तथा भेदाभेदवादी भास्कर मत का खंडनात्मक मौलिक ग्रंथ) (२) वेदांतसार—ब्रह्मसूत्र की लघ्वक्षरा टीका; (३) वेदांतदीप—ब्रह्मसूत्र की ही कुछ विस्तृत व्याख्या; (४) गद्यत्रय (ईश्वर तथा प्रपत्ति विषयक सुंदर ग्रंथ), (५) गीताभाष्य—गीता का श्रीवैष्णव मतानुकूल भाष्य (६) श्रीभाष्य—ब्रह्मसूत्र का उत्कृष्ट पांडित्यपूर्ण भाष्य जिसमें रामानुज की प्रतिभा तथा विद्वत्ता अपने पूर्ण रूप में विकसित हो रही है।

रामानुज ने अपने मत को प्राचीनतम तथा श्रुत्यनुकूल सिद्ध करने का विपुल उद्योग किया है। उनका कथन है कि यह विशिष्टाद्वैत मत बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि, भारुचि आदि प्राचीन वेदांताचार्यों के द्वारा व्याख्यात उपनिषत्-सिद्धांतों के ऊपर ही आश्रित है। श्रीरामानुज के महनीय उद्योगों से वैष्णव धर्म का दक्षिण देश में खूब प्रचार तथा प्रसार हुआ, परंतु इनकी मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही श्रीवैष्णवों में दो स्वतंत्र मत उठ खड़े हुए। इस विरोध का प्रधान बीज था तमिल तथा संस्कृत का झगड़ा। एक पक्ष तामिल वेद की ही अक्षुण्णता सर्वतोभावेन मानता था तथा संस्कृत ग्रंथों में श्रद्धा नहीं रखता था। तमिल के पक्षपाती इस मत का नाम था—'टेंकलइ'। दूसरा मत दोनों भाषाओं में निबद्ध ग्रंथों को प्रमाण कोटि में मानता था, परंतु वह स्वाभावतः संस्कृताभिमानी था। इस मत का नाम था—वडकलै। दोनों में भाषा भेद के अतिरिक्त १८ सिद्धांतगत पार्थक्य भी हैं जिनमें प्रपत्तिविषयक पार्थक्य विशेष रूप से मननीय है। टेंकलै मतानुसार वैष्णवों

को शरणागति ही एकमात्र मोक्षोपाय है जिसमें कर्म का अनुष्ठान कथमपि वांछनीय नहीं होता। परंतु वडकलै के अनुसार जीव को प्रपत्ति के निमित्त भी कर्म का अनुष्ठान आवश्यक होता है। मार्जारकिशोर और कपिकिशोर का दृष्टांत इस मतवाद के विभेद को स्पष्ट करता है। मार्जार किशोर (बिल्ली का बच्चा) स्वयं निश्चेष्ट होकर अपने को अपनी माता के आश्रय में डाल देता है। उस क्रियाहीन बच्चे की माता स्वयं रक्षा करती है। स्वतः उठाकर अपने साथ रखती है। कपिकिशोर अपनी रक्षा के लिए अपनी माता के शरीर को जोरों से पकड़े रहता है, तभी उसकी रक्षा होती है। भक्तों की भी यही द्विविध श्रेणी है। टेंकलै मत के प्रतिष्ठापक थे **श्रीलोकाचार्य** (१३ शतक), जिन्होंने 'श्रीवचन भूषण ग्रंथ'[1] में इस प्रपत्ति पंथ का विशद शास्त्रीय विवेचन किया है। वडकलै मत के संवर्धक थे विख्यात वेदांताचार्य **वेंकटनाथ** वेदांतदेशिक (१२६६ ई०—१३६६ ई०) जो लोकाचार्य के समकालीन तथा प्रतिपक्षी थे। आजकल लोकभाषा पर पर अधिक पक्षपात होने के कारण दक्षिण में 'टेंकलै' मत पर विशेष आग्रह दृष्टिगोचर होता है।

श्री रामानुजाचार्य जी की स्थापित मुख्य गद्दियाँ

विशिष्टाद्वैत (श्री संप्रदाय) के प्रवर्तक श्रीरामानुजाचार्य जी की स्थापित मुख्य आठ गद्दियाँ हैं जिनमें प्रारंभ की छः संन्यस्त गद्दियाँ हैं और अंतिम दो गृहस्थ। १ तोताद्रि - तिन्नेवली स्टेशन से १८ मील पर नागनेरी नामक स्थान पर। वह सर्वप्रधान गद्दी है। यहाँ आचार्य जी का उपदंड पीठ (बैठने का काष्ठासन)

---

१ नागराक्षरों में यह ग्रंथ पुरी के किसी मठ से प्रकाशित होता है।

और शंख चक्र मुद्रा अभी तक सुरक्षित है। वहाँ गद्दी के आचार्य श्रीरामानुजाचार्य के नाम से ही पुकारे जाते हैं। यहाँ पर इसी संप्रदायवालों का विष्णु भगवान् का मंदिर है। २—व्यंकटाद्रि—स्टेशन तिरुपति ईस्ट। यह द्वितीय प्रधान मठ है। यहाँ के आचार्य व्यंकटाचार्य के नाम से पुकारे जाते हैं। सुप्रसिद्ध बालाजी का मंदिर इसी संप्रदायवालों का है। ३ अहोबिल—स्टेशन कडप्पा; शृंगवेल कुंड के पास। यहाँ के आचार्य शटकोपाचार्य के नाम से पुकारे जाते हैं। यहाँ नृसिंह भगवान का मंदिर है। ४ ब्रह्मतंत्र परकाल—मैसूर शहर में। यहाँ के आचार्य ब्रह्मतंत्र रामानुजाचार्य के नाम से पुकारे जाते हैं। ५ मुनित्रय - बंगलोर के पास। यहाँ के आचार्य मुनित्रयाचार्य कहे जाते हैं। ६ श्रीरंगम्—स्टेशन श्रीरंगम् या त्रिचनापली। यहाँ के आचार्य श्रीरंगनाथाचार्य के नाम से कहे जाते हैं। श्रीरंगनाथ स्वामी का मंदिर इसी संप्रदायवालों का है। ७ श्रीरंगम्—यहाँ ऊपर की छठी संन्यस्त एवं सातवीं गृहस्थ दोनों ही गद्दियाँ हैं। गृहस्थ के आचार्य अन्नन स्वामी वा श्रीवरदाचार्य स्वामी के नाम से पुकारे जाते हैं। श्रीरंगजी के मंदिर में दोनों ही आचार्यों की ओर से पूजा होती है किंतु संन्यस्त की पहले होती। ८ विष्णुकांची—स्टेशन कांजीवरम्। आचार्य प्रतिवाद-भयंकर स्वामी के नाम से पुकारे जाते हैं। यहाँ वरदराज विष्णु भगवान् का मंदिर है। काञ्ची की गणना सप्त पुरियों में है। उपर्युक्त आठ मठों के अतिरिक्त और भी कितने ही मठ हैं किंतु प्रधान ये ही हैं।

(३) रामानुज मत के सिद्धांत

इस मत में पदार्थ तीन ही हैं—चित्, अचित् तथा ईश्वर। चित् का अभिप्राय है भोक्ताजीव से, अचित् का भोग्य जगत्

से तथा ईश्वर का अंतर्यामी परमेश्वर से। जीव तथा जगत् भी वस्तुतः नित्य तथा स्वतः-स्वतंत्र पदार्थ हैं, तथापि ईश्वर के इन दोनों के भीतर अंतर्यामी रूप से विद्यमान होने के कारण ये उसके अधीन रहते हैं। इसीलिए चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते हैं।

रामानुज मत में 'निर्गुण' वस्तु की कल्पना असंभव है। क्योंकि संसार के समस्त पदार्थ गुणविशिष्ट ही प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अवसर पर भी सविशेष वस्तु की ही प्रतीत होती है।[1] रामानुज का इस सिद्धांत पर बड़ा आग्रह है। अतः ईश्वर सर्वदा सगुण ही होता है। ईश्वर प्राकृत-गुण-रहित, निखिल हेय-प्रत्यनीक, कल्याण-गुण-गुणाकर, अनंत ज्ञानानंदस्वरूप, ज्ञानशक्ति आदि कल्याण-गुण-विभूषित तथा सृष्टि-स्थिति-संहार-कर्ता है। उपनिषदों का मुख्य तात्पर्य इसी सगुण ब्रह्म के ही प्रतिपादन में है। 'निर्गुण ब्रह्म' का अर्थ यही है कि ईश्वर प्राकृत तथा लौकिक गुणों से विरहित है। ईश्वर के समान सजातीय तथा विजातीय पदार्थ की सत्ता नहीं है। अतः वह सजातीय विजातीय उभयभेदों से शून्य है, परंतु वह स्वगत भेद से शून्य नहीं है। ईश्वर के चित् तथा अचित् शरीर हैं जिनमें चिदंश अचित्-अंश से सर्वथा भिन्न है। अतः ईश्वर में स्वगतभेद की शून्यता मानना सिद्ध नहीं हो सकता।

ईश्वर का चित् तथा अचित् के साथ संबन्ध किस प्रकार का होता है? रामानुज ने इस संबंध की संज्ञा 'अपृथक् सिद्ध'

---

१ सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषयतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते।

—सर्वदर्शन संग्रह पृ० ४३।

दी है। यह संबंध समवाय संबंध से कथमपि साम्य रखने पर भी उससे भिन्न है। समवाय बाह्य सम्बंध है, परंतु अपृथक्सिद्धि आन्तर सम्बन्ध है। आत्मा तथा शरीर के साथ जो संबंध रहता है वही ईश्वर तथा चिदचिद् में रहता है। शरीर वही है जो आत्मा के लिए नियमेन आधेयत्व, नियमेन विधेयत्व तथा नियमेन शेषत्व हो अर्थात् शरीर वही वस्तु है जिसे आत्मा नियमतः धारण करता है तथा अपनी कार्यसिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है।[1] इसी प्रकार ईश्वर चिदचिद् को आश्रित करता है, नियमन करता है तथा कार्य में प्रवृत्त करता है। नियामक होने से ईश्वर प्रधान तथा विशेष्य कहलाता है। नियम्य तथा अप्रधान होने से जीव-जगत् विशेषण कहलाते हैं। विशेष्य की सत्ता पृथक् रूप से सिद्ध है, परंतु विशेषण विशेष्य के साथ ही सदा संबद्ध होने के कारण पृथक् रूप से स्वयं असिद्ध है। अतः त्रिविध तत्त्व के मानने पर भी रामानुज अद्वैतवादी ही हैं। वे विशेषणों से युक्त विशेष्य की एकता स्वीकार करते हैं। अंगभूत चिदचिद् की अंगीभूत ईश्वर से पृथक् सत्ता न होने के कारण ब्रह्म अद्वैतरूप है। इसी वैलक्षण्य के कारण यह संप्रदाय **विशिष्टाद्वैत** के नाम से प्रसिद्ध है।

ईश्वर—ईश्वर समस्त जगत् का निमित्त कारण होते हुए भी उपादान कारण है। जगत् की सृष्टि भगवान् की लीला से ही उत्पन्न है। सृष्टि में वह सृष्ट पदार्थों के साथ लीला किया करता है। उसी प्रकार संहृति भी उसकी एक विशिष्ट लीला ही है, क्योंकि इस व्यापार में ईश्वर आनद का अनुभव करता है। जीव तथा

---

१ सर्वं पुरमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैक-स्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य स्वरूपम्। —श्रीभाष्य (२।१।६)

जगत् की सत्ता नित्य सिद्ध होने पर उनकी सृष्टि तथा संहृति का अर्थ क्या है ? ईश्वर दो प्रकार का होता है—(१) कारणावस्थ ब्रह्म तथा (२) कार्यावस्थ ब्रह्म। सृष्टि-काल में जगत् की प्रतीति स्थूल रूप से होती है। परंतु प्रलयदशा में वही जगत् सूक्ष्म रूप से अवस्थान करता है। अतः प्रलय काल में जीव तथा जगत् के सूक्ष्मरूपापन्न होने के कारण तत्संबद्ध ईश्वर अर्थात् सूक्ष्म चिदचिद्—विशिष्ट ईश्वर कारण ब्रह्म कहलाता है तथा सृष्टि काल में चिदचिद् के स्थूल रूपापन्न होने के हेतु वही स्थूल चिदचिद्-विशिष्ट ईश्वर 'कार्य ब्रह्म' कहलाता है। अद्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य इसी कारण ब्रह्म से है। 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति इसी अव्याकृत ब्रह्म की घोषणा करती है जिसमें प्रलय दशा में जीव तथा जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर ब्रह्म में तदवस्थित हो जाते हैं। यही सगुण ईश्वर भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए परमेश्वर पाँच रूप धारण करता है—(१) पर, (२) व्यूह, (३) विभव, (४) अंतर्यामी (५) अर्चावतार[1]

चित्—'चित्' से अभिप्राय है जीव जो देह-इंद्रिय-मन-प्राण-बुद्धि से विलक्षण, अजड, आनंदरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है। जीव में एक विशेष गुण होता है—शेषत्व अर्थात् अधीनत्व। अपने समस्त कार्य-कलाप के लिए जीव ईश्वर पर आश्रित रहता है। इसी लिए वह कहलाता है शेष तथा ईश्वर कहलाता है शेषी। ब्रह्म तथा जीव के संबंध में रामानुज का मंतव्य है कि जिस प्रकार देह देही का

---

१ इन शब्दों की व्याख्या के लिए देखिए पंचरात्र का वर्णन पृ० १२४–१२५।

अंश है, चिनगारी अग्नि का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है।

अचित्—ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु **अचित्** कहलाती है। अचित् तत्त्व के तीन भेद होते हैं—(१) **शुद्ध-सत्त्व**, (२) **मिश्रसत्त्व** और (३) सत्त्व शून्य। सत्त्व-शून्य अचित् तत्त्व है 'काल'। तम तथा रज से मिश्रित होने वाला मिश्रसत्त्व प्राकृत सृष्टि का उपादान है। इसी की संज्ञा है—माया, अविद्या या प्रकृति। शुद्ध सत्त्व की शुद्धता रज तथा तम की लेशमात्रा से मिश्रित न होने के कारण है। यह नित्य, ज्ञानानंद का जनक, निरवधिक तेजोरूप द्रव्य है जिससे नित्य तथा मुक्त पुरुषों के शरीर की तथा उनके भोग्य स्थान स्वर्गादिकों की रचना होती है। भगवान के व्यूहादिक रूप इसी तत्त्व से बने हुए हैं। रामानुज आत्मा की स्थिति शरीर के अभाव में किसी भी दशा में नहीं मानते। अतः मुक्त दशा में भी जीवों को शरीर-प्राप्ति होती है। वह इसी शुद्ध सत्त्व का बना हुआ अप्राकृत होता है। शुद्ध सत्त्व के विषय में आचार्यों में दो मत दीख पड़ते हैं—टेंकलै मत में वह जड माना जाता है, परंतु बडकलै मत में चित्। शुद्ध सत्त्व से निर्मित **नित्य विभूति** त्रिपाद्-विभूति, परमपद, परम-व्योम, बैकुण्ठ तथा अयोध्या आदि संज्ञाओं से अभिहित की जाती है।

शंकर-रामानुज का सिद्धांत भेद

श्री रामानुज तथा श्रीशंकर के सिद्धान्तगत भेद को जानने के लिए तत्तत् विषयों पर उनके विशिष्ट मत की समीक्षा आवश्यक है।

(१) ब्रह्म

ब्रह्म के विषय में शंकर का कथन है कि 'एकमेवाद्वितीयं' आदि श्रुतियों से जाना जाता है कि ब्रह्म एक, अखण्ड तथा अद्वितीय है, त्रिविध भेद (स्वजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद) से शून्य है तथा तदतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की सत्ता नहीं है। रामानुज ब्रह्म को एक तथा अद्वितीय मानते हुए भी उसे निरंश नहीं मानते। ब्रह्म का स्वजातीय तथा विजातीय भेद का अभाव होने पर भी उसका स्वगत भेद अवश्य ही विद्यमान है, जीव तथा जगत् ही उसके स्वगत भेद हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के निर्गुण होने में भी दोनों का मत भिन्न है। "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" श्रुति के आधार पर शंकर ब्रह्म को साक्षीवत् उदासीन, निर्गुण- निर्विशेष शुद्ध चैतन्य मानते हैं, परंतु रामानुज का कथन है कि ब्रह्म न निर्गुण है और न निर्विशेष। ज्ञान, आनंद, दया आदि निखिल सद्गुणों का आकर होने वाला ब्रह्म निर्गुण नहीं हो सकता। श्रुति का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म में हेय प्राकृतिक गुणों का संबंध नहीं है। उसी प्रकार आनंद, ज्ञान आदि ब्रह्म के विशेष धर्म हैं और चेतन-अचेतन समन्वित जगत् भी उसका विशेषणभूत शरीर है।

(२) जगत्

शंकराचार्य के मत में दृश्यमान जगत् मिथ्या तथा मायामय है और यह माया ब्रह्म की शक्ति होने पर अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ है। रामानुज जगत् के इस स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। जब जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है और उसका शरीर-स्थानीय है, तब वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? वह मायामय

होने पर भी मिथ्या नहीं है। और यह माया भी ब्रह्मशक्ति होने से ब्रह्म में ही आश्रित रहती है, तब वह अनिर्वचनीय पदार्थ नहीं हो सकती।

(३) जीव

शंकरमत में जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध है। जीव ब्रह्म का ही आभास अथवा प्रतिबिंब है और ब्रह्म के समान ही नित्य-मुक्त और स्वप्रकाश है; रामानुज मत में यह सिद्धांत ठीक नहीं। जीव न तो ब्रह्म का आभास या प्रतिबिंब है और न नित्यमुक्त है। जिस प्रकार आग से निकलने वाली चिनगारी उसका अंश है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निर्गत होता है तथा उसका अंश है। दोनों के रूप में महान् अंतर है। जीव है अणु अर्थात् क्षुद्र; ब्रह्म है विभु अर्थात् अतिमहान्। जीव है अल्पज्ञ तथा अल्प शक्तिशाली, परंतु ब्रह्म है सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान्। ऐसी दशा में दोनों की अभेद कल्पना नितांत असंभव है।

(४) मुक्ति

मुक्त दशा में जीव की स्थिति कैसी रहती है? शंकर के अनुसार बुद्धिरूपी उपाधि के नष्ट होने पर जीव ब्रह्म के साथ मिलकर एकाकार बन जाता है क्योंकि उसका पृथक् सत्ता कथमपि सिद्ध नहीं होती। संसारी दशा में जीव उपाधि से अव-च्छिन्न रहता है, परंतु मुक्त दशा में वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। रामानुज को यह तथ्य मान्य नहीं। जब जीव ब्रह्म का अंश है तथा अणु और अल्पज्ञ है, तब ब्रह्म के साथ उसका एकी-भावापन्न होना कथमपि संभव नहीं हो सकता। संसारी दशा में जैसे जीव ब्रह्म से पृथक् है, मुक्त दशा में भी वह वैसा ही

बना रहेगा। मुक्ति-दशा में ब्रह्मानंद का अनुभव करता रहेगा, यही उसका वैशिष्ट्य है।

शंकर के मतानुसार माया, अविद्या तथा अज्ञान—ये तीनों हैं नामतः भिन्न होने पर भी वस्तुतः एक ही पदार्थ हैं। माया ब्रह्म का आश्रय लेकर नाना विवर्त (भ्रम) के कार्य को उत्पन्न करती रहती है, परंतु रामानुज माया और अविद्या को एक अभिन्न पदार्थ नहीं मानते। माया है भगवत्-शक्ति और ब्रह्म में आश्रित रहती है, परंतु अज्ञान है ज्ञान का अभाव और जीव में आश्रित रहता है। अज्ञान अल्पज्ञ जीव को ही मोहित कर सकता है; वह अनंत ज्ञान के आधार ब्रह्म को स्पर्श तक नहीं करता। जीव को संसार में बाँधने वाला यही अज्ञान ही है जो भक्तिजन्य भगवत्-प्रसाद से आप ही आप तिरोहित हो जाता है।

(५) साधन

शंकर—'तत्त्वमसि' महावाक्य अभेद का प्रतिपादक है। ऐसे उपनिषद् महावाक्यों के श्रवण मात्र से उत्पन्न ज्ञान ही मुक्ति लाभ में एकमात्र साधन है, मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

रामानुज—भक्ति ही मुक्ति में एकमात्र साधन है। ज्ञान तो मुक्ति का सहायकमात्र है। भक्तिसेवित भगवत्प्रसाद से ही जीव को मुक्ति लाभ होता है। 'तत्त्वमसि' का तात्पर्य है तस्य त्वम् असि (दासः)=अर्थात् उनका तू सेवक है। स्वामिसेवक भाव का प्रतिपादक यह वाक्य जीव-ब्रह्म का ऐक्य-प्रतिपादक कथमपि नहीं हो सकता। जीव-ब्रह्म का स्वरूप भेद मानते हुए

भला कभी कोई दोनों का ऐक्य मान सकता है ? 'अहं ब्रह्मास्मि' का भी तात्पर्य स्तुतिवाक्य होने से साधक के केवल उत्साह-वर्धन मे है; यह यथार्थतः ऐक्योपदेशक वाक्य नहीं है।

(६) जीवन्मुक्त

शंकर—इसी देह में ब्रह्म साक्षात्कार होने पर जीव मुक्त हो जाता है। अतः ज्ञान से ब्रह्मलाभ होने पर जो जीते ही मुक्ति मिलती है इसी का नाम 'जीवन्मुक्ति' है। शरीरपात होने पर यह जीवन्मुक्त लौकिक सुखदुःख से अतीत होकर सच्चिदानंद ब्रह्म का रूप बन जाता है।

रामानुज—देह रहते मुक्ति पाना एक असंभव घटना है। मुक्ति में केवल विशुद्ध आनंद की ही अनुभूति होती है, परंतु देह रहते जीव नाना क्लेशों का पात्र बना रहता है। अतः उसे मुक्तदशा के आनंद का अनुभव एकदम असंभव ही है। देह-पात होने पर ही मुक्ति संभव है। अतः 'जीवन्मुक्ति' के स्थान पर 'विदेहमुक्ति' ही उचित वस्तु है। देहपात होने पर भी जीव जीव ही रहता है; वह कभी ब्रह्म नहीं होता। उस समय ब्रह्मानंद का उपयोग करता हुआ जीव सब भय तथा क्लेश से मुक्त हो जाता है।

(७) अधिकारी

शंकर—ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी वही व्यक्ति होता है जिसे नित्य तथा अनित्य वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान होता है (नित्यानित्यवस्तुविवेकः)। इस ज्ञान को पूर्वभावी होना आवश्यक है। तब कहीं वह ब्रह्म की जिज्ञासा का अधिकारी होता है।

रामानुज—ठीक नहीं; ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी वही होता है जो कर्म तथा कर्मफल की अनित्यता को जान लेता है। नित्यानित्य का ज्ञान तो ब्रह्मज्ञान के अनन्तर की घटना है।

—:o:—

४—साधनापद्धति

श्रीवष्णवों की साधनापद्धति जीव तथा भगवान् के परस्पर संबंध को लेकर ही प्रवृत्त होती है। भगवान् तथा जीव का अनादिकाल से लेकर शेषशेषिभाव है अर्थात् जीव है शेष=दास और भगवान है शेषी=स्वामी। जीव की यह भावना का प्रख्यात नाम है—शेषभूतता इस भावना का समर्थन गीता के द्वारा होता है। भगवान् ने जीवों को स्वयं 'आत्म-विभूति' कहा है[1] और विभूति शब्द का अर्थ श्रीरामानुज के अनुसार 'नियाम्यत्व' अर्थात् शेष है। अतः अपने स्वरूप से परिचित होकर जीव को यह परम कर्त्तव्य है कि वह तन मन धन से भगवान् और भागवतों की सेवा निर्हेतुक तथा एकनिष्ठा से संपादन करे (शेषवृत्ति-परता)। अनन्यभाव से भगवान् का कैंकर्य तथा उनके प्रियपात्र भगवद्भक्तों की भी सेवा जीव का परम धर्म है। 'भागवत कैङ्कर्य' पर विशेष आग्रह है और भगवान् की भी सेवा तब तक अपूर्ण ही रहती है जब उनके भक्तजनों की सेवा न की जाय। रामानुज स्वामी का यह स्पष्ट आदेश है।[2] संकर्षण

---

१ हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः। —गीता

२ एवंविधं भगवत्-कैङ्कर्यं भागवत—कैङ्कर्यपर्यन्तं न चेत् पूर्णत्वं न याति। —रामानुज।

रूप जीव की उत्पत्ति भगवान् से होती है, इस सिद्धांत का समर्थन इस प्रकार किया जाता है। भगवान् ही इस समग्र प्रपंच के उपादान कारण तथा निमित्त कारण माने जाते हैं और सृष्टिकाल में भगवान् ही प्रपंच रूप से परिणत होते हैं। इसी सिद्धांत का नाम ब्रह्मपरिणामवाद है। 'नारायण' नाम की सार्थकता भी इसी घटना के बल पर चरितार्थ होती है।

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।
तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन 'नारायणः' स्मृतः॥

अर्थात् पचीसों तत्त्व (पंचभूत, पंचतन्मात्रा, दश इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति तथा जीव) नर से उत्पन्न होने के हेतु 'नार' कहलाते हैं और उन तत्त्वों में व्यापक रूप से निवास करने के कारण भगवान् ही नारायण नाम से प्रख्यात हैं। पचीसवों तत्त्व जीव स्वयं नित्य है तब भी उसकी उत्पत्ति की बात असंगत नहीं है। प्रलय काल में जीव भगवान में लीन हो जाते हैं और सर्गावस्था में भगवान् से प्रकट होते हैं। इसी प्रकटता को लक्ष्य में रखकर जीव की उत्पत्ति कही गई है। 'कल्पादौ विसृजाम्यहम्'—गीता भी इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करती है। अतः नित्य जीव की भी भगवत् से उत्पत्ति का कथन अयुक्तिक नहीं मानना चाहिए।

इस जीव के लिए अपने स्वामी नारायण-के चरणारविंद में आत्म-समर्पण करने के अतिरिक्त अन्य कोई महनीय साधना नहीं है। श्रीवैष्णवमत में दास्यभाव की भक्ति गृहीत की गई है। भक्ति का सार है प्रपत्ति। आत्म-निवेदन के बिना भक्ति की अन्य साधना केवल बहिरंगमात्र है। भगवान् के चरणों में अपने को लुटा देना, आत्माभिमान छोड़ कर तथा

सब धर्मों का परित्याग कर शरणापन्न होना ही प्रपत्ति का स्वरूप है। प्रपत्ति के तीन आकार या विशेषण हैं—(१) अनन्य शेषत्व, (२) अनन्य साधनत्व तथा (३) अनन्य भोग्यत्व। 'अनन्य शेषत्व' का अर्थ है भगवान् का ही दास होना। 'अनन्य साधनत्व' से तात्पर्य है एकमात्र भगवान् को ही तत्प्राप्ति में उपाय मानना तथा 'अनन्य भोग्यत्व' का अभिप्राय है अपने को एक भगवत् का ही भोग्य समझना। इन तीनों आकारों से विशिष्ट होने पर ही प्रपत्ति में पूर्णता आती है, परंतु दैववश एक दो आकारों में न्यूनता होने पर भी भगवदनुग्रह से फल में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती[1]। प्रपत्ति भी भगवत्प्राप्ति में परंपरया साधन है, साक्षाद्रूपेण नहीं। प्रपत्ति की उपासना से भगवत्कृपा संपादित होती है और इसी भगवत्कृपा से ही भगवत् की प्राप्ति होती है। निष्कर्ष यह है कि भगवत्-प्राप्ति में भगवत्-कृपा ही एकमात्र उपाय है; प्रपत्ति तो भगवन्मुखोल्लासार्थ है। प्रपन्न जीव को विघ्न-बाधाओं को लात मार कर भगवान् के शरणापन्न होने का व्रत ले लेना चाहिए। इसी भाव को द्योतित करने के लिए श्रीयामुनाचार्य ने बड़े ही अच्छे ढंग से कहा है—

निरासकस्यापि न तावदुत्सहे
महेश! हातुं तव पादपङ्कजम्।
रुषा निरस्तोऽपि शिशुः स्तनन्धयो
न जातु मातुश्चरणौ जिहासति॥

---

१ इदमेव करणत्रम्, एककरणे न्यूनता चेदपि भगवत्-प्रभावतः फलन्यूनता नास्ति—रामानुज

जीव अपने स्वामीभूत भगवत् के समीप स्वयं नहीं जा सकता है। उसे इस कार्य के संपादन के लिए 'गुरु' की आवश्यकता अवश्यमेव होती है। जीव को नारायण के चरणों तक पहुँचाने का माध्यम आचार्य ही होता है। आचार्य-पुरस्कृत जीव को ही नारायण स्वीकार करते हैं और जीव भी आचार्य के द्वारा कृपापूर्वक विहित उपदेश का पालन करता हुआ भगवत-चरण को पा सकता है। वेदांतदेशिक के अनुसार रामायणी कथा का तात्पर्य गुरुतत्त्व का प्रतिपादन ही तो है। भयंकर समुद्र से वेष्टित तथा राक्षसों से पूर्ण लंका में रावण के द्वारा आहृत जनकनंदिनी को भगवान् राम का संदेश तभी मिला जब वीराग्रणी हनुमान ने स्वयं समुद्र लाँघकर उसे सुनाया। जीव की भी दशा जानकी के समान ही है। संसारसिंधु से परिवेष्टित अभिमानशाली रावण रूपी मन तथा राक्षस रूपी इंद्रियों के द्वारा अधिष्ठित इस लंका-रूपी शरीर में दीन हीन जीव निवास कर रहा है। उसका कल्याण तथा भगवच्चरण की प्राप्ति तभी हो सकती है जब हनुमानरूपी आचार्य उसके पास पहुँच कर भगवान् का संदेश सुनावेः—

दर्पोदग्रदशेन्द्रियाननमनो—नक्तञ्चराधिष्ठिते
देहेऽस्मिन् भवसिन्धुना परिवृते दीनां दशामाश्रितः।
अद्यत्वे हनुमत्समान-गुरुणा प्रख्यापितार्थः पुमान्
लंकारुद्ध—विदेहराजतनया—न्यायेन लालप्यते ॥

—०—

५—माध्वमत

दक्षिण भारत में एक दूसरा वैष्णव मत भी रामानुज की मृत्यु से सौ वर्षों के भीतर उत्पन्न हुआ। यह मत अपने प्रतिष्ठापक आचार्य मध्व के नाम पर **माध्वमत** के नाम से विख्यात है। व्यवहारपक्ष में यह भक्तिवादी है तथा अध्यात्मपक्ष में भेदवादी या द्वैतवादी है। श्रीवैष्णवों का प्रधान अड्डा है आंध्र तथा द्रविड़ देश। इसके विपरीत माध्वों का प्रधान स्थान है कर्नाटक प्रांत तथा महाराष्ट्र प्रांत का दक्षिणी भाग। यह वैष्णव संप्रदाय ब्रह्मसंप्रदाय के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसका मूल प्रवर्तन ब्रह्माजी ने किया था। इस ब्रह्मसंप्रदाय के मध्ययुगी प्रतिनिधि थे आचार्य मध्व या आनंदतीर्थ। मध्वाचार्य दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवाद के प्रतिष्ठापक थे तथा धार्मिक दृष्टि से भक्तिवाद के समर्थक थे। मध्ययुग में इस संप्रदाय की विशेष उन्नति हुई। इस मत के आचार्यों का प्रधान लक्ष्य था मायावाद का खंडन। और अपने सिद्धांतों की पुष्टि तथा तर्क की पूर्णता के निमित्त इन्होंने अपने न्यायविषयक विशिष्ट मतों की भी स्थापना तथा प्रतिष्ठा की है। अद्वैत वेदांत का प्रबलतर खंडन तथा अदांत आक्रमण माध्वों की ही ओर से हुआ है। इस मत के अनेक आचार्यों के तर्कों के खंडन करने के निमित्त अद्वैतियों की ओर से अनेक प्रामाणिक ग्रंथों का प्रणयन हुआ है।[1]

समस्त वैष्णव संप्रदायों के परमाचार्य हैं—श्रीकृष्ण। इन्हीं का उपदेश चार शिष्यों के द्वारा प्रवर्तित होने पर वैष्णव सम्प्रदाय के उद्गम का मूल कारण बना। भगवान् श्रीकृष्ण ने वैष्णव तत्त्व

---

१ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन पृ० ५००—५०२

श्रीमध्वाचार्य

का उपदेश इन चार शिष्यों को दिया—(१) श्री, (२) ब्रह्मा, (३) रुद्र, (४) सनक[1]। इनमें ब्रह्मा के द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय के मध्ययुगी प्रतिनिधि हैं आचार्य मध्व या आनंदतीर्थ[2]। माध्वमत उत्पन्न हुआ दक्षिण भारत में और वहीं इसका आज भी विपुल प्रचार है। बंगाल का गौडीय वैष्णव संप्रदाय (या चैतन्य मत) इसी माध्व मत की एक विशिष्ट शाखा है। दार्शनिक दृष्टि में कुछ अंतर होने पर भी चैतन्य मत माध्व मत के साथ ही ऐतिहासिक रीति से सर्वथा संबद्ध है।

मध्वाचार्य का परिचय

इनका जीवनचरित श्रीनारायणरचित 'मध्वाचार्य विजय' और 'मणिमंजरी' में वर्णित है। इनका जन्म दक्षिणभारत के तुलुवदेश के बेलिग्राम में मध्यगेह भट्ट नामक एक वेदवेदाङ्ग-पारंगत ब्राह्मण के घर सन् ११९९ ई० में आश्विन शुक्ला दशमी (विजयादशमी) को हुआ था। इनकी माता का नाम 'वेदवती' था। इनके बालपन का नाम वासुदेव था। आरंभ से ही वैराग्यसंपन्न होने के कारण इन्होंने ११ वर्ष के उम्र में ही

---

१ सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥
—पद्मपुराण

२ रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः॥
—प्रमेयरत्नावली पृ० ८

अद्वैतवादी आचार्य अच्युतपक्ष (या अच्युतप्रेक्ष) से संन्यास ग्रहण किया। अब इनका नाम रखा गया 'पूर्णप्रज्ञ'। वेदांत में पारंगत होने पर गुरु ने इन्हें 'आनंदतीर्थ' नाम देकर मठाधीश बना दिया। सन् १२२८ ई० में इन्होंने अपने गुरु के साथ दक्षिण भारत के विजय के लिये प्रस्थान किया और इस यात्रा में दक्षिण के मंगलौर, विष्णु मंगलम्, त्रिवेन्द्रम्, रामेश्वरम्, श्रीरंगम् आदि स्थानों पर अद्वैती आचार्यों से शास्त्रार्थ करते हुए ये 'उदीपि' नामक स्थान पर पहुँचे। यहीं पर इन्होंने गीता पर अपने मतानुसारी भाष्य की रचना की। कहते हैं कि गीताभाष्य की रचना के अनंतर ये उत्तरी भारत की यात्रा करते हुए बदरिकाश्रम गये और यहीं वेदव्यास को अपना भाष्य दिखला कर उनकी विशेष अनुकम्पा प्राप्त की। सुनते हैं कि वेदव्यास ने प्रसन्न होकर शालिग्राम की तीन मूर्तियाँ दीं जिन्हें इन्होंने सुब्रह्मण्यम्, उदीपि तथा मध्यतल नामक स्थानों पर प्रतिष्ठित किया। समुद्रतल से निकाली गयी कृष्णमूर्ति की स्थापना आचार्य चरण ने उदीपि में की। तभी से यह स्थान माध्वमतानुयायियों के लिए विशिष्ट तीर्थ माना जाता है। यहीं अपने शिष्यों की सुविधा के लिए आचार्य ने और भी आठ मंदिर निर्मित किये जिनमें श्री सीता-राम, लक्ष्मण-सीता, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि आठ मूर्तियों की स्थापना की।

आचार्य ने यज्ञ में पशुहिंसा का निवारण किया। उनका कोमल हृदय यज्ञ में निरीह-पशुओंकी हिंसा नहीं सह सकता था, इसीलिए उन्होंने 'पिष्ट पशु' (आटे के बने हुए पशु) का विधान अपने मतानुयायियों के लिए किया है। जिस प्रकार श्री वैष्णवमत में शंख चक्रादिकी तप्त मुद्रा धारण का विधान है, वैसा ही विधान

माध्वमत में भी है। मध्वाचार्य के शिष्यों में **पंडित त्रिविक्रम** बड़े ही विख्यात हुए इन्हीं के पुत्र **नारायण पंडित** ने मध्व आचार्य के जीवनचरित के विषय में **मध्वविजय** तथा **मणिमंजरी** नामक विख्यात ग्रंथ लिखे हैं। आचार्य ने अपने मत के प्रचार में लगभग अस्सी वर्ष बिताये और इस हिसाब से इनकी मृत्यु १३०३ ई० में मानी जाती है।

आनंदतीर्थ बड़े कर्मनिष्ठ आचार्य थे। इनकी कर्मण्यता तथा अध्यवसाय का परिचय इसी बात से मिल सकता है कि इन्होंने प्रायः तीस ग्रंथों की रचना की थी। इसमें गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य, अनुभाष्य, अनुव्याख्यान, दशोपनिषद् भाष्य, गीता-तात्पर्य-निर्णय, भागवत-तात्पर्य-निर्णय, महाभारत—तात्पर्य-निर्णय आदि ग्रंथ मुख्य हैं। इन मंडनात्मक ग्रंथों के अतिरिक्त इन्होंने अनेक खंडनात्मक ग्रंथों की भी रचना की है जिनमें अद्वैतवाद के सिद्धांतों का, विशेषतः मायावाद का, विशिष्ट खंडन है। ऐसे ग्रंथों में उपाधि-खंडन, मायावाद-खंडन, प्रपंच-मिथ्यात्व-खंडन आदि की गणना की जा सकती है।

(२) *सिद्धांत*

मध्वाचार्य का मत द्वैतवाद के ऊपर प्रतिष्ठित है। वे अद्वैतवाद के पक्के विरोधी और विदूषक हैं। इनके मत का संक्षेप इस प्रसिद्ध पद्य में दिया गया है।

> श्री मन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो।
> भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः॥

मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधनं ।
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

इस पद्य में नौ सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है—

(१) हरिः परतरः—श्री विष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। परमात्मा अनंतगुणों से परिपूर्ण हैं। भगवान् के गुण अनंत हैं और प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बंध और मोक्ष-इन आठों के कर्ता भगवान् ही हैं। वे जड़ प्रकृति तथा चेतन जीव से सर्वथा विलक्षण हैं। चेतन दो प्रकार के होते हैं—जीव और ईश्वर। दोनों का स्वरूप है सच्चिदानंदात्मक; परंतु जीव मायामोहित होने के कारण अनादि काल से बद्ध है तथा अज्ञत्व अणुत्व आदि नाना धर्मों का आश्रय है। ईश्वर इससे नितांत विलक्षण है। वह सर्वज्ञत्व, अनंतशक्तिमत्त्व आदि अपरिमित अप्राकृत गुणों का निधान है। इस प्रकार विष्णु (जो परमात्मा की ही दूसरी संज्ञा है) परम तत्त्व है।

(२) सत्यं जगत्—जगत् सत्य है। अद्वैत वेदांत के अनुसार जगत् मायाजन्य होने के कारण रज्जुसर्प के समान मिथ्या है, परंतु द्वैत मत के अनुसार यह मत ठीक नहीं है। स्वतःप्रमाण वेद ईश्वर को 'सत्य-संकल्प' कहते हैं। भगवान् की कोई भी कल्पना, इच्छा मिथ्या नहीं होती। ऐसी दशा में सत्यसंकल्प के द्वारा निर्मित जगत् क्या असत्य हो सकता है?

(३) तत्त्वतो भेदः—भेद वास्तविक है। भेद पाँच प्रकार का होता है—(क) ईश्वर का जीव से भेद, (ख) ईश्वर का जड़ से भेद, (ग) जीव का जड़ से भेद, (घ) एक जीव का दूसरे जीव से भेद तथा (ङ) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़

पदार्थ से भेद। इन पंचविध भेदों का परिज्ञान मुक्ति में साधक होता है।

(४) **जीवगणा हरेरनुचराः**—समस्त जीव हरि के अनुचर हैं अर्थात् जीवों का सकल सामर्थ्य भगवदधीन है। जीव स्वभावतः अल्पशक्ति और अल्प-ज्ञान-संपन्न है। उसमें भगवान् को छोड़ कर स्वतः कार्य-संपादन की क्षमता नहीं है। अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ विष्णु के अधीन रहकर ही अपना नाना कार्य किया करता है।

(५) **नीचोच्चभावं गताः**—जीवों में तारतम्य रहता है। माध्व-संप्रदाय का यह विशिष्ट मत है कि जीव संसारिदशा में ही अपनी कर्मभिन्नता के कारण ऊँचा नीचा नहीं है, प्रत्युत मोक्ष-दशा में भी जीवों में तारतम्य विद्यमान रहता है। जीव अज्ञान मोह आदि नाना दोषों से मुक्त तथा संसारशील होते हैं। इनमें मुख्यतया तीन भेद होते हैं—(क) मुक्ति-योग्य, (ख) नित्य संसारी, (ग) तमोयोग्य। अथवा (क) उत्तम मानुष, (ख) मध्यम मानुष, (ग) अधम मानुष। इन तीनों में अंतिम दो प्रकारों की कभी मुक्ति नहीं होती। मुक्तियोग व्यक्तियों में देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्य रूप से पाँच भेद होते हैं। मुक्त दशा में भी ये जीव गुणों की भिन्नता के कारण परस्पर भिन्न होते हैं।

(६) **मुक्तिर्नैज-सुखानुभूतिः**—अपने वास्तव सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। इस दशा में कुछ दार्शनिक लोग केवल दुःख का क्षय ही स्वीकार करते हैं, परंतु वैष्णव मत में मुक्ति में आनंद का उदय होता है और वह परमानंद-स्वरूपा है। मोक्ष चार प्रकार का होता है—कर्मक्षय, उत्क्रांति, अचिरादि मार्ग

और भोग। अंतिम प्रकार भोग भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य भेद से चार प्रकार का माना गया है जिनमें सायुज्य मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। सायुज्य मुक्ति है क्या? भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनंद भोग करना (सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः)। मुक्ति के अनुभवकर्ता मुक्त जीवों में भी आनंद का तारतम्य माना जाता है। माध्वमत का विशिष्ट सिद्धांत है कि मुक्तावस्था में जीवों में जो आनंद उदित होता है उसमें भी नाना प्रकार होते हैं—मुक्त जीवों में आनंद का तारतम्य मानना इस दर्शन की विशिष्टता है।

(७) अमला भक्तिः—इस मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है—अमला भक्ति, मलरहित निर्दोष भक्ति। भक्ति में स्वार्थ की भावना ही सबसे बड़ा दोष है। भगवान् में हम तभी भक्ति करते हैं जब कभी कोई हेतु—कारण उत्पन्न होता है, परंतु इस हैतुकी भक्ति का स्थान बहुत ही नीचा है। 'अहैतुकी भक्ति' ही उच्चतम उपाय है। इसी का दूसरा नाम है अनन्या-भक्ति जिसे भगवद्गीता मे मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार किया गया है। गीता के ११ वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अनन्या भक्ति की महिमा इस प्रकार प्रतिपादित की है—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
> (११।५४)

(८) अक्षादिप्रमाण-त्रितयम्—माध्वमत में तीन ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द और इन्हीं तीनों प्रमाणों के आधार पर उसके समग्र प्रमेयों की सिद्धि होती है। तार्किक विषयों में भी मध्वमत के अनेक विशिष्ट सिद्धांत हैं जिनका

प्रतिपादन अनेक माध्व लेखकों ने अपने प्रामाणिक ग्रंथों में किया है। इस विषय का परिचय 'प्रमाण चंद्रिका' (शलारि शेषाचार्य रचित) से भली भाँति किया जा सकता है।

(९) आम्नायवेद्यो हरिः—वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही हैं। वेद अपने अंगों तथा उपांगों के द्वारा उसी हरि का नाना प्रकार से वर्णन करता है। वेदों के प्रतिपाद्य विषय आपाततः बहुत प्रतीत होते हैं, तथापि साक्षात् तथा परंपरया वेदों का तात्पर्य प्रधानतया भगवत्तत्त्व के प्रतिपादन में ही है। इसी लिए 'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते' का स्पष्ट प्रतिपादन अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। वेद में नाना देवताओं की स्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं, परंतु ये नाना देवता भी उसी परब्रह्म हरि के ही अवस्थानुसारी रूप हैं। वही विष्णु विभिन्न परिस्थितियों में तथा भिन्न भिन्न कार्यों के संपादन के लिए नाना रूपों को धारण किया करता है। इंद्र, वरुण, सूर्य, सविता, उषा आदि वेदप्रतिपादित देव और देवी उसी की शक्ति के विलास-मात्र हैं। यास्क ने भी यही प्रतिपादित किया है—माहाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति (निरुक्त ७।४।८-९)। मध्वाचार्य के मत में यह महाभाग्यशाली देवता 'विष्णु' ही हैं।

माध्वमत की गुरुपरंपरा

इस माध्व सम्प्रदाय का विशेष प्रचार तथा प्रचलन दक्षिण भारत में, विशेषतः कर्नाटक तथा महाराष्ट्र प्रांतों में, आज भी उपलब्ध होता है। इस मत के आचार्य प्रायः उसी देश से संबद्ध थे। अतः उनके उपदेशों तथा शिक्षाओं का प्रचलन उस देश में होना स्वाभाविक ही है। परन्तु कई शताब्दियों के अनंतर

इसका प्रचार उत्तर भारत में, विशेषतः बंगाल में, हुआ और इसी गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय के केंद्रस्थल होने के कारण ब्रज-मंडल, प्रधानतया वृंदावन, को इतना गौरव प्राप्त हुआ है। मूल माध्वमत से गौडीय वैष्णव मत का संबंध दिखलाने के लिए माध्वगुरु-परंपरा की मीमांसा अपेक्षित है।

बलदेव विद्याभूषण रचित 'प्रमेय रत्नावली' में उद्धृत माध्व-मत की गुरुपरंपरा इस प्रकार है—

१३ ब्रह्मण्य
१४ व्यासतीर्थ
१५ लक्ष्मीपति
१६ माधवेंद्र
१७ ईश्वर केशवभारती अद्वैत नित्यानंद
१८ श्री चैतन्य

—o—

(६)
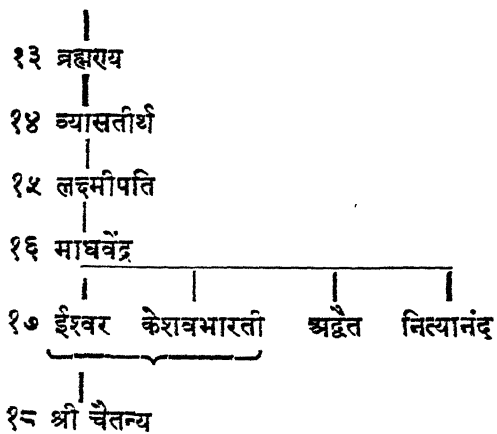
रामावत संप्रदाय

ॐ चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः ।।
स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः ।।

—रामपूर्वतापनीय १।१।१

१ भक्ति का तृतीय उत्थान (१४०० ई०—१६०० ई०)

भक्ति-आंदोलन का तृतीय उत्थान उत्तर भारत में १५ वीं शती के आरंभ में होता है। यह एकांत जनान्दोलन के रूप में पूर्णरूप से अपनी अभिव्यक्ति करता है। यह केवल शास्त्र-चिंतक विद्वानों को ही स्पर्श नहीं करता, प्रत्युत जनता को पूर्ण रूप से आन्दोलित करता है। इस युग की दो शाखायें मुख्य हैं—**रामशाखा** तथा **कृष्ण शाखा**। रामशाखा के उदय का स्थान है काशी, जहाँ स्वामी रामानद जी इसके प्रवर्तन का महनीय कार्य संपन्न कर भारतीय समाज में एक महती धार्मिक क्रांति उत्पन्न कर देते हैं। वे भक्ति का भव्य द्वार समस्त मानवों के लिए—वह निम्न से भी निम्न श्रेणी का क्यों न हो—सर्वदा के लिए खोल देते हैं और मुसलमानों के भीषण अत्याचारों से कराहने वाली हिंदू जनता के उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। उन्हीं से निर्गुण तथा सगुण भक्ति की धारायें प्रवाहित होती हैं जिसमें प्रथम के सबसे बड़े प्रचारक हैं कबीरदास तथा द्वितीय के प्रतिनिधि हैं गोस्वामी तुलसीदास।

कृष्णधारा का उद्गमस्थान है वृंदावन जहाँ रसिकशिरोमणि श्री राधारमण कृष्णचंद्र ने अपनी अलौकिक रसमयी लीलाओं का विस्तार किया था। यहाँ चार संप्रदाय कालक्रम से उत्पन्न होकर अभ्युदय-संपन्न हुए—(१) निंबार्क, (२) वल्लभ, (३) चैतन्य मत (४) राधा-वल्लभीय। निंबार्क बड़े प्राचीन आचार्य

हो गये हैं जिनके आविर्भावकाल का यथार्थ निर्णय अभी तक प्रमाणों के अभाव में नहीं हो सका है। लेखक की दृष्टि में वे वैष्णव संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों में निःसंदेह प्राचीनतम हैं। वल्लभ तथा चैतन्य समकालीन थे। इन तीनों आचार्यों को अपने विभिन्न मतों के विकास तथा स्थापन के निमित्त श्रीमद्भागवत से विशेष स्फूर्ति तथा विपुल प्रेरणा प्राप्त हुई। तथ्य यह है कि ये समस्त संप्रदाय भागवत की ही देन हैं और इसीलिये ये भागवत को प्रस्थानत्रयी के समान ही या उससे भी बढ़ कर प्रमाण ग्रंथ मानते हैं।

इस युग की अन्य विशेषता है **वैष्णव काव्य का उदय**। इन उपदेशकों ने जनता के हृदय को स्पर्श करने के लिए प्रांतीय भाषाओं को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। पूर्ववर्ती आचार्य संस्कृत भाषा के द्वारा ही अपनी शिक्षा देते थे तथा ग्रंथों का प्रणयन करते थे, परंतु इस उत्थान में इसमें विशेष परिवर्तन हुआ। भक्ति-आंदोलन अब जनता का आंदोलन बन गया। पठान बादशाहों की रोमाञ्चकारी यंत्रणाओं से पीड़ित हिंदू जनता अपने रक्षक की खोज में व्याकुल बनी बैठी थी। दैवयोग से इन आचार्यों की वाणी ने भगवान् की ओर उन्हें उन्मुख कर उनके हृदय पर शांति का लेप लगाया, कानों में मंजुल लीला की वीणा सुनाई। ऐहिक तथा पारलौकिक अभ्युदय का मार्ग बताकर इन उपदेशकों ने जनता के शाश्वत कल्याण का मार्ग बतलाया। रामानंदी वैष्णवों में महात्मा तुलसीदास की काव्यकला सबसे अधिक चमकी। उनका रामचरितमानस हिंदू जनता के हृदय को शांत बनाने वाला अलौकिक मानस है। कृष्णधारा के कवियों ने व्रजभाषा को अपना कर मधुरकाव्य की रचना प्रारंभ की जो मध्ययुगीय हिंदी साहित्य की सबसे

प्रौढ़ तथा प्राञ्जल विशेषता है। हिंदी के अष्टछाप कवि—सूरदास, नंददास, परमानंददास, कुंभनदास आदि—का उदय आचार्य वल्लभ की अनुकंपा तथा प्रसाद का परिणत फल है। बिहारी, आनंदघन, रसिक गोविंद, हित हरिवंश, स्वामी हरिदास—आदि रसिक कवियों की कल्पना को अग्रसर करने में निंबार्काचार्य के संप्रदाय का विशेष हाथ है। इस में मथुरा की ब्रजभाषा (जो ब्रजबूली के नाम से बंगाल में विख्यात है) समस्त वष्णव संप्रदायों को एकता के सूत्र में निबद्ध करनेवाली राष्ट्रभाषा थी। चैतन्यमत के बंगाली तथा मैथिल पदकारों ने इस ब्रजबूलिमें अपने अमर काव्यों की रचना कर बंगला साहित्य के गौरव तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाया है। आसामी, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम तथा तमिल भाषाओं में वैष्णव काव्यों की रचना की प्रेरणा इसी जनान्दोलन से प्राप्त हुई जिससे ये समृद्ध तथा संपन्न बन गये। इस प्रकार वैष्णवता के सार्वत्रिक प्रवाह के कारण १५ वीं शती भारत के धार्मिक इतिहास में सर्वदा के लिए चिरस्मरणीय रहेगी। इसने उत्तर तथा दक्षिण भारत में सर्वत्र वैष्णवता की धारा प्रवाहित कर देश को धर्म तथा साहित्य के द्वारा एकता के सूत्र में बाँधने का प्रशंसनीय सफल प्रयास किया।

साहित्य के विकास के साथ साथ ललित कलाओं की भी विशेष उन्नति हुई, विशेष कर चित्रकला की। कला-विशारद राजस्थानी तथा पहाड़ी शैली (हिमाचल चित्रशैली) के नाम से जिस चित्रविद्या के प्रकार को जानते हैं तथा रीझते हैं वह वस्तुतः वैष्णवधर्म की ही देन है। इस युग के राधाकृष्ण के नाना चित्रों का अंकन किस सहृदय के हृदय में आनंद की सरिता नहीं बहाता? किसका मनो-मयूर आनंद-विभोर बनकर नहीं नाच उठता?

आज कल विदेशी शासन तथा धर्म से प्रभावित जनता को पुनः अपने धर्म की ओर रुचि तथा प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले जो नाना प्रकार धार्मिक आन्दोलन चल रहे हैं उन सब को स्फूर्ति तथा प्रेरणा, बल तथा प्रतिष्ठा, प्राप्त करने में यही आन्दोलन आज भी समर्थ है तथा अपना प्रभाव प्रदर्शित कर रहा है।

—०—

२—उत्तरी भारत में भक्ति-आंदोलन

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का आंदोलन उतना सफल तथा प्रभावशाली नहीं बन सका जितना उत्तर भारत में। दक्षिण में शैव धर्म की प्रबल बाढ़ ने वैष्णव धर्म के प्रचार तथा प्रसार के ऊपर पानी फेर दिया। द्रविडदेश शैव धर्म का प्रधान क्षेत्र अत्यंत प्राचीन काल से बना हुआ था जहाँ के शासकों ने अपना वरद् हस्त तथा शीतल आश्रय प्रदान कर इसकी अभिवृद्धि में विशेष योग दान दिया। दक्षिण भारत में वैष्णवों को शैवों के साथ लोहा लेना पड़ता था और इस संघर्ष के कारण वैष्णव धर्म का प्रचार अबाधगति से दक्षिणदेश में हो नहीं सका। परंतु उत्तर भारत में विष्णु-भक्ति के आन्दोलन से लोहा लेने की क्षमता किसी धर्म में नहीं थी। इसके लिए तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति का स्वरूप जानना नितांत आवश्यक है।

१

सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति

महाराज पृथ्वीराज की मृत्यु के साथ ही साथ हिंदुओं का सौभाग्य-सूर्य अनेक शताब्दियों के लिए अस्ताचल के शिखर का अतिथि बन गया। भारतीय इतिहास का मध्ययुग मुसलमान पठान बादशाहों के धार्मिक उन्माद, अत्याचार तथा उग्राचार का ज्वलंत उदाहरण है। काफिरों को दीन इसलाम के पवित्र पानी से पवित्र करना ही उनकी नीति थी। जो कोई शुद्ध धर्माचार का तनिक भी विरोध करता, वह तलवार के घाट उतारा जाता। मुसलमानी भारत के एक प्रसिद्ध इतिहासकार की उक्ति को इस प्रसंग में उद्धृत करना असामयिक न होगा[1]। उनका कहना है कि भारतवर्ष में इसलाम धर्म का प्रचार उसके सरल सिद्धांतों के कारण नहीं हुआ, प्रत्युत वह राजशक्ति का धर्म था जो कभी कभी विजित प्रजा में तलवार तथा दंडद्वारा बलपूर्वक प्रसारित किया जाता था। यह सत्य है कि हिंदुओं में स्वयं दुर्बलता का जोर था, परंतु पदप्राप्ति के लोभ ने तथा राज्य की ओर से आर्थिक पुरस्कार ने हिंदुओं की उस वर्ग के प्रति कसकभरी शत्रुभावनाको दबानेमें कभी सफलता नहीं प्राप्त की जिसने उनकी स्वतंत्रता छीनी थी तथा जो उनके धर्म को घृणा की दृष्टि से देखते थे। मूर्तियों का खंडन करना, विपरीत विश्वासों का हनन करना तथा काफिरों को मुसल्मान बनाना—ये कृत्य एक आदर्श मुसलमान शासकके पवित्र कर्तव्य समझे जाते थे। सिकंदर लोदी

---

१ डा० ईश्वरीप्रसाद—History of Medieval India पृ० ४६५—४७०

(सन् १४८६—१५१७ ई०) के समय में तो हिंदुओं पर अत्याचार करने का एक आंदोलन सा चल पड़ा था। बलपूर्वक मुसलमान बनाना तो साधारण बात थी। हिंदुओं के ऊपर आर्थिक प्रति-बंधों की कमी न थी। कुरानकी आज्ञा में कहीं विधान न होने पर भी हिंदुओं से 'जजिया' नामक कर वसूल किया जाता था। बेचारे हिंदुओं को निर्धनता, हीनता तथा कठिनता का जीवन बिताना पड़ता था। उनकी आय उनके परिवार के लिए कठिनता से पर्याप्त होती थी। विजित प्रजा में रहन-सहन की दशा बहुत ही निम्न श्रेणी की थी। राजकीय कर का भार उन्हीं के ऊपर विशेष रूप से पड़ता था। ऐसी दुर्दशा के कारण बेचारे हिंदुओं को राजनीति के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा दिखलाने का अवसर ही नहीं मिलता था।

श्री वल्लभाचार्य जी के 'कृष्णाश्रय' काव्य द्वारा तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का परिचय हमें भलीभाँति मिलता है। उनके मार्मिक शब्द हैं—देश म्लेच्छों से (मुसलमानों से) आक्रांत है; म्लेच्छों से दबाया गया देश पाप का आलय बन गया है; सत्पुरुष पीड़ा तथा अत्याचार का पात्र बन गया है। तीर्थों की दशा क्या कही जाय? गंगा आदि समस्त उत्तम तीर्थ यवनों के आक्रमणों से पीड़ित हो रहे हैं। इन अत्याचारों के कारण इन तीर्थों का आधिदैविक रूप ही नष्ट हो गया है। अशिक्षा तथा अज्ञान के कारण अर्थ न जानने से वेदों के मंत्र नष्ट हो रहे हैं। लोग ब्रह्मचर्य आदि व्रतों से मुँह मोड़ रहे हैं। वेद का अर्थ संतत नष्ट हो रहा है। ऐसी दशा में कृष्ण ही हमारे केवल आश्रय हैं:—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडा-व्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

गंगादि-तीर्थ वर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अपरिज्ञान - नष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थ - वेदेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
—कृष्णाश्रय (षोडश ग्रंथ)

मुसलमानों के इन उग्र अत्याचारों के कारण हिंदुओं के हृदय में भीतर ही भीतर आग सुलग रही थी। भौतिक जीवन में असफलता का थपेड़ा खाकर वे धार्मिक जीवन के सुधार की ओर अग्रसर हुए। परंतु उन्हें ईप्सित चिरशांति प्राप्त न हो सकी। श्रीशंकराचार्य के द्वारा उपदिष्ट ज्ञानमार्ग तथा निवृत्ति पंथ का प्रचुर प्रचार देश में था, परन्तु ज्ञानमार्ग रूक्षता तथा कठिनता के हेतु जनता को अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। आचार्य कुमारिल के द्वारा उपदिष्ट कर्ममार्ग तथा प्रवृत्तिपंथ में भी जनता के आकर्षण का मोहन मंत्र विद्यमान न था। योगमार्ग का भी प्रचार धार्मिक क्षेत्र में कम न था, परंतु वह भी जनता के बीच उत्साह तथा स्फूर्ति भरने में सामर्थ्य की सीमा तक नहीं पहुँच सका। धर्म लोकधर्म का रूप छोड़कर व्यक्तिगत धर्म का जामा पहनकर ही मचलता दीख पड़ता था। चारों ओर धार्मिक क्षेत्र में जनता को आकर्षण करनेवाले, भगवान् के शील, सौंदर्य तथा शक्ति के परिचायक धर्म का सर्वथा टोटा था जिसे अपना कर जनसाधारण शांति का अनुभव कर अपने जीवन को सफल बनाता। लोगों को उलटी-सीधी आध्यात्मिक बातें बतला कर ठगनेवाले दांभिकों की कमी देश में नहीं थी। धार्मिक क्षेत्र में मनमानी स्वेच्छाचारिता के पोषक नाना वादों का बोलबाला था। पाषण्ड की प्रचुरता थी तथा शुद्ध धर्म के

रूप का ज्ञान अबोध लोगों की बुद्धि से दूर चला गया था। श्रीवल्लभाचार्य जी के शब्दों में—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्म-व्रतादिषु।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

नास्तिकों के नाना वादों ने हिंदुओं के सब कर्म तथा व्रतों को नष्ट कर डाला था तथा धर्मक्षेत्र में सबका प्रयत्न पाषंड के पोषण की ओर ही था। ऐसी दशा में जनता उन्मार्गगामिनी न बनकर सन्मार्गगामिनी कैसे बनती? परमानंददास जी ने भी बड़ी मार्मिक वेदनाभरी वाणी में बड़ा ही स्पष्ट कहा है कि अगर भगवान् श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीलाएँ तथा तत्प्रतिपादक श्रीमद्भागवत पुराण नहीं होता, तो सकल भारतवर्ष औघड़ पंथ का पथिक बन जाता। पाषंड तथा दम्भ की वृद्धि के इस युग में सात्त्विक श्रद्धा तथा धर्म कहीं सिसकते पड़े अपने जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। वेद का अध्ययनशील ब्राह्मण भी अपने मार्ग से विचलित होकर उन्मार्ग का राही बन गया है। तो औरों की तो कथा ही न्यारी है? तब किस पर रोष किया जाय? तत्कालीन धार्मिक स्थिति का परिचायक यह पद ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े ही महत्त्व का है—

माधो, या घर बहुत धरी॥
कहन सुनन को लीला कीन्हीं, मर्यादा न टरी।
जो गोपिन के प्रेम न हो तो, अरु भागवत पुरान।
तो सब औघड़ पन्थिहि हो तो, कथत गमैया ज्ञान॥
बारह बरस को भयो दिगम्बर ज्ञानहीन संन्यासी।
पान खान घर घर सबहिन के, भसम लगाय उदासी॥

पाखण्ड दम्भ बढ्यो कलियुगमें, श्रद्धा धर्म भयो लोप।
परमानन्द वेद पढ़ि बिगरयो, का पर कीजै कोप॥

—परमानन्द दास।

ऐसे ही उथल पुथल के युग में, नाना वादों के विषम दांभिक वातावरण में और ज्ञान तथा कर्म मार्ग की व्यामोहक परिस्थिति में वैष्णवभक्ति का कमनीय कल्पद्रुम उत्तर भारत की केंद्रस्थली काशी में सर्वप्रथम रोपा गया था। हिंदू जनता भगवान् की भव्य झांकी प्रस्तुत करने वाले धर्म के लिए लालायित थी। वह उस आदर्श के लिए प्यासी थी जिसमें रसिकशिरोमणि के शील तथा शक्ति का समन्वय सौंदर्य के साथ संपन्न होता है। वह घट के भीतर ज्योति का प्रकाश दिखलाने वाले धर्म की योग गाथा सुनने के लिए उत्सुक नहीं थी और न ज्ञानमाग के द्वारा किसी निर्गुण तथा अव्यक्त के रूप-दर्शन के निमित्त लालायित थी। वह लोक के भीतर विस्तार पाने वाली मंगलमय भगवान् की लोक-कल्याण-मयी लीलाओं का अवलोकन करना चाहती थी। लोकानुरंजन की कथाओं से वह अपने जीवन को अनुरंजित, रसस्निग्ध तथा रुचिर बनाने की कामना रखती। ऐसी ही दशा में वह अपने को वैष्णव भक्ति की कल्पवेलि की शीतल छाया में आश्रित पाकर उल्लसित हो उठी। उसका जीवन स्निग्ध हो उठा। बाह्य असफलता से प्रताडित जनता आंतारिक शांति का संदेश पाकर कृतकृत्य हो उठी। यावनी आक्रमणों से उसे किसी अंश में त्राण तथा रक्षा प्राप्त हुई। जनता के इस नवीन शांतिदूत का नाम है स्वामी रामानंद तथा उनका संदेश है—भगवान् करुणा-वरुणालय की प्रेममयी रागात्मिका भक्ति।

२

दक्षिण भारत में आलवारों तथा आचार्यों के द्वारा वैष्णव धर्म के प्रचार की गाथा विगत परिच्छेद में हम सुना चुके हैं। विक्रम की १५ शती में इस वैष्णव भक्ति को उत्तर भारत में लाने वाले महापुरुष स्वामी रामानंद जी माने जाते हैं। उत्तर भारत में विष्णु भक्ति के प्रचार के दो केंद्र इस युग में जागरूक थे—(१) काशी तथा (२) मथुरा। काशी रामभक्ति के प्रचार का प्रबल केंद्र था तथा मथुरा-वृंदावन कृष्ण-भक्ति के प्रचार का। इन दोनों केंद्रों में ऐतिहासिक दृष्टि से काशी ही प्रथम केंद्र प्रतीत होता है जहाँ से भक्ति का प्रचार-मन्त्र सर्व-प्रथम उच्चारित किया गया था। विक्रम की १४ शती के मध्यभाग में काशी में इस नवीन धार्मिक जागृति का सूत्रपात हो चुका था। व्रजमण्डल में कृष्णभक्ति के प्रचार का उद्योग सम्भवतः कुछ पीछे प्रतीत होता है। निंबार्क मत का प्रचार व्रजमण्डल में कब आरंभ हुआ? इसे हम भलीभाँति नहीं जानते, परंतु विक्रम की १६ शती के मध्य के आसपास चैतन्यमत तथा वल्लभ संप्रदाय का प्रवेश व्रजमण्डल की पवित्र भूमि मे निश्चित रूप से हो गया था। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि संवत् १५४९ वि० (१४९२ ई०) में वल्लभाचार्य ने व्रज की पहिली बार यात्रा की थी तथा इसके लगभग आठ वर्ष के अनंतर १५५६ विक्रमी (१५०० ई०) के आसपास अक्षय तृतीया को नवनिर्मित मंदिर में श्रीगोवर्धननाथ (श्रीनाथ जी) की मूर्ति की स्थापना हुई थी[1]। चैतन्य महाप्रभु ने भी अपने प्रिय शिष्य लोकनाथ आचार्य को व्रजमण्डल के तीर्थों के उद्धार के लिए लगभग १५१० ई० में मथुरा भेजा था

१ द्रष्टव्य वल्लभ दिग्विजय पृ० ५०

तथा आचार्य जीने व्रजमाहात्म्य तथा पुराणों की सहायता से व्रज के यावनी आक्रमणों के कारण लुप्तप्राय तीर्थों का उद्धार बड़ी ही तत्परता तथा मनोयोग के साथ किया था। अतः विक्रम की १६ शती के मध्यभाग में तथा ईस्वी सन की १५ वीं शती के अंतिम भाग में व्रजमण्डल में कृष्णभक्ति के प्रचार के जीवित केंद्र स्थापित हो चुके थे; यह निःसंदेह कह सकते हैं।

—:※:—

३—स्वामी राघवानंद

दक्षिण भारत से लाकर उत्तर भारत में विष्णुभक्ति के प्रधान प्रचारक स्वामी रामानंद जी माने जाते हैं, परंतु मेरी दृष्टि में यह गौरव इनके गुरु स्वामी राघवानंद जी को ही देना सर्वथा उचित है। राघवानंद जी ही दक्षिण तथा उत्तर भारत के भक्ति-आंदोलनों के संयोजक व्यक्ति हैं। मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलन के इतिहास का परिचय स्वामी राघवानंदजी के परिचय के बिना कथमपि पूरा नहीं हो सकता। इनकी जानकारी सामग्री के अभाव में नहीं के बराबर है। ये रामानुजजी संप्रदाय के महात्मा तथा योगविद्या के पारंगत पंडित माने जाते थे। किंवदंती है कि इन्होंने अपने प्रिय शिष्य रामानंद स्वामी को मृत्युयोग से योगविद्या के बल पर बचाया था। नाभाजी के कथनानुसार ये रामानुजमत के महात्मा थे तथा भक्तिआंदोलन के बड़े भारी नेता थे। इन्होंने भक्त को मान दिया, चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों में भक्ति को दृढ़ किया और समग्र पृथ्वी को हिलाकर (पत्रावलंबित कर) वे स्थायी रूप से काशी में बस गए। नाभाजी का कथन है—

देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानंद ।
तस्य राघवानंद भये भक्तन को मानद ॥
पत्रावलम्ब पृथिवी करी बस कासी स्थाई ।
चारि बरन आश्रम सबहीं को भक्ति दृढ़ाई ॥
तिनके रामानंद प्रगट विश्वमंगल जिन वपु धर्यौ ।
रामानुज-पद्धति प्रताप अवनी अमृत ह्वै अनुसर्यौ ॥
(भक्तमाल, छप्पय ३०)

ये हर्याचार्य के शिष्य तथा रामानंद जी के गुरु बतलाये गये हैं। यह बात तो सर्वथा सिद्ध है, परंतु हमारे पूर्वोक्त मत का पोषक 'हरिभक्ति सिंधुवेला' ग्रंथ का, जिसके कर्ता अनंत स्वामी बताये जाते हैं, यह श्लोक है जिसमें उनका दक्षिण भारत से आकर उत्तर भारत में राममंत्र के प्रचार करने की बात कही गई है—

वन्दे श्रीराघवाचार्यं रामानुजकुलोद्भवम् ।
याम्यादुत्तरमागत्य राममन्त्रप्रचारकम् ॥
(मंत्र प्रकरण, चौथी तरंग)

इस पद्य के साक्ष्य के ऊपर तथा भक्तमाल के 'पत्रालंब पृथिवी करि' वाक्य से हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि उत्तर भारत के विष्णुभक्ति के जनान्दोलन के वास्तव नेता तथा राममंत्र के प्रचारक स्वामी राघवानंद जी ही थे, परंतु इनके पट्टशिष्य रामानंद स्वामी के विशाल व्यक्तित्व तथा कार्यावली ने इनके वास्तव गौरव को इतना आवृत कर दिया कि इनका महत्त्व ही लुप्त हो गया।

उनकी जीवनी अभी तक अंधकारपूर्ण ही है। हम इतना ही जानते हैं कि ये काशी के पंचगंगा पर निवास करते थे तथा

यहीं इन्होंने रामानंद स्वामी को अपना मंत्रशिष्य बनाया था। पंचगंगा घाट पर राघवानंद के नाम से एक प्राचीन मढ़ी अबतक विद्यमान रही, परंतु गतवर्ष को गंगा की बाढ़ने उसे एकदम छिन्नभिन्न कर दिया, परंतु मढ़ी के ध्वंसावशेष आज भी देखने को मिल सकते हैं।

रचना

स्वामी राघवानंद जी की किसी विशिष्ट रचना का पता नहीं चलता जिससे उनके मान्य सिद्धांतों की समीक्षा की जाय। सौभाग्यवश काशी नागरीप्रचारिणी सभा के हस्तलिखित संग्रह में एक छोटी पुस्तिका संगृहीत है जिसका नाम है—**सिद्धांत तन्मात्रा**। इसके रचयिता राघवानंद बतलाये गये हैं और अन्तः-साक्ष्य से ये रामानंद जी के गुरु से अभिन्न व्यक्ति ठहरते हैं। इस पुस्तिका के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि राघवानंद की साधना योग और भक्ति का समन्वित रूप है। योग के पारिभाषिक शब्दों तथा विषयों का संकेत इस पुस्तिका में पर्याप्त रूपेण है। योग शब्दावली जैसे सुन, गगन, शब्द, झनकार (अनाहत नाद) आदि की ही उपलब्धि यहाँ नहीं होती; प्रत्युत योग-प्रक्रिया के विधिविधानों तथा योगियों की वेश-भूषा का भी उल्लेख यहाँ बड़े आदर तथा आग्रह से किया गया है। योगी के मन को एकाग्र करने के लिए धैर्य तथा ब्रह्मचर्य की आवश्य-कता बतलाई गई है। इंद्रियजय के निमित्त नासाग्र-दृष्टि का विधान किया गया है—

> जीह मारी झोदी (ही) कल जीतो जोगी राषो हाथ।
> नन (नैन) नासिका येक ही हाथ
> देख्या चाह जग व्योहार (१, पंक्ति ७–९)

इस क्रिया के अभ्यास से जगत् का प्रत्यक्ष रूप दीख पड़ता है कि यह संसार वास्तव रूप से कभी सत्य नहीं है। प्राणायाम से शुक्र (पानी) को स्थिर कर योगी लोग ऊर्ध्वरेता बन कर काल-वंचना किया करते हैं, इस प्रसिद्ध बात का उल्लेख यहाँ आदर पूर्वक किया गया है—

पवन पानी धरै सो जुग जुग जीव जोगी श्रास।

हठयोग का अंतिम लक्ष्य है चंद्र-सूर्य का समागम, प्राणापान या इडापिंगला नाड़ियों का संमिलन जिससे समाधि दशा में पहुँच कर योगी नाद, शब्द तथा ज्योति का अनुभव करता है। इस पुस्तिका के शब्द हैं—

चंद्रसुरज जमी असमान तारा मण्डल भये प्रकास
आवुन जोगी यह झनकार
सुन गगन मह ध्वजा फराई पुछो सबद भयो प्रकासा
सुन लो सीधो सबद का बासा॥

यह तो हुआ योग की प्रक्रिया का निर्देश। वैष्णव धर्म संबंधी बातों का भी इसमें पूरा उल्लेख है। यहाँ द्वादश (द्वादशाक्षर मंत्र = ओं नमो भगवते वासुदेवाय), तिलक, तुलसी की माला तथा सुमिरनी का आदर के साथ उल्लेख किया गया है तथा वैष्णव धर्म के मान्य सिद्धांतों का भी पर्याप्त उल्लेख है। वैष्णव धर्म के गुरु-माहात्म्य का सुंदर परंतु संक्षिप्त वर्णन यहाँ मिलता है। ग्रंथकार का कहना है कि गुरु से दीक्षा पाने वाला व्यक्ति साधनामार्ग में जितनी सफलता प्राप्त कर सकता है उतनी पोथी-पत्रों को पढ़ने वाला नहीं। सौ दिन का पंडित एक दिन के मुण्डित—दीक्षाप्राप्त—के बराबर होता है:—

सो दीन का पीडन्त एक दी का मुडत ।
पार न पाय योगेश्वर घर का ॥

सच्चे शिष्य का लक्षण यही है कि वह गुरु के शब्दों का, उपदेशों का, आदर करता है। परंतु जो गुरु के वचनों पर रौंद कर चलता है वह 'निगुरा' कहलाता है और साधनामार्ग में कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।

सुगुरा होय तो सबदकू मानै
नुगुरा होय तो ऊपर चाल
चलतो पट दरसन में मो काल
(पृ० ७, पं० ११-१३)

इस प्रकार इस पुस्तिका के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तर भारत के इस भक्ति आंदोलन में योग तथा भक्ति का पूर्ण सामजस्य था; बहुत संभव है कि वैष्णव पंथ ने मध्यकालीन योग-उपासकों को भी अपने में संमिलित कर अपने संप्रदाय को अधिक लोकप्रिय तथा व्यापक बनाया। राघवानंद अवधूतवेश वाले बतलाये गये हैं। 'अवधूत' से अभिप्राय है दत्तात्रेय के उपासक से, जो योगमार्ग के अनुयायी भी थे। इस प्रकार राघवानंद का सिद्धांत हठयोग यथा वैष्णव भक्ति के पूर्ण सामंजस्य तथा संमेलन का प्रतीक है[1]।

—o—

१ 'सिद्धांत तन्मात्रा' का मूल पाठ प्रकाशित है। द्रष्टव्य डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल—योगप्रवाह पृ० १८—२२; प्रकाशक काशी विद्यापीठ, बनारस, सं० २००३।

४—स्वामी रामानंद

रामानंद का आविर्भावकाल

स्वामी रामानंद जी का आविर्भाव किस शताब्दी में हुआ था ? इस समस्या का उचित समाधान नितांत आवश्यक है। स्वामी जी की दो प्रख्यात रचनायें आजकल प्रसिद्ध हैं। ये दोनों संस्कृत में ही है। प्रथम का नाम है—**वैष्णव-मताब्ज-भास्कर** जिसका स्वामी जी ने अपने शिष्य सुरसुरानंद के प्रश्नों के उत्तर रूप में निर्माण किया है। इसमें १६२ पद्य हैं और वैष्णव सिद्धांतों तथा आचारों का विस्तृत विवरण है। दूसरी का नाम है—**रामार्चन पद्धति**[1]। यह संस्कृत में गद्यपद्यात्मक रूप में लिखी गई है और रामचंद्र के पूजन-प्रकार का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करती है। रामार्चन-पद्धति में रामानंद जी ने अपनी गुरु परंपरा का उल्लेख इस प्रकार किया है[2]—

रामचंद्र—>सीता जी—>विष्वक्सेन—>शठकोप स्वामी—>श्री नाथमुनि—>पुण्डरीकाक्ष आचार्य—> राममिश्र—>यामुनाचार्य—>महापूर्णाचार्य—>श्री रामानुज—>कूरेश—>माधवाचार्य—>वोपदेवाचार्य—> देवा-

---

१ इन दोनों ग्रंथों का संस्कृत टीका तथा हिंदी व्याख्या के साथ प्रामाणिक संस्करण बलभद्रदास के संपादकत्व में जयपुर से प्रकाशित हुआ है (सं० १६८८)। इस संस्करण में 'प्रस्तुत प्रसंग' में संपादक ने अनेक महत्त्वपूर्ण सांप्रदायिक बातों का संकलन किया है जो वैष्णव धर्म के जिज्ञासुओं के लिए नितांत उपादेय है।

२ रामार्चन पद्धति श्लोक ३—५।

धिप—> पुरुषोत्तम—> गंगाधर—> रामेश्वर—> द्वारानंद —> देवानंद—> श्रीयानंद—> हरियानंद—> राघवानंद—> रामानंद

इस सच्ची परंपरा के अनुसार श्री रामानुज के १४ वीं पीढ़ी में रामानंदजी का आविर्भाव हुआ। यदि एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष का समय माना जाय तो दोनों के बीच में साढ़े तीन सौ वर्ष का अंतर मानना उचित होगा। श्रीरामानुज का तिरोधान ११३६ ई० में माना जाता है। तदनुसार रामानंद जी का तिरोधान १४८६ ई० अर्थात् १५ वीं शती का अंतिम भाग में मानना कथमपि अन्याय न होगा।

रामानंद जी की यही गुरुपरंपरा सर्वथा मान्य तथा प्रामाणिक है। इसके अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाभा जी दास के द्वारा निर्दिष्ट परंपरा (जिसके अनुसार रामानंद श्रीरामानुज की पाँचवीं पीढ़ी में विद्यमान बतलाये जाते हैं) एकदम अधूरी है। इसमें कतिपय मान्य आचार्यों के ही नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। नाभा जी का वह छप्पय पीछे निर्दिष्ट है।

इसमें देवाचार्य—> हरियानंद—> राघवानंद—> रामानंद की अंतिम छोर तो प्रायः ठीक सी है, परंतु रामानुज तथा देवाचार्य के बीच में आचार्यों के अस्तित्व का वर्णन इसमे नहीं है। अतः उन लोगों का मत जो रामानंद तथा रामानुज के बीच में केवल सौ-सवा सौ वर्षों का व्यवधान मानते हैं (जो ५ पीढ़ी के लिए उचित है), रामानंद जी के स्वतः उल्लेख से एक-दम प्रमाणहीन प्रतीत होता है।

समय-निरूपण के साधन

(१) रामानंद के समय-निरूपण के लिए आवश्यक उपकरणों पर ध्यान देना आवश्यक है। यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि स्वामी रामानंद जी दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी के समय में विद्यमान थे। यह बादशाह बहलोल लोदी का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। उसका पहला नाम था निजाम खाँ; गद्दी पर बैठने पर उसका नाम हुआ सिकंदर। उसने सन् १४८९ से लेकर सन् १५१७ तक २८ वर्षों तक राज्य किया। वह इस्लाम धर्म का बड़ा ही उन्नायक, प्रभावशाली तथा असहिष्णु शासक था। उसके समय में हिंदू धर्म के ऊपर आक्रमण का एक बड़ा तूफान तथा बवण्डर आया था जिसके कारण अनेक हिंदू साधु-संतों को भीषण अत्याचारों का शिकार बनना पड़ा था। उसके समय में मानिकपुर के प्रसिद्ध पीर शेख तकी विद्यमान माने जाते हैं। कतिपय विद्वान् शेख तकी को बादशाह सिकंदर लोदी का गुरु मानते हैं।

(२) कबीर के बीजक से भी शेख तकी तथा कबीर की समकालीनता का परिचय मिलता है—

मानिकपुरहिं कबीर बसेरी। महदति सुनी सेख तकि केरी ॥

(बीजक, ४८ रमैनी)

घट घट है अविनासी सुनो तकी तुम सेख।

कहते है कि इन्हीं शेख तकी ने सिकंदर लोदी से कबीर की शिकायत की थी कि वे इसलाम धर्म की निंदा करते हैं तथा मुसलमान होकर भी हिंदू धर्म की संवर्धना करते हैं। इस पर बादशाह ने कबीर साहब को जंजीर में बँधवा कर गंगाजी में डलवा दिया था। परंतु भगवत्कृपा से जंजीर की कड़ियाँ अपने

आप बिखर गईं और वे बादशाह को ललकारते हुए बाहर निकल आये थे। इस घटना का उल्लेख कबीर के प्रधान शिष्य धर्मदास जी ने किया है—

> शाह सिकन्दर जल में बोरे बहुरि अग्नि पर जारे।
> बेगम हाथी आन झुकाये सिंहरूप दिखराये॥
> निरगुण कथैं अभयपद गावैं जीवन को समुझाये।
> काजी पंडित सभी हराये पार कोउ नहिं पावे॥

इस घटना का उल्लेख संत-साहित्य में विशेष रूप से मिलता है। महात्मा गरीबदास जी ने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

> जड़े तौक बेड़ी गले में जंजीर।
> लोदी सिकन्दर दई है जु पीर॥
> डारे गंगा बीच हुये खड़े।
> राखे समर्थ तौक बेड़ी झड़े॥

नाभा जी के टीकाकार प्रियादास भी इस वर्णन की पुष्टि करते हैं। अतः कबीर तथा सिकंदर लोदी दोनों समकालीन माने जाते हैं। कबीरदास रामानंद जी के शिष्य माने जाते हैं। अतः रामानंद तथा सिकंदर लोदी की बहुत कुछ समसामयिकता अनिवार्य है।

(३) स्वामी रामानंद जी के शिष्यों में अन्यतम शिष्य थे—सेन भगत ये रीवाँनरेश के नापित रूप से प्रसिद्ध हैं। नाभा जी के कथनानुसार जब सेन भगत साधु संतों की सेवा में संलग्न थे, तब भगवान् ने राजा की सेवा में उपस्थित होकर स्वयं नापित का कार्य संपादन किया था। नाभा जी का यह विवरणात्मक छप्पय इस प्रकार है—

प्रभु दास के काज रूप नापित को कीनो।
छिप्र छुरहरी गही पानि दर्पन तहँ लीनो॥
तादृशह्वै तिहि काल भूप को तेल लगायौ।
उलटि राव भयो शिष्य प्रगट परचो जब पायौ॥
श्याम रहत सन्मुख सदा, ज्यों बछरा हित धेन के।
विदित बात जग जानिये, हरि भये सहायक सेन के॥

इस छप्पय में निर्दिष्ट राजा बांधवगढ़ के नरेश थे; इसका परिचय प्रियादास की टीका से लगता है—

बाँधौगढ़ वास, हरि साधु सेवा आस लागी,
पगी मति अति प्रभु परचो दिखायो है।
करि नित नेम चल्यो भूप को लगाऊँ तेल,
भयो मग मेल सन्त, फिरि घर आयो है।
टहल बनायो करी, नृप की न शंक वेरी,
धरि उर स्याम जाय भूपति रिझायो है।
पाछे सेन गयौ, पूछै, हियरंग छयो,
भयो अचरज राजा बचन सुनायो है॥

रीवाँ के महाराजा श्रीरघुराज सिंह ने अपने 'भक्तमाल-राम-रसकावली' में इस महाराजा का नाम **राजाराम** बतलाया है—

बाँधवगढ़ पूरब सो गायो। सेन नाम नापित तहँ जायो॥
ताकी रहै सदा यह रीता। करत रहै साधुन सों प्रीती॥
तहँ को राजाराम बघेला। बरन्यो जेहि कबीर को चेला॥
करै सदा तिनकी सेवकाई। मुकर देखावै तेल लगाई॥

बांधवगढ़ (रीवाँ) के राजा राजाराम का दूसरा नाम रामचंद्र बतलाया जाता है। ये राजा वीरभानु के पुत्र थे। इनका राज्यसमय १५५४ ईस्वी से लेकर १५६१ ई० तक था। इनसे संबद्ध सेन नापित का आविर्भाव काल १६ वीं शती का उत्तरार्ध है। यदि इनके समय से स्वामी जी का तिरोधान पचास वर्ष पहिले माना जाय, तो इनका अंतिम समय १६ वीं शती का आरंभिक वर्ष माना जा सकता है।

स्वामीजी की जीवनी से संबद्ध ऊपर तीन घटनाओं का हमने उल्लेख किया है जो इनके काल के विषय में निर्णायक मानी जा सकती हैं—(१) स्वामी जी की सिकंदर लोदी के समय (१४८६–१५१७ ई०) में विद्यमानता; (२) कबीरदास का सिकंदर लोदी से प्रौढ़ावस्था में भेंट होना; (३) स्वामी जी के अन्यतम शिष्य सेनभक्त की बांधवगढ़ नरेश राजाराम (सन् १५५४–१५६१) के समय में विद्यमानता। स्वामी जी की उम्र सौ वर्ष के ऊपर मानी जाती है। इन समस्त घटनाओं के तारतम्य से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **स्वामी रामानंद जी का आविर्भाव काल १५ वीं शती (१४१० ई० १५१० ई०) है।** इस प्रामाण्य पर अगस्त्यसंहिता के भविष्योत्तर खंड में स्वामी जी का जो अविर्भाव-काल संवत् १३५६ विक्रमी (=१३०० ई०) दिया गया है वह प्रामाणिक कथमपि नहीं हो सकता क्यों कि ऊपर निर्दिष्ट घटनाओं का मेल इस समय से ठीक नहीं बैठता। स्वामी जी के जीवनचरित से संबद्ध घटनाओं तथा शिष्यों के काल के कारण इनका आचार्य-काल पंद्रहवें शतक (१४५० ई०) के मध्यभाग के पीछे ही सिद्ध होता है।

जीवनचरित

स्वामी रामानंद के जीवनचरित की विशिष्ट घटनाओं का ही उल्लेख मिलता है; उनके महत्त्वपूर्ण जीवन की समग्र घटनाओं का परिचय हमें प्राप्त नहीं है। इधर उनके दिग्विजय के वर्णन वाले काव्यों की रचना की गई है, परंतु इस प्रयत्न को विज्ञ आलोचक सांप्रदायिक प्रेरणा का ही फल मानते हैं विशुद्ध ऐतिहासिक पद्धति से मीमांसा तथा छानबीन की इसमें नितांत कमी है। इतना तो निश्चित है कि स्वामी रामानंद उत्तर भारत की आध्यात्मिकता तथा तपश्चर्या के ज्वलंत प्रतीक हैं।

कहते हैं कि इनका जन्म प्रयाग के कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में हुआ था। पिता का नाम था 'पुण्य सदन' तथा माता का सुशीला देवी। आरंभिक शिक्षा-दीक्षा वहीं हुई। जगत् के प्रपंच से वैराग्य ने इनके विशुद्ध हृदय को बाल्यकाल में ही अपना निकेतन बनाया। फलतः ये काशी आये और तत्कालीन प्रख्यात महात्मा राघवानंद जी के शिष्य बन गए। स्वामीजी काशी के पंचगंगा घाट पर निवास करते थे। वे स्वयं वृद्ध हो चले थे और स्वयं ही किसी योग्य शिष्य के अनुसधान में थे। रामानंद जैसे योग्य व्यक्ति को अपना शिष्य बना कर उन्होंने अपने जीवन के महनीय उद्देश्य को सफल माना। आजकल रामानद जी के जीवन से संबद्ध अनेक संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, परंतु उनमें प्रामाणिकता का अभाव होने से वे ऐतिहासिक शोध के उपयुक्त नहीं हैं। एक मुसलमानी फकीर का कथन उनकी महत्ता का पर्याप्त सूचक है।

श्रीभगवत्पादाचार्य के सामयिक मौलाना रशीदुद्दीन नामक एक फकीर काशी में हो गये हैं। उन्होंने "तजकीर तुक फुकरा"

संज्ञक एक पुस्तक लिखी है जिसमें मुसलमान संतों की कथायें हैं। उसमें श्रीरामानंद स्वामी जी की भी कुछ चर्चा उन्होंने की है। उसका हिंदी भाषांतर नीचे उद्धृत किया जाता है[1]:—

इसी पुरी (काशी) में पञ्चगङ्गाघाट पर एक प्रसिद्ध महात्मा रहते हैं। तेजः पुञ्ज और पूर्ण योगेश्वर हैं। वैष्णवों के सर्वमान्य आचार्य हैं। सदाचार और ब्रह्मनिष्ठत्व के स्वरूप ही हैं। परमात्मतत्व रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मविदों के समाज में उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अपि तु, धर्माधिकारमें वे हिंदुओंके धर्म-कर्म के सम्राट् हैं। केवल ब्रह्मवेला में अपनी पुनीत गुफा से गंगा स्नान के लिये बाहर निकलते हैं। उन पवित्र आत्मा को स्वामी रामानंद कहते हैं। उनके शिष्यों की संख्या पांच सौ से अधिक है। उस शिष्यसमूह में द्वादश गुरु के विशेष कृपापात्र हैं कबीर, पीपा और रैदास आदि। भागवतों के समुदाय का नाम "विरागी" है। जो लोक-परलोक की इच्छाओं का त्याग करता है, उसे ब्राह्मणों की भाषा में "विरागी" कहते हैं। कहते हैं कि इस संप्रदायकी प्रवर्तिका (ऋषि) जगज्जननी (श्री) सीता जी हैं। उन्होंने प्रथमतः अपने सविशेष सेवक पार्षदरूप (श्री) हनुमान (जी) को उपदेश किया और उन ऋषि (आचार्य) के द्वारा संसार में उस रहस्य (मंत्र) का प्रकाश हुआ। इस कारण इस संप्रदाय का नाम श्री-संप्रदाय है। और उसके मुख्य मंत्र को "रामतारक" कहते हैं। और यह कि उस पवित्र मंत्र को गुरु शिष्य के कान में दीक्षा देते हैं। और ऊर्ध्वपुंड्र तिलक लाम व मीम के आकार का ललाट तथा

---

१ कल्याण के संतांक में उद्धृत

अन्य ग्यारह स्थलों पर लगाते हैं। तुलसी का "हीरा" जनेऊ में गूँथ कर शिष्य के गले में पहनाते हैं। उनकी जिह्वा जप में और मन सच्चे प्रियतम के दर्शनानुसंधान में रहा करता है। पूर्णतया भजन में ही इस संप्रदाय की रीति है। अधिकांश संत आत्मारामी अथवा परमहंसी जीवन निर्वाह करते हैं।

स्वामी रामानंदजी के जीवनचरित की सामग्री के अभाव में उनका अलौकिक व्यक्तित्व हमारे नेत्रों के सामने पूर्णतया अभी आया ही नहीं है। अयोध्याजी में रामानंदी वैष्णवों का एक ऐसा दल है जो नये नये ग्रंथों की रचना कर उन्हें स्वामी जी की मौलिक रचना घोषित करने में तनिक भी नहीं चूकता। इस दल का उद्देश्य है रामानंदी संप्रदाय को एक स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय सिद्ध करना तथा रामानंद जी को उसका प्रवर्तक मूल आचार्य बतलाना, परंतु यह बात पूर्वोक्त ऐतिहासिक तथ्य से नितांत विरुद्ध है। रामानंद जी आचार्य रामानुज की ही पद्धति तथा परंपरा में थे; यह बात उन्हीं की सच्ची रचना 'रामार्चन-चंद्रिका' से सप्रमाण सिद्ध होती है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त विरचित रचनाओं से हमें सावधान होने की आवश्यकता है। अभी हाल में ही एक विचित्र ग्रंथ का परिचय मिला है जो अभी तक हस्तलिखित रूप में है। इसका नाम है—**प्रसंग पारिजात**। इसके लेखक कोई चेतनदास वैष्णव हैं जिन्होंने संवत् १५१७ में इस विचित्र ग्रंथकी रचना की। यह ग्रंथ भाषा की दृष्टि से एक विचित्र अजायबघर है। यह 'देववाडी प्राकृत' में लिखा गया है जिसमें पैशाची भाषा के शब्दों का भी पूरा प्रयोग किया गया है। ग्रंथ के ऊपर वर्तमान खड़ी बोली में लिखित एक टीका है जिसकी सहायता से भी

इस दुर्भेद्य प्राकृत-दुर्ग में प्रवेश पाना दूभर है। इस नाम की न तो प्राकृत भाषा का ही पता भाषावेत्ताओं को है और न प्रसिद्ध पैशाची भाषा के नियमित शब्दों का ही यहाँ प्रयोग है। जान पड़ता है किसी वैरागी वैष्णव ने इस विलक्षण ग्रन्थ को हाल में ही लिख कर प्रसिद्ध कर दिया है। ऐतिहासिक प्रसिद्ध पुरुषों का भी स्वामी जी के साथ भेंट होने का उल्लेख किया गया है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ये घटनायें सम्भव नहीं प्रतीत होतीं। ग्रन्थकारका मुख्य प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि स्वामी जी अन्त्यजों की शुद्धि के पक्षपाती थे तथा मुसलमानों के संपर्क से दूषित मुसलमान बन जाने वाले हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में लेने के भी प्रेमी थे। भविष्यवाणी के रूप में गान्धीजी तथा उनके विख्यात कार्य का भी उल्लेख किया गया है। चरखा के प्रचारक तथा रामनाम के प्रसारक महात्मा गान्धी सन्त कबीरदास के अवतार बतलाये गये हैं। ग्रंथ की भाषा, भाव, भविष्य वाणी आदि सभी बातें इसे अप्रामाणिक सिद्ध कर रही हैं। स्वामी जी का परिज्ञात चरित्र भी अवश्यमेव विद्यमान है, परंतु अन्य बातें विचित्र कल्पना की प्रसूति प्रतीत होती हैं।

प्रसंगपरिजात में कुल १०८ अष्टपदियाँ हैं और प्रत्येक अष्टपदी में ८ पद हैं। ग्रंथ की अंतिम अष्टपदी से इसका रचना-काल १५१७ विक्रमी (= १४६० ई०) दिया गया है। गत शताब्दी के चतुर्थ चरण में गोरखपुर के मौनी बाबा ने अपना मौन व्रत समाप्त होने पर स्थानीय स्कूल के एक विद्यार्थी को हिंदी टीका के साथ इसे लिखवाया था। अंतिम अष्टपदी भाषा की दृष्टि से अध्ययन के लिए यहाँ उद्धृत की जाती है।

धिप जिम चुणाचू वेभ घुर ।
खिप हामु चेतणदास छुर ॥
वित्तान्त वारिष लेष उर ।
ढिग मरसिया ले पम्भहुर ॥

वसुवीर किम्मरस भुकै ।
पविवेहु खुर भामत रुकै ॥
उचहाँ चुरुण जांणुकै ।
हिचहुर हिमरथाणुं पुकै ॥

पलु पंभिरा सपचा लुली ।
मछुवेहरा गिण वाकुली ॥
अफर्यों वुअर्रा छामुली ।
मकुमिह कुपाटह धामुली ॥

अंजाम भणवासी लुपू ।
देशवाड़ि प्राकृत सुभतुपू ॥
पेशाचि छवदा चिधु छुपू ।
छंदाणु अदणा लिभुशुपू ॥

वासपटि सिव आसिणवुर्गी
दिति औरसा हिम मिहचुर्गी
छुप सग पारी जातुर्गी
हिहरेपु रामचु पातुर्गी ।

अर्थात्—(१) उस महती समागम में बुद्धि विवेक से ही इस चेतन दास को आज्ञा हुई कि संघ में रहकर जो वृत्तांत का समूह चयन किया है, उसे सुनाऊँ सो सुन कर सब परमानंद को प्राप्त हुए—यह आश्चर्य ।

(२) जब संतों की आज्ञा हुई कि इन गुप्त प्रकट वृत्तांतों को लिखा जाय, विचित्र छंद और विचित्र भाषा में, जिसे बिना समझाये कोई समझ न सके. सिद्ध जानुक द्वारा रक्षित रहे।

(३) क्योंकि उसमें कुछ वृत्तांत ऐसे हैं, जिनको उस समय तक छिपाना है, जब तक वह घटना घटित न हो जाय। उसका निश्चय तत्कालीन सिद्ध हो करेगा।

(४) उसी विचार से यह वृत्तांतमाला देशवाड़ी प्राकृत में पिशाच भाषा के सांकेतिक शब्दों के योग से, अदना छंद में, संग्रथित की गई।

(५) ज्ञानभूमि का चंद शिवमूरत सच्चिदानंद अर्थात् १५१७ गुरु जन्म दिन माघ कृष्णा सप्तमी भृगुवार को यह 'प्रसंग-पारिजात' रामनाम लेकर समाप्त हुआ[१]।

५—सिद्धांत

'वैष्णव-मताब्ज-भास्कर' ही स्वामी रामानंद जी के सिद्धांतों का विवेचक एकमात्र महनीय ग्रंथ है। इसका अनुशीलन इनके सिद्धांतों को विशिष्टाद्वैतसम्मत सिद्ध कर रहा है। श्री रामानुजाचार्य के द्वारा व्याख्यात विशिष्टाद्वैतसिद्धांत ही रामानंदजी को सर्वथा मान्य है। अंतर इतना ही है कि श्री वैष्णवोंके द्वादशाक्षर मंत्र के स्थान पर रामानंदी वैष्णवों को रामषडक्षर मंत्र (ॐ राँ रामाय नमः) ही अभीष्ट है। इसी पार्थक्य के कारण रामानंदी वैष्णव अपने को 'वैरागी' वैष्णव के नाम से अभिहित करते

---

१ विशाल भारत नवंबर १६३२ पृ० ३६ पर श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव एम०ए० के लेख में उद्धृत मूल ग्रंथ की अष्टपदी तथा टीका।

हैं। स्वामी रामानंदजी वर्णाश्रम-धर्म के पोषक आचारवान् आचार्य थे। अतः यह साधारणतया प्रचलित विश्वास कि वे जात पाँत के माननेवाले न थे तथा वर्णाश्रम की मर्यादा के रक्षक न थे निराधार तथा सर्वथा भ्रांत है। इस विषय में उत्तर भारत की स्थिति दक्षिण भारत की अपेक्षा नितांत भिन्न है। दक्षिण भारत में दो ही वर्णों की प्रमुख सत्ता है—ब्राह्मणों की तथा तदितर अब्राह्मणों की या शूद्रों की। अतः ब्राह्मणों को अपने भोजन-छाजन के विषय में शूद्रों से विशेष बचकर रहने की आवश्यकता होती है। इसीलिए अपनी धार्मिक निष्ठा तथा आचार की रक्षा के निमित्त रामानुजी आचार्यगण तथा उनके अनुयायी ब्राह्मण लोग कट्टरता की मूर्ति माने जाते हैं। परंतु उत्तर भारत में ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण की सत्ता स्वतः सिद्ध है और ये तीनों वर्ण वेदाध्ययन के अधिकारी होने के कारण 'द्विज' नाम से पुकारे जाते हैं। फलतः उत्तर भारत के वैष्णव ब्राह्मणों को भोजन-छाजन के विषय में विशेष जागरूक होने की उतनी आवश्यकता नहीं होती। इसी लिए यह प्रवाद खड़ा हो गया है कि रामानंद स्वामी ने दक्षिण भारतीय श्रीवैष्णवों की कट्टरता से तंग आकर अपने अनुयायियों के आचार-बंधन की शिथिलता स्वीकार कर ली थी। परंतु यह प्रवाद ही है, इसमें ऐतिहासिक तथ्य नहीं है।

तत्त्वत्रय

आचार्य के अन्यतम शिष्य सुरसुरानंद जी ने श्री रामानंदजी से तत्त्व, श्रेष्ठ जप, उत्तम ध्यान, मुक्ति-साधन, श्रेष्ठ धर्म, वैष्णव लक्षण तथा प्रकार, वैष्णवों के निवास-स्थल, कालक्षेप के प्रकार

तथा प्राप्य वस्तु की जिज्ञासा के लिए दश प्रश्न किए थे और इन्हीं प्रश्नों के उत्तर के अवसर पर ग्रंथ-रत्न की रचना हुई। रामानंद जी को श्रीवैष्णवों का **तत्त्वत्रय** सर्वथा मान्य है। तत्त्व तो चिदचिद् विशिष्ट-रूप से एक ही है, परंतु नाम तथा पदार्थ भेद से वह तीन प्रकार का होता है—(१) चित् (चेतन), (२) अचित् (अचेतन) (३) ईश्वर। चित् तथा अचित् से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर ही 'चिदचिद्-विशिष्ट' माना गया है। ईश्वर के लिए चित् तथा अचित् पृथक् अस्तित्व रखने वाले विशेष नहीं हैं (पृथक् सिद्धानर्ह विशेषण) अर्थात् चित् तथा अचित् की सत्ता ईश्वर से भिन्न किसी भी स्थान पर सिद्ध नहीं हो सकती। चित् से विशिष्ट ईश्वर तथा अचित् से विशिष्ट ईश्वर एक ही है। ईश्वर ही जगत् का कारण भी है तथा कार्य भी है। अंतर केवल स्थूल तथा सूक्ष्म रूप का ही होता है। स्थूल चित् - अचित् से विशिष्ट ईश्वर जगत् का कारण होता है। अतः दोनों दशाओं में भी उसके स्वरूप का व्याघात नहीं होता। रहता है सदा वह विशिष्ट रूप से एक ही। अतः वह 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। ये तीनों तत्त्व ही नित्य हैं। तीनों **तत्त्वत्रय** के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

रामानंदजी ने भगवान् श्री रामचंद्र को परम पुरुष मानकर उनकी उपासना का प्रवर्तन बड़े ही आग्रह तथा निष्ठा के साथ किया और इसीलिए उनके अनुयायी वैष्णवगण **रामावत** संप्रदाय के अंतर्गत माने जाते हैं। राम की उपासना श्रीवैष्णवों में प्राचीन काल में भी प्रचलित थी; परंतु उसका प्रचलन जनता में उतना नहीं था जितना होना चाहिए। शठकोपाचार्य राम के विशिष्ट उपासक माने जाते हैं।[1] प्रसिद्धि यह है कि राजा कुल-

---

१ दुःखमात्रोत्पादकं सदसत्-कर्मभूतं तद्रहितम् उच्चैः स्थितमेकं

शेखर को रामायण की खर दूषण कथा सुनते समय इतनी तन्मयता हो गई कि उन्होंने अपने सेना नायक को समग्र सेना लेकर राम की सहायता के लिए हुकुम दिया तथा वे स्वयं धनुष बाण लेकर युद्धभूमि में उतर पड़े थे।[१] रामानुजाचार्य ने भी अपने गद्यात्मक स्तोत्रों में श्री रामचंद्र की काकुत्स्थ रूप से स्तुति की है। अतः आलवारों में रामोपासना की कमी न थी, परंतु उसे जनता में प्रचार करने का महनीय कार्य श्री रामानंद स्वामी के उद्योग तथा अध्यवसाय का परिणत परिणाम है। वेदों में भी राम की महिमा अज्ञात नहीं है। महाभारत के टीकाकार नीलकंठ चतुर्धर ने वेद के मंत्रों को एकत्रकर **'मंत्र रामायण'** नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथ का निर्माण आज से चार सौ वष पहिले किया था। इसका अनुशीलन राम उपासना की प्राचीनता दिखलाने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है।

रहस्यत्रय

मूल मंत्र, द्वयमंत्र तथा चरम मंत्र इन तीनों को रहस्यत्रय की संज्ञा है। इनका निर्देश तथा विवेचन इस ग्रन्थ में (१० श्लोक ५३ श्लोक) विस्तार के साथ किया गया है—

(क) मूलमंत्र—श्रीराम षडक्षरमंत्र = श्री राँ रामाय नमः।

(ख) द्वयमंत्र—पंचविंशत्यक्षरमंत्र = श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

ज्योतिः लोकान् सप्त निगीर्योदीर्णवन्तं मोहहेत्वाकर्षणकर्तृयमभटानां क्रूरविषमच्युतं दशरथस्य सुतं तं विनाऽन्यशरणवान् नास्मि

सहस्रगीतिः। ३।६।८

१ द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का पृष्ठ १६२—१६३

(ग) चरममंत्र—सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

इस 'रहस्यत्रय' की सूचना इस पद्य में दी गई है—

जाप्यस्तत् तारकाख्यो मनुवरमखिलैर्वह्निबीजं यदादौ
रामो ङें प्रत्ययान्तो रसमितशुभदस्त्वक्षरः स्यान्नमोऽन्तः ।
मन्त्रो रामद्वयाख्यः सकृदिति चरमप्रान्वितो गुह्यगुह्यो
भूताद्युत्संख्यवर्णः सुकृतिभिरनिशं मोक्षकामैर्निषेव्यः ॥
(वै० म० भा०, १० श्लोक)

ध्यान

रामानंदजी ने सीता तथा लक्ष्मण से युक्त श्रीरामचंद्रजी के ध्यान का आदेश अपने अनुयायियों को दिया है। इस त्रिमूर्ति की अर्चा का विधान स्वामीजी के विशिष्टाद्वैतमत की ओर ही पक्ष-पात सूचित कर रहा है। यह त्रिमूर्ति तत्त्वत्रय का ही बाह्य विग्रह है। श्रीसीताजी प्रकृतिस्थानीया हैं। लक्ष्मणजी जीवस्थानीय हैं तथा भगवान् श्रीराम ईश्वरतत्त्व के द्योतक हैं। इसी लिए प्राचीन रामानंदी मंदिरों में इस सिद्धांत[1] के अनुसार त्रिमूर्ति की स्थापना की जाती थी तथा आज भी कई स्थानों में इसी मूर्ति की अर्चा का विधान सम्पन्न किया जाता है। इस ग्रंथ के अनुसार श्रीसीताराम जी (श्री युगल सरकार) की मूर्ति पधराने की व्यवस्था उतनी शास्त्रसम्मत नहीं प्रतीत होती।

मुक्ति का साधन

मुक्ति का साधन एक ही परम पदार्थ है भक्ति। जिस प्रकार तेल की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती है उसी प्रकार

---

१ प्रसन्नलावण्यतनुम्भुजाम्बुजं नरं शरण्यं शरणं नरोत्तमम् ।
सहानुजं दाशरथिं महोत्सवं स्मरामि रामं सह सीतया सदा ॥
—वै० म० भा०, श्लोक ५८।

भगवान् श्री रामचन्द्र में नित्य स्मरणपूर्वक परम अनुराग का नाम भक्ति है। स्मरण की धारा में न किसी प्रकार की त्रुटि होनी चाहिए और न किसी प्रकार का व्यवधान; प्रत्युत वह तैलधारा के समान, समान-गति से प्रवाहित होनी चाहिए। इस भक्ति के जनक सात उपाय हैं—१ विवेक, २ विमोक, ३ अभ्यास, ४ क्रिया, ५ कल्याण, ६ अनवसाद, ७ अनुद्धर्ष। तथा उसके बोधक यम नियमादि आठ अंग है। विवेकादि के विधान बिना भक्ति का उदय नहीं हो सकता। दुष्ट आहार से सात्त्विक आहार का विवेचन 'विवेक' कहलाता है। विमोक का अर्थ है काम में अनासक्ति (विमोकः कामानभिष्वङ्गः) अर्थात् विषय के सन्निधान होने पर चित्त में विकार का अभाव। इस अखिल ब्रह्मांड के आरंभकर्ता श्री भगवान् रामचंद्र का संतत शीलन कहलाता है अभ्यास (आरंभणं संशीलनं पुनः पुनरभ्यासः)। पंच महायज्ञों का अनुष्ठान क्रिया के अंतर्गत आता है तथा सत्य, आर्जव, दान दया आदि की गणना 'कल्याण' के भीतर स्वीकृत की गयी है। अध्यात्ममार्ग के पथिक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा उत्साहसंपन्न होना चाहिए (अनवसाद)। सांसारिक अभिलाषाओं की पूर्ति से उत्पन्न पुत्रदारादि पदार्थों में उत्पन्न उत्कृष्ट हर्ष को कहते हैं उद्धर्ष और इससे विपरीत होता है अनुद्धर्ष। इन सातों साधनों के अनुशीलन से भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। योग के अष्टांगों के द्वारा उद्बुद्ध किया गया यही परम अनुराग भक्ति का स्वरूप है। भक्ति ही मुक्ति की एकमात्र साधिका है। आचार्य का यही मान्य मत है—

सा तैलधारा–समनित्य–संस्मृति-

सन्तानरूपेशि परानुरक्तिः।

भक्तिर्विवेका[1]दिकसप्त-जन्या
तथा यमाद्यष्ट-सुबोधकाङ्गा ॥
(वै० म० भा०, श्लोक ६५)

प्राप्य वस्तु

वैष्णवों के आचार, पूजा विधान तथा कालक्षेप के लिए अनेक साधनों का वर्णन यहाँ किया गया है। अंत में मोक्ष के द्वारा प्राप्य वस्तु की भी मार्मिक मीमांसा है। भगवान् रामचंद्र ही वैष्णवों के लिए परम प्राप्य वस्तु हैं। वे एक हैं, चेतनों के भी चेतन, संसार के भरण-कर्ता, स्वतंत्र, वशी, अशेष दिव्य गुणों के सागर—उपनिषदों में प्रतिपाद्य, शरण्य तथा प्रभु हैं[2]। ऐसे भगवान् की प्राप्ति के निमित्त, वैष्णव को समस्त संशयों के छेदक गुरु की शरण में जाना अनिवार्य है। गुरु के उपदेशों के प्रभाव से भक्त वैष्णव अपने इष्ट देवता के चरणों में समग्र कर्मों का न्यास कर कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त हो जाता है। और मृत्यु के अनंतर वह अर्चिरादि मार्ग का पथिक बन कर एक से एक ऊर्ध्व स्थान को प्राप्त होता है तथा अंत में वैकुण्ठरूपी श्री अयोध्यापुरी में जा विराजता है। प्रकृतिमण्डल की सीमा जो 'विरजा' नामक नदी है उसमें वैष्णव स्नान करके उस लोक में प्रवेश करता है और परब्रह्म श्रीराम की निर्हेतु की दया का भाजन बन कर उनका दर्शन पाता है और वहीं श्री अयोध्या

---

१ विवेकादि सप्त साधनों के रूप तथा लक्षण के लिए देखिए—वैष्णव-मताब्ज-भास्कर की अर्थप्रकाशिका टीका, पृ० १२८—१३४ (संस्करण वही)

२ वै० म० भा०, श्लोक १७९ तथा १८०।

पुरी में वह सदा के लिए निवास करता है—वहाँ से उसका पुनरावर्तन नहीं होता। यही वैष्णवों की परमानंदमयी मुक्ति है—

सीमान्त-सिन्ध्वाप्लुत एव धन्यो
गत्वा परब्रह्म-सुर्वाक्षितोऽनिशम् ॥
प्राप्य महानन्द-महाब्धिमग्नो
नावर्तते जातु ततः पुनः सः ॥

वै० म० भा०, श्लोक १८७

पूर्वोक्त मत-समीक्षा से स्पष्ट है कि रामानन्दजी का सिद्धांत पूर्णतया विशिष्टाद्वैतवादी है; उन्हें तत्त्वत्रय—ईश्वर, चित्, अचित्-सर्वतो भावेन मान्य हैं तथा विशुद्ध भक्ति ही भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र सुलभ उपाय है। उन्होंने भगवान् श्रीरामचन्द्र को परमेश्वर के रूप में स्वीकार किया है। अतएव उन्हीं के षडक्षर मन्त्र की दीक्षा तथा जप का विधान अपने सम्प्रदाय में प्रचलित किया। इसी लिए उत्तरी भारत में रामावत सम्प्रदाय के आद्य प्रवर्तक श्रीरामानन्द स्वामी ही हैं।

संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर स्वामी जी का यही दार्शनिक सिद्धांत है, परन्तु हिन्दी में उपलब्ध कतिपय पदों तथा रचनाओं के अध्ययन से उनके सिद्धांत की एक दूसरी ही दिशा लक्षित होती है। हिन्दी में उनके कतिपय पद तथा एक छोटा 'रामरक्षा' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है जिनके नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में हस्तलेख सुरक्षित हैं। रामानंद जी रचित हनुमानजी की एक प्रशस्त स्तुति मिलती है—

आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्ट-दलन रघुनाथ कला की।
जाके बल-भर ते महि काँपै। रोग सोग जाकी सिमा न चाँपै॥

अँजनी - सुत महाबल दायक। साधु संत पर सदा सहायक ॥
बाएँ भुजा सब असुर सँहारी। दहिन भुजा सब संत उबारी ॥
लछिमन धरनि में मूर्छि पऱ्यो। पैठि पताल जमकातर तोऱ्यो ॥
आनि सजीवन प्रान उबाऱ्यो। मही सबन पै भुजा उपाऱ्यो ॥
गाढ़ परे कपि सुमिरों तोहीं। होहु दयाल देहु जस मोहीं ॥
लंका कोट समुंदर खाई। जात पवन सुत बार न लाई ॥
लंक प्रजारि असुर सब माऱ्यो। राजाराम के काज सँवाऱ्यो ॥
घंटा ताल झालरी बाजैं। जगमग जोति अवधपुर छाजैं ॥
जो हनुमानजी की आरति गावै। बसि बैकुंठ परम पद पावै ॥
लंक विधंस कियौ रघुराई। रामानंद आरती गाई ॥
सुर नर मुनि सब करहिं आरती। जै जैं जै हनुमान लाल की ॥

६—रामानंद के शिष्य

स्वामी रामानंद के शिष्य परंपरा में बारह माने जाते हैं जिनमें से पाँच अर्थात् सेन नायी, कबीर साहब, पीपा जी, रमादास (रैदास) एवं धन्ना भगत के साथ पद्मावती नामक एक शिष्या को भी संमिलित कर रहस्यत्रयी के टीकाकार ने उन्हें छः माना है और जितेंद्रिय भी कहा है। आनंदनामधारी इनके अन्य सात शिष्य थे—(१) अनंतानंद (२) सुरसुरानंद (३) नरहरियानन्द (४) योगानंद (५) सुखानंद (६) भवानंद (७) गालवानंद। इस प्रकार वस्तुतः तेरह जान पड़ने वाले व्यक्तियों को 'सार्ध द्वादश शिष्याः' कहा गया है[1]। स्वामी रामा-

---

[1] राघवानंद एतस्य रामानंदस्ततोऽभवत्। सार्द्ध-द्वादश-शिष्याः स्युः रानानंदस्य सद्गुरोः। द्वादशादित्य संकाशाः संसार-तिमिरापहाः। श्री मदनंतानंदस्तु सुरसुरानंदस्तथा ॥१६॥ नरहरियानंदस्तु योगानंदस्तथैवत्र।

नंद जी के इन शिष्यों की नामावली में बहुधा मतभेद भी पाया जाता है। सर्वसंमत नामों में सेननार्यी आदि के उक्त पाँच के अतिरिक्त केवल भवानंद, सुरसुरानंद एवं सुखानंद के ही नाम लिये जाते हैं। अन्य चार नाम भिन्न भिन्न दीख पड़ते हैं। इन समग्र संतों की एककालीनता का निर्णय न होने के कारण उक्त मत को सर्वमान्य नहीं मान सकते। इस विषय का अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका है। सुरसुरानंद को स्वामी रामानंद जी ने अपने सिद्धांतों की शिक्षा स्वयं दी थी, इस बात का निर्णय वैष्णव-मताब्जभास्कर से स्वतः चलता है। आरंभ के पाँच शिष्यों के ग्रंथों के अध्ययन से आजकल आलोचक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से किसी ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वामी रामानंद को अपना गुरु स्वीकार नहीं किया है और उनमें से सब लोगों ने उनका नाम तक नहीं लिया है। कम से कम पीपाजी ने अपने को कबीर साहब द्वारा तथा धन्ना ने नामदेव, कबीर, रैदास तथा सेननार्यी की कथाओं के द्वारा प्रभावित होना स्वीकार किया है। अतः विद्वानों को सेन नाई आदि प्रथम निर्दिष्ट पाँचों व्यक्तियों के रामानंद जी के निश्चित शिष्य होने में बड़ा संदेह बना हुआ है[1]।

—०—

सुखा भावगालवं च सहैते नाम नन्दनाः ॥ १७ ॥ कबीरश्च रमादासः सेना पीपा धनास्तथा ॥ पद्मावती तदद्धश्च षडेते च जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥ 'भक्तिसुधाबिन्दुस्वाद' (रूपकला जी, पृ० २६४ पर उद्धृत)।

१. द्रष्टव्य परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संतपरंपरा, पृ० २२३-२२७।

शिष्यों का संक्षिप्त परिचय

(१) सेन नाई—इनके विषय में दो भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं। एक के अनुसार ये बीदर के राजा की सेवा में नियुक्त थे तथा संत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। इनके अनेक मराठी अभंग आदि भी प्रचलित हैं जिनमें भगवान् के प्रति इनकी एकांत निष्ठा तथा प्रगाढ़ भक्ति सर्वत्र लक्षित होती है। दूसरा मत सेननाई को बांधवगढ़ नरेश(रीवाँ के राजा) का सेवक होना बतलाता है तथा इन्हें स्वामी रामानंद का शिष्य भी मानता है। नाभादास जी ने इनके विषय में अपने एक छप्पय में भगवान् के द्वारा सेन के स्थान पर नाई का रूप धारण करने, राजा का तैलमर्दन करने तथा राजा का इनका शिष्य बन जाने का उल्लेख किया है। धन्ना भगत ने भी सेन के लिए भगवान् द्वारा रूप-धारण करने की कथा को अपने समय में घर घर प्रसिद्ध होना बतलाया है। नहीं कहा जा सकता कि वारकरी भक्त सेन तथा रामानंदी सेन एक ही अभिन्न व्यक्ति थे या भिन्न भिन्न। गुरु-ग्रंथ साहब में सेननाई का भी पद आता है जिसमें इन्होंने स्वामी रामानंद का नाम दिया है और उन्हें राम-भक्ति का मर्मज्ञ तथा पूर्ण परमानंद का व्याख्याता कहा है। यदि ये दोनों मत एक ही व्यक्ति को लक्ष्य कर हों, तो संभव है कि सेन पहले महाराष्ट्र में रहते थे तथा वारकरी संप्रदाय के अनुयायी थे और पीछे उत्तर भारत में आ कर स्वामी रामानंद का शिष्यत्व स्वीकार किया होगा। दक्षिण भारत के संतों का इस प्रकार उत्तर भारत में रमने का दृष्टांत अन्यत्र भी मिलता है। संत नामदेव ने जिस प्रकार मराठी अभंगों के साथ साथ हिंदी पदों की रचना की थी, उसी प्रकार इन्होंने भी किया होगा। इनका समय चौदहवीं

विक्रमी शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा पंद्रहवीं का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। इनके नाम से सेनपंथ नामक कोई वैष्णव मत भी प्रचलित था पर उसका विशेष वर्णन नहीं मिलता।

(२) पीपा जी—ये राजपूताना के किसी रियासत के सुप्रसिद्ध महाराजा थे। कहा जाता है कि इनके बड़े भाई राजा अचलदास खीची के साथ राणा कुंभा (सं० १४७५–१५२५) की बहन का व्याह हुआ था और यह उनकी पहली रानी थी। इस प्रकार पीपा जी का भी समय पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। ये पहले भवानी के उपासक थे, परंतु स्वामी रामानंद जी के सम्पर्क में आकर ये वैष्णव साधु बन गये। सुनते हैं कि पीपा जी ने अपनी रानी सीता देवी के साथ द्वारिका की यात्रा की और अपने परिचित किसी भक्त मित्र के लिए गाने बजाने का भी काम करके धन संग्रह किया। इसी यात्रा के स्मारक रूप में पीपामठ नामक बृहत् मठ आज भी विद्यमान है।

ये अंत समय में द्वारिकापुरी में रहते थे। इनके रहने की एक कोई गुफा भी बतलाई जाती है जो इतनी भयानक है कि उसमें प्रवेश करने का किसी को साहस नहीं होता। प्रसिद्ध है कि पीपा और उनकी रानी भगवान् के दर्शन के लिए लालायित हो कर एक बार भावावेश में आकर समुद्र में कूद पड़े थे। इन्हें वहाँ भगवान् के दर्शन हुए और इस घटना का चिह्न-स्वरूप अपने शरीर के ऊपर छाप लगा कर ये बाहर निकले थे। आज भी द्वारिकापुरी के यात्री को ऐसी ही छाप दी जाती है। ग्रंथ साहब में इनका भी एक पद संगृहीत है जिसमें पिंड और ब्रह्मांड की एकता के सिद्धांत का प्रतिपादन है। इनकी कोई बानी अभी तक प्रकाशित नहीं है।

(३) संत रैदास—इनका जन्म काशी में ही किसी चमार के घर हुआ था। इस बात का उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है कि नीच जाति में जन्म लेने पर भी भगवान् की कृपा से ये ऐसे सिद्ध पुरुष हो गए कि ब्राह्मण लोग भी इन्हें प्रणाम करते थे[१]। ये संभवतः काशी में ही रहा करते थे और बारह वर्ष की अवस्था से ही संतों की संगति में आकर मिट्टी की बनी राम-जानकी की मूर्ति को पूजने लगे थे। स्वभाव से अत्यंत निस्पृह तथा संतोषी थे और अपने हाथ के बने हुए जूतों को सन्तों को पहनाया करते थे। इनके फुटकर पद बहुत से मिलते हैं। गुरु ग्रंथ साहब में भी इनके बहुत से पद आए हैं जिसकी भाषा बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'रैदास जी की बानी' नामक ग्रंथ की भाषा से बिल्कुल भिन्न है। इनके सिद्धांत बड़े ऊँचे दर्जे के हैं। मीराबाई के पदों में किसी रैदास संत का नाम बड़े आदर के साथ लिया गया है जिसके आधार पर कुछ लोग रैदास को मीरा का दीक्षागुरु मानते हैं। परंतु मीरा की पदावली के अध्ययन से दोनों की एककालीनता सिद्ध नहीं होती। जिस धन्ना भगत ने रैदास को अपना एक आदर्श माना है उन्हीं का उल्लेख मीराबाई ने किसी प्राचीन पौराणिक भक्त की भाँति किया है। अतः यही प्रतीत होता है कि मीरा ने इन पदों में किसी रैदासी महात्मा की ओर संकेत किया है। इनके नाम से रैदासी संप्रदाय का प्रचलन बतलाया जाता है, परंतु ऐसे किसी व्यवस्थित पंथ का परिचय नहीं मिलता।

---

१ 'मेरी जाति कुटवां ढला ढोर ढोवंता नितहि बानारसी आसपासा।
अब बिप्र परधान तिहि करहि डंडउति, तेरे नाम सरणाई रविदासुदासा॥
—ग्रंथ साहब पद १, रागु मलार

रैदास ने बड़े सीधे साधे शब्दों में अपनी भक्ति तथा साधना का वर्णन किया हैं। इस पद के द्वारा वे साधु को भगवान् का सच्चा भक्त बनने तथा उसके असली रहस्य जानने का उपदेश दे रहे हैं। फकीर का वेश तो बना लिया, पर असली भेद तक नहीं पहुँच सका। अमृत ले तो लिया, परंतु प्रेम विषयों के विष में ही पड़ा रहा—

भेष लियो पै भेद न जान्यो,
अमृत लेइ, विषै सों मान्यो।
काम-क्रोध में जनम गँवायो,
साधु-संगति मिलि राम न गायो।
तिलक दियो, पै तपनि न जाई,
माला पहिरै घनेरी लाई।
कह 'रैदास' मरम जो पाऊँ;
देव निरंजन सत करि ध्याऊँ।

(४) **कबीरः**—रामानंद जी के शिष्यों में कबीरदास ही स्वतंत्र मत के प्रतिष्ठापक हैं जिनका प्रभाव उत्तर भारत के संतों के ऊपर बहुत ही अधिक पड़ा है। कबीर का जन्म विक्रम संवत् १४५६ ज्येष्ठ पूर्णिमा को तथा इनका मृत्युकाल संवत् १५७५ को माना जाता है। इस प्रकार इनकी आयु १२० वर्ष ठहरती है। ये काशी के ही अली या नीरू नामक जुलाहा की संतान माने जाते हैं। रामानंद जी के प्रभाव में आकर ये उनके शिष्य बने थे। इनके मुसलमान भक्तों का कहना है कि ये प्रसिद्ध सूफी विद्वान्

---

१ 'गुरु मिलया रैदास जी दीन्हो ग्यान की गुटकी' 'रैदास संत मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी'—'मीराबाई की पदावली'—पद २४, १५६ (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

शेखतकी के शिष्य थे। इनकी बानी का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है जिनके तीन भाग किये गये हैं—रमैनी, सबद, और साखी। इनकी सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश 'साखी' के भीतर हैं जो दोहों में हैं। पूरब के होने पर भी इनकी पदों की भाषा राजस्थानी और पंजाबी से मिली खड़ी बोली है[1]।

इन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन एक विचित्र ढंग से किया है जो ऊपर से देखने पर तो बड़ा ही अटपटा मालूम पड़ता है परंतु उसके मर्म के समझने पर अत्यंत सुगढ़ और व्यवस्थित प्रतीत होता है। कबीरदास अपने अक्खड़पने के लिए जितने प्रसिद्ध हैं, उतने ही अपने उलटबांसियों के लिए भी विख्यात हैं। इसमें संदेह नहीं कि कबीरदास बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे जिनका प्रभाव एक प्रकार से समस्त संत-साहित्य के ऊपर पड़ा है।

कबीर की कुछ प्रचलित साखियाँ भी इस परंपरा का समर्थन करती हैं कि रामानंद स्वामी उनके गुरु थे—

(१) भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानंद।
कबीर ने परगट करी, सात दीप नवखंड॥
(साखी ग्रंथ, पृ० १०७ दो० १)

(२) सतगुर के परतापते, मिटि गए सब दुख द्वंद।
कहै कबीर दुविधा मिटी, जब (गुरु) मिलिया रामानंद॥
(दो० ९)

१—कबीर के भाषा के लिए विशेष रूप से द्रष्टव्य पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव—'कबीर साहित्य का अध्ययन', पृ० ८७–१२२

(२) कबीर रामानंद का, सतगुर मिले सहाय।
जग में जुगति अनूप है सोई दई बताय ॥ (दो० ६)

बीजक में भी एक बार रामानंद का नाम आया है:—

रामानंद राम रस माते कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।
(बीजक ७७)

यदि हम टीकाकारों का मत मान कर रामानंद का अर्थ गुरु रामानंद न मान कर केवल 'राम नाम के उपासक रामानद जन' मान लें, तो कहना पड़ेगा कि तीनों ग्रंथों में रामानंद का संकेत कहीं नहीं मिलता। परंतु इन ग्रंथों में रामानंद के उल्लेख का अभाव उन्हें कबीर का गुरु मानने में कथमपि बाधक नहीं हो सकता। जब कबीर ने अपने माता पिता कुल आदि के संबंध में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं लिखा है तो गुरु के नाम का उल्लेख न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कबीर साधन तथा संस्कार से सोलहो आने हिंदू हैं। मुसलमान कुल में पल कर भी किसी हिंदू गुरु के द्वारा प्रभावित होने से ही यह कार्य संभव हो सकता है। ऐसी दशा में प्राचीन काल से चली आने वाली गुरुविषयक परंपरा के तिरस्कार करने का कोई उचित कारण नहीं प्रतीत होता, विशेष कर जब तत्कालीन मुसलमान लेखक ने इस घटना का उल्लेख अपने ग्रंथ में निश्चित रूप से किया है। रामानंद के समकालीन मौलाना रशीदुद्दीन नामक फकीर ने अपने तजकीरतुल फुकरा' नामक ग्रंथ में स्वामी जी के बारह शिष्यों में कबीरदास को ही पट्टशिष्य के रूप में निर्दिष्ट किया है। समकालीन होने से इस पक्षपातहीन कथन का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत ही अधिक है।

वैरागी संप्रदाय

नाभादास जी ने स्वामी रामानंद जी के १२ शिष्यों के नाम तथा काम का विशेष वर्णन किया है। इन शिष्यों के नाम पूर्ववर्णन से भिन्न हैं—अनतानंद, (२) सुखानंद, (३) सुरसुरानंद, (४) नरहर्यानंद, (५) भावानंद, (६) पीपा, (७) कबीर, (८) सेन, (९) धना, (१०) रैदास, (११) पद्मावती और (१२) सुरसुरी (सुरसुरानंद की धर्मपत्नी)। इन शिष्यों में से कबीर ने अपना स्वतंत्र निर्गुण पथ ही चलाया जिनके पंथ की कहानी निर्गुण भक्ति-संप्रदाय के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखती है, परंतु सगुण भक्ति के प्रचारक शिष्यों में अनंतानंद जी सर्वथा अग्रगण्य है।

अनंतानंद जी अपनी एकांत-निष्ठा तथा विमल प्रेम के कारण अत्यन्त विख्यात थे। भक्तकाल (छप्पय १५३) ने इनके ७ शिष्यों के नाम बतलाये हैं जिनमें कृष्णदास पयहारी जी मुख्य थे। रसिकप्रिया जी ने अपने 'रसिक भक्तकाल' में अनंतानंद जी की यह प्रशस्त स्तुति लिखी है—

रामानंद स्वामी जू के शिष्य श्री अनंतानंद,
शीतल सुचंदन से भक्तन अनंद कर।
संतन के मानद परानंद मगन मन,
मानसी सरूप छवि सरसि मराल वर।
जनक लली की कृपापात्र चारुशिला अली,
रूप में अभिन्न भुजैं रंगभूमि लीला पर।
ऊपर समाधि उर अमित अगाध नैन,
अँसुवा स्रवत उमगत मानो सुधासर।

कृष्णदास पयहारी—वैरागी संप्रदाय के इतिहास में इनका नाम विशेष उल्लेखनीय इस कारण है कि इन्होंने 'गलता' (जयपुर रियासत) में रामानंदी संप्रदाय की मान्य गद्दी स्थापित की। रामानुज संप्रदाय में जो महत्त्व 'तोताद्रि' को प्राप्त है, वही महत्त्व इस वैरागी संप्रदाय में 'गलता' को प्राप्त हुआ। इसी से यह 'उत्तर तोताद्रि' के नाम से विख्यात है। भक्तमाल (छप्पय नं० ३३) में इन की कीर्ति का विशेष वर्णन किया गया है[1]। ये थे राजपुताने में प्रसिद्ध दाधीच ब्राह्मण और इसी लिए नाभादास जी ने इनके कार्य की तुलना दधीच ऋषि के कार्य से की है। राजपुताना बहुत दिनों से नाथपंथी कनफटे योगियों का प्रधान अखाड़ा रहा है। अतः भक्ति के प्रभाव के प्रसार होने से ये साधु लोग इस नवीन पंथ की ओर अत्यंत घृणा करने लगे। सुनते हैं कि जब कृष्णदास जी गलता में धूनी रमाकर रहने लगे, तब नाथपंथियों ने उन्हें वहाँ से उठा दिया। तब इन्हों ने धूनी की आग एक कपड़े में रखकर अन्यत्र अपनी धूनी रमाई। इस चमत्कार को तिरस्कृत करने के लिए

---

१ जाके सिर कर धरयो तासु कर तर नहि अड्यो।
अर्प्यो पद निर्वान सोक निर्भय करि छड्यो।
तेजपुंज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
सेवत चरन सरोज राय राना भुवि जेता॥
दाहिमा वंश दिनकर उदय,
सन्त कमल हित सुख दियो।
निर्वेद अवधि कलि कृष्णदास
अन परिहरि पयपान कियो।
—भक्तमाल (छ० ३३)

कनफटों का महंथ बाघ बनकर इनकी ओर झपटा। पयहारी जी झट बोल उठे—तू कैसा गदहा है। फलतः महंथ जी गदहा बन गये। और आमेर के राजा पृथ्वीराज के बहुत प्रार्थना करने पर फिर आदमी बनाया गया[1]। उसी समय वह राजा पयहारी जी का शिष्य बन गया और 'गलता' में रामानंदी वैष्णवों की मुख्य गद्दी स्थापित हुई। यह महत्त्व उसे आज भी प्राप्त है।

कृष्णदासजी के २४ शिष्यों में से दो प्रधान शिष्य हुए[2]—अग्रदास तथा कील्हदास। इनमें (१) अग्रदास ने अनेक ग्रन्थों की रचना कर इस मार्ग को प्रतिष्ठित बनाने में सहायता पहुंचाई। इनके ग्रंथों मे मुख्य ग्रंथ हैं—ध्यानमञ्जरी, अष्टयाम, कुण्डलिया तथा पदावली आदि। भक्तों में अग्रअली के नाम से विख्यात हैं। ये १६३२ सं० के आसपास विद्यमान थे। आमेर के राजा मानसिंह आप पर बड़ी श्रद्धा रखते थे और स्वयं इनसे भेंट करने के लिए इनके स्थान पर गये थे, इस घटना का उल्लेख भक्तमाल में किया गया है। मानसी उपासना के प्रवीण तपस्वी थे। इन्हीं के आदेश से इनके प्रिय शिष्य नाभादास जी ने 'भक्तमाल' की रचना की है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व आज भी उसी प्रकार अक्षुण्ण बना हुआ है। अग्रदास जी बगीचा लगाने के बड़े शौकीन थे। एक ओर तो अपने हाथ से पेड़ रोपते जाते थे और दूसरी ओर उनकी जीभ रामनाम की वर्षा करती जाती थी—

१ श्री भक्तमाल सटीक—श्रीसीताराम शरण भगवान् प्रसाद की टीका के साथ; पृ० ४४५ (भाग ३)

२ भक्तमाल छप्पय ३४ में इन २४ शिष्यों के नाम दिये गये हैं। द्रष्टव्य पृ० ४०६-४५०।

प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरंतर।
रसना निर्मल नाम मनहुँ वर्षत धाराधर ॥
(छप्पय ३६)

अपने गुरु के अनंतर ये गलता की गद्दी पर बैठे थे।

(२) कील्हदास के पिता भक्तमाल के अनुसार श्री सुमेरदेव जी स्वयं एक सिद्ध पुरुष थे। गुजरात के किसी सूबे के वे सूबेदार थे। ऐसे पद पर रहते हुए भी इनकी निष्ठा तथा तपस्या उच्च कोटि की थी। कील्हदास जी बड़े भारी योगी थे। नाभादास जी ने इनकी समता इच्छामृत्यु भीष्म पितामह जी से दी है। लिखा है कि भगवान् की पूजा के निमित्त फूल चुनते समय काल सर्प ने इन्हें तीन बार काटा। मृत्यु की तो कथा अलग रही, किञ्चिन्मात्र विष भी नहीं चढ़ा[1]। ब्रह्मरंध्र भेद कर प्राण छोड़ने की घटना इन्हें विशिष्ट योगी सिद्ध कर रही है। नाभादास जी ने इस घटना का उल्लेख इस छप्पय में किया है—

रामचरन चिंतवनि, रहति निसि दिन लौ लागी।
सर्व भूत सिर नमित सूर भजनानँद भागी ॥
सांख्य योग मत सुदृढ़ कियो अनुभव हस्तामल।
ब्रह्मरंध्र करि गौन भये हरि तन करनी बल ॥
सुमेरदेव सुत जग विदित भूविस्तार्यो बिमल जस।
गांगेय मृत्यु गंज्यो नहीं त्यों कील्ह करन नहिं कालवस ॥
(छप्पय ३५)

इससे सिद्ध है कि कील्हदास जी की उपासनाप्रवृत्ति अग्रदास जी से भिन्न प्रकार की थी। उस समय के धार्मिक वाता-

---

१ द्रष्टव्य भक्तमाल पृ० ४५२–४५३.

चरण में योग-साधना की पर्याप्त बहुलता थी। फलतः इन्होंने अपनी उपासना में योग साधना को भी स्थान दिया और इस प्रकार रामानंदी वैष्णवों की एक शाखा योगसाधना के कारण अपना वैशिष्ट्य लेकर मूल शाखा से पृथक् होकर चली। इस शाखा का नाम है तपसी शाखा'। अनेक आलोचकों का मत है कि इसी शाखा वाले वैष्णवों ने अपनी प्राचीनता तथा प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अनेक योगपरक सिद्धांतों के प्रतिपादक ग्रंथों की रचनाकर स्वामी रामानंदजी के नाम से प्रचलित किया।[1] कुछ लोगों में यह प्रसिद्धि है कि स्वामी जी ने गिरनार पर्वत पर बारह वर्षों तक योग की साधना की थी। इस कथा का प्रचार भी तपसी शाखा वाले वैष्णवों की सूझ बतलाई जाती है।[2]

स्वामीजी के हिन्दी ग्रंथ

हिंदी ग्रंथों की खोज में स्वामी रामानंदजी के नाम से अनेक ग्रंथ मिले हैं जिनमें दो ग्रंथों पर हमारी आस्था बनी हुई है। इनमें एक है ज्ञान तिलक जिसमें ज्ञान की बातों का वर्णन है और दूसरा है रामरक्षा जिसे वैरागी-समाज रामानंद स्वामी जी की मौलिक रचना मानता आया है। इसमें योग साधना के साथ निर्गुण भक्ति की बात स्पष्टतः प्रमाणित होती है।

स्वामी जी के नाम से मिले परंतु संदिग्ध ग्रंथ नीचे लिखे हुए हैं—

---

१ आचार्य रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १२२ (नवीन संस्करण)

२ ,, वही पृ० १२०

(१) **राममंत्र जोग ग्रंथ**—२१ दोहा चौपाइयों का एक छोटा सा पद है जिसमें राममंत्र के श्रवण तथा जप का सुंदर विधान बतलाया गया है। इसके अंत में कहा गया है—

जैसे पाणी लूंण मिलावा
ऐसी धुनि मैं सुरति समावा।१९
राम मंत्र ऐसी विधि षोजै
जो कोई षोजै राम
सतगुरु कै परताप तैं,
रामानंदजी हम पाया विसराम ॥२०

[यह 'सेवादास की बानी' में संगृहीत है, नं० ८७३, पृ० ६३३, सं० १६५६]

(२) **राम अष्टक**—यहाँ शब्दसागर' ग्रंथ में (हस्तलेख सं ६५१, लिपिकाल १८६७, नागरीप्रचारिणी सभा का संग्रह) संगृहीत है। इसमें ८ छंदों में श्री रामचंद्रजी की प्रशस्त स्तुति की गई है, प्रत्येक छंद के अंत में आता है—'श्रीराम जीव पूरन ब्रह्म है'। उदाहरण के लिए पद्य—

भाल तिलक विशाल लोचन, आनंद-कंद श्रीराम है
स्यामली सूरति मधुर मुरति श्रीराम पूरन ब्रह्म है ॥

अंतिम पद्य—

राम अष्टक पढ़त निसुदिन
सत्य लोक सोग छीतं
रामानंद अवतार अवधु
श्रीराम जीव पूरन ब्रह्म है।

(३) ग्यानलीला—१० छंदों के इस पद में स्वामी जी ने भगवान् के गुन गाने तथा भक्ति करने का विशेष उपदेश दिया है। अंतिम दो छंद—

है हरि बिना कूंणा रखवारो। चित दै सुमिरौं सिरजन हारौं ॥
संकट ते हरि लेत उबारी। निसदिन सुमिरो नाम मुरारी ॥१२
नांव न केवल सबसे न्यारा। रटत अघट घट होइ उजारा।
रामानंद यूं कहै समुझाई। हर सुमर्या जमलोक न जाई ॥१३
(हस्तलेख नं० ७४६, सभा संग्रह)

ज्ञानतिलक—सन् १९३१ की खोज में प्राप्त ग्रंथ सख्या १५६ वाला ग्रंथ है जिसका उल्लेख दिल्ली रिपोर्ट में किया गया है।

रामरक्षा—रामरक्षा की प्राप्ति अनेक स्थलों से अनेक वर्षों में हुई है। यह लघुकाय होने पर सिद्धांतों की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वशाली है। इस ग्रंथ में गद्य पद्य का विचित्र मिश्रण है। कहा नहीं जा सकता कि यह पूरे गद्य में है या पद्य में या दोनों का मिश्रण है। साधु संतों की चलती भाषा में पंजाबी के पुट से युक्त इस ग्रंथ का निर्माण किया गया है। इसका अनुशीलन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि रामानंद जी के उपदेश हठयोग के ऊपर आश्रित थे, क्योंकि हठयोग के प्रख्यात सिद्धांतों का उल्लेख यहाँ विशेषतः उपलब्ध होता है। हठयोगियों की ज्योति के झलमलाने तथा अनाहत नाद (झनकार) के सुनने का वर्णन इस प्रकार है—

अब न दैना दर्सनु लिया
दिष्ट अरु मुष्ट मिल भया मेला।
झलमली ज्योति झनकार झनकत रहै—
नाद अस बिंदु मिल भया रंग रेला।

सुन की नेहरा सुन्य सुनता रहै
शब्द सूँ शब्द बोल्य निरत सू निरत लगी रहै।

अजपा जाप, उन्मनी दृष्टि, शून्य, चंद्रसूर्य नाड़ी आदि हठ-योगियों के समस्त पारिभाषिक शब्दों की सत्ता यहाँ विद्यमान है। नदी में उलटी नाव के चलने तथा चंद्र-सूर्य नाड़ियों का लोप कर मध्य नाड़ी के अनुगमन की चर्चा यहाँ स्पष्ट रूप से की गई है—

जैसे चित्त सो चित्त मिलि चेतन भया
उनमनी दृष्टि ये भाव देखा।
मिटि गया घोर अंधियार तिहुंलोक में
स्वेत फटकार मनिहरि बेध्या।
उलटत नैया नाउ चरंत चैना
चंद और सूर्य लोपि रण राखियै।

उलट कर अमी रस का पान (खेचरी मुद्रा), भँवर गुँजार, आदि शब्द भी इसी सिद्धांत के द्योतक हैं कि रामानंद जी का सिद्धांत पूर्णतया हठयोग पर आश्रित है तथा निर्गुण ज्ञान का प्रतिपादक है।

इस प्रकार संस्कृत ग्रंथों के आधार पर निर्दिष्ट मत तथा हिंदी रचनाओं में उल्लिखित सिद्धांत में इतना अधिक पार्थक्य है कि दोनों एक ही अभिन्न रामानंद जी के मत हैं; यह हम सहसा विश्वास नहीं कर सकते। तो क्या वस्तुतः दो रामानंद हुए— एक तो विशिष्टाद्वैतवादी तथा दूसरे हठयोग से मिश्रित निर्गुण भक्ति के प्रचारक ? कबीर के गुरु होने की योग्यता प्रथम रामानंद में प्रतीत नहीं होती। द्वितीय रामानंद के सिद्धांत में

उन बातों का स्पष्ट बीज है जिसका उन्मीलन तथा उन्मेष कबीर के सिद्धांतों में हमें उपलब्ध होता है।

इस मत की परीक्षा करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक ही स्वामी रामानंद जी ने जनता की रुचि तथा देश-काल की परिस्थिति देखकर दो प्रकार की शिक्षा देने का श्लाघनीय उद्योग किया। निर्गुण संप्रदाय के प्रवर्तक कबीर दास के गुरु होने के कारण यह बात अनुमान सिद्ध होती है कि उनकी शिक्षा में योगसाधना तथा निर्गुण भक्ति की भी बात अवश्यमेव विद्यमान थी। सच तो यही जान पड़ता है कि स्वामी जी सगुण-भक्ति-धारा तथा निर्गुण-भक्ति-धारा उभय भक्ति-धाराओं के केंद्र बिंदु हैं जिनसे एक ओर तो तुलसीदास आदि राम-भक्तों के द्वारा सगुण-भक्ति का प्रचार भारतभूमि में हुआ तथा दूसरी ओर कबीर आदि निर्गुनिया संतों के द्वारा निर्गुण भक्ति का भी प्रचार जनता के बीच किया गया। तत्कालीन धार्मिक वायुमण्डल में योग साधना की विपुलता थी। अतः जनता की रुचि का ध्यान रखते हुए यदि स्वामी जी ने योग के कतिपय सिद्धांतों को भी अपनी शिक्षा में स्थान दिया, तो कुछ अनुचित नहीं जान पड़ता। इसी लिए सिखों के ग्रंथ-साहब में स्वामी रामानंद जी के नाम से यह निर्गुनिया पद मिलता है—

कहाँ जाइए हो घरि लाग्यो रंग। मेरो चित चंचल मन भयो अपंग।
जहाँ जाइए तहँ जल पषान। पूरि रहे हरि सब समान।
वेद स्मृति सब मेल्हे जोइ। उहाँ जाइए हरि इहाँ न होइ।
एक बार मन भयो उमंग। घसि चोवा चंदन चारि अंग।
पूजत चाली ठाइँ ठाइँ। सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माइँ।
सतगुर मैं बलिहारी तोर। सकल विकल भ्रम जारे मोर।
'रामानंद' रमै एक ब्रह्म। गुरु कै एक सबद काटै कोटि क्रम्म।

इस पद में चोवा चंदन घस कर पूजा की सामग्री लेकर साधक की बाह्य पूजा का प्रथम संकेत है। जब गुरु उसे बतलाता है कि ब्रह्म तो तुम में ही निवास करता है, तब शिष्य का संदेह दूर हट जाता है और वह सर्वव्यापक ब्रह्म को पहचान लेता है। इस पद में ऐसी कोई बात नहीं है जो वैष्णव भक्त रामानंद के मत से विरुद्ध पड़े। यह सच है कि रामानंद जी खुले हुए विश्व के बीच भगवान् की कला की भावना करने वाले विशुद्ध वैष्णव भक्तिमार्ग के अनुयायी थे और इसी में जनता का कल्याण मानने वाले आचार्य थे। परंतु फिर भी यदि उन्होंने कहीं कहीं निर्गुण ब्रह्म की चर्चा तथा योग-साधना की प्रक्रिया का निर्देश किया है तो यह उक्तमार्ग से नितांत विरुद्ध नहीं पड़ता। रामानंद का भारतीय इतिहास में यही एक विलक्षण वैशिष्ट्य है।

श्रीवैष्णव तथा रामानंद

स्वामी रामानंद के निजी ग्रंथ 'वैष्णवमताब्ज भास्कर' के अनुशीलन से किसी भी आलोचक को संदेह नहीं रह सकता कि उनके सिद्धांतों के ऊपर रामानुज मत का ही विशेष प्रभाव पड़ा है। दोनों के सिद्धांतों में ऐकमत्य है। अंतर यदि है तो इतना ही है कि श्री वैष्णवों के आराध्य लक्ष्मीनारायण के स्थान पर रामानंद स्वामी ने सीताराम को अपना इष्ट देव स्वीकार किया है। इस परिवर्तन के कारण रामावत संप्रदाय में व्यापकता तथा लोकप्रियता अधिक आ गई है। श्री वैष्णवों के लक्ष्मीनारायण क्षीर सागर में शेषशय्या पर शयन करने वाले देवता हैं जिसे मानव अपनी पहुँच से बहुत दूर पाकर अपनी श्रद्धा दिखलाने में ही प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र की

लोकरंजक रूप शील, शक्ति तथा सौंदर्य का मधुर निकेतन बन कर मानवों के हृदय को ही आकृष्ट नहीं करता, प्रत्युत मानव समाज के लिए अनुकरणीय तथा आदरणीय आदर्शों को भी उपस्थित करता है। इस प्रकार राम को इष्टदेवता मानने में रामावत संप्रदाय की लोकप्रियता विशेष हुई। यही कारण है कि श्रीसंप्रदाय के नियमों में जहाँ विधि-विधानों का बाहुल्य है, वहाँ रामावत संप्रदाय के अनुसार भक्त का हृदय बाह्य विधानों के अक्षरशः पालन पर आग्रह न करता हुआ अपने इष्टदेव के भजन तथा गुणगान में विशेष तृप्त होता है। श्रीवैष्णव लोग जहाँ वर्णाश्रम के नियमों तथा विधानों पर विशेष आग्रह तथा संघर्ष करते दिखलाई पड़ते हैं, वहाँ रामानंद वैष्णव लोग उदार-हृदयता का परिचय देते हुए, अपने धर्म-क्षेत्र को विस्तृत करते हैं और प्रत्येक हरिभक्त को अपने में संमिलित करने की उदारता दिखलाते हैं। रामावत संप्रदाय का श्री वैष्णवों से एक भेद यह भी है कि जहाँ श्रीवैष्णवों के आचार्यगण संस्कृत को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाते हैं वहाँ रामानंद स्वामी ने हिंदी को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाकर जनसाधारण के हृदय अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया है। इसी धार्मिक उदारता तथा सहृदयता के कारण रामावत संप्रदाय का प्रचार उत्तर भारत के कोने कोने में हुआ। हिंदी को धर्मभाषा मानने से रामानंदी वैष्णवों ने जन-साधारण तक ही अपने उपदेशों को नहीं पहुँचाया प्रत्युत उसे भारतवर्ष की सार्वभौम तथा सर्वजनीन भाषा भी बनाया। रामानंदी वैष्णव लोग तीर्थयात्रा के प्रसंग में समग्र भारतवर्ष में घूमते थे। जहाँ कहीं वे जाते थे वहीं अपने भजनों तथा उपदेशों के द्वारा हिंदी भाषा का प्रचार करते थे। सच्ची बात तो यह है कि इन्हीं वैष्णवों

की कृपा से बिना किसी परिश्रम के ही हिंदी भाषा मध्यकालीन धार्मिक क्रांति तथा आंदोलन की माध्यम होने से धार्मिक जगत् में सर्वत्र समभावेन आदृत तथा सत्कृत हुई।

व्यक्तित्व

स्वामी रामानंदजी का व्यक्तित्व अलौकिक था। वैष्णवधर्म स्वतः उदार है, परंतु स्वामी जी की दृष्टि और भी उदार तथा व्यापक थी। वे वर्णाश्रम धर्म में पूर्ण आस्थावान् आचार्य थे, परंतु भक्तिराज्य में प्रवेश करने के लिए इन्होंने अपने मत का द्वार सब प्राणियों के लिए समानभाव से उन्मुक्त कर दिया। इनके शिष्यों में ब्राह्मण ही न थे, प्रत्युत नाऊ तथा चमार जैसे अधम अन्त्यजों का भी प्रवेश था। कबीर जैसे विधर्मी मुसलमान भी थे। पुरुषों के समान स्त्रियों को भी अधिकार इन्होंने भगवत्-पूजन तथा भगवद्भक्ति के लिए दे रखा था। इनकी सबसे बड़ी विशेषता थी—समाज का उत्थान। ये उन आचार्यों में से नहीं थे जो केवल व्यक्तिगत कल्याण को ही अपनी तपस्या का केवल फल समझते थे। समस्त हिंदू समाज का अभ्युत्थान स्वामी जी के उपदेशों का परिनिष्ठित फल था। समाज के पदस्थानीय अन्त्यजों के उद्धार के ओर भी इनकी दृष्टि थी। तभी तो रैदास जैसे अन्त्यज को अपना शिष्य बनाने में तथा उसे राममंत्र की शिक्षा देने में उन्हें तनिक भी हिचक नहीं हुई। जनता के हृदय को स्पर्श करने के लिए स्वामी जी के शिष्यों ने देशभाषा के द्वारा उपदेश देना आरंभ किया और इस प्रकार हिंदी भाषा के उत्थान तथा प्रसार में भी स्वामी जी से कम प्रेरणा तथा स्फूर्ति नहीं मिली है। हिंदूसमाज में इस प्रकार एकत्व की भावना ही नहीं

प्रत्युत पूर्ण एकत्व स्थापित करने में स्वामी जी का बड़ा हाथ था। यदि स्वामी जी का संप्रदाय इस भारतमही पर नहीं होता, तो यवनों के विकट आक्रमणों के कारण हिंदू समाज के ह्रास की सीमा क्या होती ? यह हम नहीं कह सकते। धर्मान्ध मुसलमानों की तलवारों के सामने फारस से लेकर काबुल तक की संस्कृति तथा सभ्यता ध्वस्त होकर परिवर्तित हो गई थी। केवल भारत की संस्कृति ने ही उसका मुकाबिला किया और सफल मुकाबिला किया। इस प्रकार हिंदू समाज की एकता स्थापित करने में, धार्मिक संगठन करने में तथा अपनी संस्कृति बचाये रखने में स्वामी रामानंदजी ने जो पवित्र कार्य किया है उसकी सफलता भारतवर्ष का अवांतरकालीन इतिहास उच्चस्वर से घोषित कर रहा है। स्वामीजी एक युगप्रवर्तक महापुरुष थे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। इसीलिए नाभादासजी ने कलिकाल के मानवों को विपत्तिसमुद्र से पार जाने के लिए सेतु की रचना करनेवाले रामानंदजी की तुलना स्वयं रघुनाथजी से दी है—

श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियौ ॥

—:॰:—

तुलसीदास

श्री रामानन्द स्वामी के शिष्यों द्वारा देश के बड़े भाग में राम-भक्तिकी पुष्टि होती आ रही थी, परन्तु हिंदी साहित्य के क्षेत्र में इस भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी की वाणी के द्वारा स्फुरित हुआ। गोसाईंजी निःसन्देह उच्चकोटि के वैष्णव भक्त थे, परन्तु रामानन्दजी की शिष्यपरंपरा में कहीं भी इनका नामोल्लेख नहीं है। रामानन्दजी के साथ इनके सम्बन्ध जोड़ने का

उद्योग किया गया है, परंतु उचित प्रमाणों के अभाव में यह प्रयास सफल नहीं कहा जा सकता। अतः तुलसीदासजी स्मार्त वैष्णव प्रतीत होते हैं—ऐसे वैष्णव, जिन्हें विष्णु के अतिरिक्त शिव आदि अन्य देवताओं में भी पूर्ण आस्था तथा विश्वास है।

तुलसीदासजी का रामचरित मानस' वैष्णव भावना से प्रेरित उच्चकोटि का प्रबंध काव्य है। मर्यादा–पुरुषोत्तम रामचन्द्र के शील, सौंदर्य तथा शक्ति का चित्रण कर गोसाईं जी ने राम का जो लोकरंजक तथा लोकसग्रही रूप प्रस्तुत किया है वह वस्तुतः श्लाघनीय है। भक्ति के निर्मल रूप जानने के लिए रामायण कल्पतरु है। भगवान् का दिव्य मनोहर रूप, उनका भक्तवत्सल तथा आर्तिहर स्वभाव, दीनों के ऊपर स्वतः दया बरसानेवाला मानस–आदि भक्तिशास्त्रीय सिद्धांतों की जानकारी के लिए रामायण एक अतुलनीय निधि है। वाल्मीकीय रामायण तथा अध्यात्म रामायण—दोनों प्रसिद्ध रामायणों से तुलसी के रामचरित मानस की अपनी विशिष्टता है जिसके कारण यह आज हमारे लिए वेदों के समान पवित्र तथा उपादेय है। इन दोनों रामायणों से तुलना करने पर 'मानस' का वैशिष्ट्य स्पष्ट मालूम पड़ता है।

वाल्मीकिरामायण

वाल्मीकिरामायण महर्षि वाल्मीकिजी की पुण्यमयी रचना है, जिसमें लगभम २४ हजार श्लोक हैं। वाल्मीकि ने श्रीरामचन्द्र का चरित्र आदर्श पुरुष के रूप में अंकित किया है। मर्यादा की रक्षा करनेवाला महान् पुरुष जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का आचरण करेगा? इसका सच्चा स्वाभाविक

वर्णन वाल्मीकीय रामायण में विद्यमान है। यह कर्मप्रधान महाकाव्य है—ऐसा महाकाव्य है जिसमें प्रत्येक पात्र के कार्यों को विस्तृतरूप से, याथातथ्य प्रकार से, दिखलाया गया है। इस कारण इस रामायण में वर्णित पात्रों का ठीक-ठीक रूप, जैसा चाहिये वैसा हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। श्रीरामचन्द्रजी के प्रातःस्मरणीय और श्लाघनीय चरित्र की उदात्तता का जैसा नैसर्गिक चित्र वाल्मीकिजी ने खींचा है वैसा किसी भी रामायण में नहीं मिल सकता। अन्य पात्रों के चरित्र की भी यही दशा है। वाल्मीकिरामायण के अध्ययन करने पर ही हम उनके महत्त्व को भली भाँति समझ सकते हैं। उदाहरण के लिये सुंदरकांड में वर्णित हनुमान्जी के चरित्र को लीजिये। मेरा तो कहना है कि सुन्दरकाण्ड का बिना अध्ययन किये हम हनुमान्जी के अदम्य उत्साह, अलौकिक बल, असाधारण धैर्य और प्रखर बुद्धिवैभव को समझ ही नहीं सकते। समुद्र को पार करना कितना विकट कार्य था, यह वाल्मीकिजी ही ने दर्शाया है। जब हनुमान्जी ने महेंद्र पर्वत को आकाश में उड़ने के पूर्व अपने चरणों से दबाया, तब मतवाले हाथी के कपोलों के तरह उससे जल की धारा अकस्मात् फूट निकली। जीवों ने भय-संचार के कारण इतना हल्ला मचाया कि जान पड़ता था कि पृथिवी, दिशाएँ, वन और उपवन सब प्रचण्ड नाद से व्याप्त हो गये हों; विद्याधरों को जान पड़ा कि यह पहाड़ फट रहा है, इसलिये उन्होंने सोने के बरतनों में रक्खे हुए स्वादु भोजनों को छोड़ दिया और अपनी स्त्रियों के साथ डर के मारे आकाश में चले गये। हनुमान्जी के इस विकराल रूप और प्रभाव की व्यंजना अन्यत्र कहाँ मिलेगी? लंका विशाल दुर्गम दुर्गों की रचना के कारण सर्वथा अगम्य थी, फिर भी इस लंका में प्रवेश कर और

तर्क-वितर्क कर सीताजी की टोह लगाने में मारुति ने जिस चातुर्य और व्युत्पन्न बुद्धि का परिचय दिया है वह क्या कहीं अन्यत्र उपलब्ध हो सकता है ? तुलसीदासजी ने तो मानस में हनुमान्‌जी का लंका में प्रवेश करा कर विभीषणजी से भेंट करा दी है और उन्हीं के द्वारा हनुमान्‌जी को सीता के निवास का पता दिलवा दिया है—

पुनि सब कथा विभीषन कही। जेहि विधि जनकसुता तहँ रही॥

पर वाल्मीकि ने हनुमान्‌जी को अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर सीता का पता लगाते दिखलाया है। अशोकवाटिका में राम-चरित का कीर्तन कर अपना परिचय देने में स्वाभाविकता, पकड़े जाने पर रावण की सभा में अपने कार्य की सूचना देने में निर्भीकता, शत्रुओं से घिरे रहने पर भी निश्चिन्तता धारण करने में नैसर्गिक धीरता, रावण से बातचीत करने में वाक्‌चतुरता, लौटने पर वानरों के सामने सीताजी की कुछ गोपनीय बातों को छिपाने में राजनीतिज्ञता—आदि जिन गुणों का वर्णन वाल्मीकि ने नितांत स्वाभाविक ढंग से किया है वैसा वर्णन अन्यत्र कहीं है ही नहीं; यह हम बिना किसी संदेह के कह सकते हैं।

यही प्रकार प्रत्येक पात्र के चरित्र के विषय में समझना चाहिये। रावण सीताजी से अपना प्रेम जतला रहा है, उस समय जनकनंदिनी ने केवल एक बात कह कर जिस प्रकार उसका अनादर किया है और अपने पवित्र पातिव्रतधर्म के पालन की सूचना दी है वह नितांत उदात्त और महत्त्वपूर्ण है।

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥

(सुंदरकाण्ड २६। १०)

'इस निंदनीय निशाचर रावण को मैं बायें चरण से भी छू नहीं सकती; भला उससे मैं किसी प्रकार प्रेम कर सकती हूँ।'

जानकीजी का सहस्रों निशाचरियों की क्रूर भर्त्सना सुनते हुए यह वचन कितना महत्त्वपूर्ण है, इसे पाठक सहज ही में समझ सकते हैं। वियोगविधुरा सीता के वर्णन में वाल्मीकि ने उपमाओं की लड़ी रच दी है। इसके देखने से हमें वाल्मीकि की प्रतिभा के साथ-साथ सीताजी की पवित्रता का भी पता चलता है—

> संसक्तां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥३२॥
> तां स्मृतिमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव।
> विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव ॥३३॥
> सोपसर्गां यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव।
> अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव ॥३४॥
> आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥३८॥
> (सु० कां० १५)

चरित्र-चित्रणके अतिरिक्त स्थान स्थान पर अनेक आध्यात्मिक बातों का भी सन्निवेश किया गया है। समुद्र पार करते समय हनुमान्जी ने प्राणों का अवरोध कर लिया था और उस पार पहुँचने पर उन्होंने तनिक भी निःश्वास नहीं लिया—

> अनिःश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति।

ये सूचनाएँ वाल्मीकि के गहरे ज्ञान की बोधिका हैं। इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण रामचरित की विशालता, उदात्तता तथा महत्ता को पर्याप्त मात्रा में बतलानेवाला अलौकिक काव्य-माधुरी से संपन्न महाकाव्य है, जिसका अध्ययन प्रत्येक भारतीय

को अपने प्राचीन गौरव और संस्कृति को समझने के लिये करना नितांत आवश्यक है।

× × × ×

अध्यात्मरामायण

इसके नाम से ही इसके वर्णन की सूचना मिलता है। इसमें श्रीरामचंद्र का चरित्र अध्यात्मज्ञान के आधार पर वर्णित किया गया है। इसमें रामजी अयोध्या के अधीशरूप में वर्णित नहीं किये गये हैं और न जानकी जी केवल उदात्तचरित्र जनक की नंदिनीमात्र हैं; उनके इस रूप की ओर रचयिता का कुछ भी ध्यान नहीं है। उनका समग्र ध्यान राम-सीता के आध्यात्मिक रूप के प्रदर्शन में लगा हुआ है। राम पुरुष हैं, सीता प्रकृति हैं; राम परमब्रह्म हैं और सीता उनकी अनिर्वचनीया माया हैं। इन्हीं की लीला का विकास संपूर्ण विश्व है। ब्रह्म और माया ने ही देवताओं के द्वारा पृथ्वी के महान् भार को उतारने की प्रार्थना किये जाने पर इस संसार में आकर अपनी लीला का विस्तार दिखलाया है। पूरा रामचरित इसी ब्रह्म-माया की अनोखी विचित्र चरितावली का मनुष्य समाज के उपकार के लिये किया गया पावन चित्रण है; इसकी सूचना ग्रंथारंभ के मंगलश्लोक से स्पष्टतः हो जाती है—

यः पृथ्वीभरवारणाय दिविजैः संप्रार्थितश्चिन्मयः
सञ्जातः पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः।
निश्चक्रं हतराक्षसः पुनरगाद् ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
कीर्तिं पापहरां विधाय जगतां तं जानकीशं भजे॥

आगे चल कर उत्तरकांड के सुप्रसिद्ध 'रामगीता' में तो अद्वैत-वेदांत की प्रख्यात पद्धति से 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों के

परिशोधन और ज्ञान का वर्णन बड़ी विशुद्धता और विशदता के साथ किया गया है। इस प्रकार अध्यात्म-रामायण ने ज्ञान को मूलभित्ति मान कर रामचंद्र के चरित्र का वर्णन किया है। इस रामायण की यही अपनी विशेषता है।

रामचरितमानस

इन दोनों देववाणी में लिखे गये रामायणों की विशेषता पर ध्यान देने से मानस की महत्ता सहज ही में मानी जा सकती है। तुलसीदास ने मानस में राम के चरित्र का वर्णन करने के लिये भक्तिपक्ष का आश्रय लिया है। भक्ति की मूलभित्ति पर रामचरित को खड़ा किया है। श्रीरामचंद्र के विषय में तुलसीदास की कौन-सी भावना थी? इसे उन्होंने अपने ग्रंथ में अनेक स्थानों में स्पष्टरूप से प्रदर्शित किया है। श्रीरामजी स्वयं भगवान् के रूप हैं और श्रीजानकीजी साक्षात् शक्तिरूपा है। राम से ही क्यों? राम के रोम-रोम से करोड़ों विष्णु-ब्रह्मा और शिव की उत्पत्ति होती रहती है; उसी प्रकार श्रीसीताजी के शरीर से करोड़ों उमा, रमा और ब्रह्माणी का आविर्भाव हुआ करता है। ये दोनों साक्षात् भगवान् और भगवती के आकार हैं; दो शरीर होनेपर भी इनमें नैसर्गिक एकता बनी हुई है। सीताराम की परिदृश्यमान अनेकता में भी अंतरङ्ग एकता का वर्णन तुलसीदासजी ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

जिस प्रकार वाणी और अर्थ में एकता बनी हुई है और जल तथा वीचि (लहरी) में एकता बनी हुई है, यद्यपि ये

दोनों देखने में भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रही हैं, उसी प्रकार सीता और राम में भी बाह्य भिन्नता को बाधित करती हुई अभिन्नता विद्यमान है। सीता-राम का अभेद दिखलाते समय गोसाईंजी ने इस तरह दो उदाहरणों को रक्खा है। इनके रखने में गोसाईंजी ने अपने हृदय की बात व्यक्त कर दी है। पहली बार गिरा-अर्थ का दृष्टांत है, जो महाकवि कालिदास के—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

—पद्य में दिये गये दृष्टांत से मेल खाता है। वाणी और अर्थ की अभिन्नता को समझना सर्वसाधारण का काम नहीं है, प्रत्युत शब्दशास्त्र के तत्त्व को समझने वाले विद्वानों का काम है। अतएव सर्वसाधारण की प्रतीति के लिये उन्होंने सर्वत्र दृश्यमान और सहज में बोधगम्य जलतरंग की अभिन्नता का उदाहरण पेश किया है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल पर आते समय भी गोसाईंजी ने शब्दयोजना की विशेषता के कारण एक चमत्कार पैदा कर दिया है। पहली बार स्त्रीलिङ्गद्योतक उपमान पहले रक्खा गया है और दूसरी बार पीछे। शक्ति के उपासकों के लिये शक्ति की प्रधानता है, शक्तिमान् की गौणता। पर शक्तिमान् (भगवान्) के उपासक के लिये शक्तिमान् की ही प्रधानता है, शक्ति की गौणता। इस प्रकार दो प्रकार के उदाहरणों को रखते समय गोसाईंजी ने इन्हें सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य ही नहीं बनाया है, प्रत्युत शक्तिरूपिणी सीता और शक्तिमान्स्वरूपी राम के द्विविध उपासकों को पृथक् रूप से पर्याप्त मात्रा में संतुष्ट कर दिया है। इस तरह युगल सरकार की मनोरम जोड़ी की वास्तविक एकता को गोसाईंजी ने स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है।

यही कारण है कि रामचरित का वर्णन करते समय तुलसीदासजी ने उनके वास्तविक रूप को कहीं भी नहीं भुलाया है, बल्कि पाठकों को बारंबार याद दिलाया है कि केवल नर लीला करने के विचार से ही सरकार ऐसा चरित कर रहे हैं। अन्यथा वे तो साक्षात परमात्मा ठहरे, उनको किसी प्रकार का क्षोभ नहीं, किसी पर क्रोध नहीं; सुवर्णमृग पर भी किसी प्रकार का लोभ नहीं, इत्यादि। मायामृग के पीछे मनुष्यलीला करने के लिये जो दौड़े चले जा रहे हैं वे वही हैं जिनके विषय में श्रुति नेति-नेति कह कर पुकार रही है और शिवजी भी जिनको ध्यान में नहीं पाते—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा।
मायामृग पाछे सो धावा॥

ऐसे प्रसङ्गों की बहुलता को देख कर कुछ आलोचक गोसाईं जी पर तरह-तरह का आक्षेप किया करते हैं। उनसे मेरा यही कहना है कि उन लोगों ने तुलसीदास के दृष्टिकोण को भलीभाँति परखा ही नहीं; यदि उन्होंने उनकी श्रीरामविषयक भावना का का ऊहापोह किया होता, तो वे इस प्रकार की अनर्गल आलोचना करने का दुःसाहस नहीं करते। व्यापक दृष्टि से देखने पर मानस में कोई भी प्रसङ्ग आक्षेप करने के लायक नहीं है।

गोसाईं जी ने उत्तरकाण्ड में ज्ञान और भक्ति के विषय में अपने विचारों को स्पष्ट रूप से बड़ी खूबी के साथ दिखलाया है। उस प्रसंग के अवलोकन करने से भक्ति की प्रधानता स्पष्ट ही प्रतीत होती है। 'ज्ञानदीपक' के देखने से ज्ञान की दुरूहता का पता भलीभाँति लग जाता है। ज्ञान के जिस दीपक के जलाने के लिये इतने परिश्रम और प्रयास करने पड़ते हैं वह थोड़ी ही

विघ्न-बाधाओं के सामने बुझ जाता है। और उधर भक्ति? भक्ति तो साक्षात् चिन्तामणि की तरह सुंदर है। उसका परम प्रकाश दिन-रात बना रहता है और न तो उसके लिये दीपक चाहिये, न घृत और न बाती। लोभ का वायु उसको बुझा भी नहीं सकता। प्रबल अविद्या का अंधकार उसके आगे झट से मिट जाता है, कामादि खल उसके निकट नहीं फटकते, मानसिक रोग भी उसे व्याप्त नहीं करते, जिसके पास यह भक्ति-चिंतामणि विद्यमान रहता है। अतः भक्ति और ज्ञान में आकाश और जमीन का अंतर है—महान् भेद है। इसी कारण गोसाईं जी ने अपना सिद्धांत स्पष्ट शब्दों में प्रदर्शित किया है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत विचारि॥

—※—
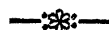
परिशिष्ट

चेतनदास

इनकी रची हुई 'प्रसंगपारिजात' नामक एक रचना के विवरण लिए गए हैं, जो अपने विषय की एक विलक्षण कृति है। इसकी रचना बाड़ी प्राकृत (देश बाड़ी प्राकृत) में पिशाच भाषा के सांकेतिक शब्दों के योग से अदना छंदों में हुई है। इसमें स्वा० रामानंद का समस्त जीवन-वृत्त दिया है। रचनाकाल संवत् १५१७ है, और लिपिकाल संवत् १६६७ वि०। रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

> बासासिव आलिंग बुर्गी। दिति और साहित सिह चुर्वी॥
> छुपसंग पारिजातुर्गी। हिहयेथु रामचु पालुर्गी॥

ज्ञानभूमिका[७] चंद[१] सिवमुख[५] सच्चिदाचंद[१] अर्थात् १५१७ (पंद्रह सौ सतरह) गुरु जन्मदिन माघ कृष्ण सप्तमी गुरुवार को यह प्रसंग पारिजात रामनाम लेकर समाप्त हुआ।

रचयिता ने अपने संबंध में इतना ही लिखा है कि संवत् १५१७ मे स्वा० रामानंद जी की जन्म तिथि पर एक बृहद्‌भंडारे की आयोजना हुई थी जिसमें स्वामी जी के शिष्यों और परशिष्यों के अतिरिक्त चारों ओर के अनेक सिद्ध महात्मा जुटे थे। उस अवसर पर स्वामी जी के जीवन के चमत्कारों की अच्छी तरह चर्चा की गई थी जिससे उपस्थित संतमहात्माओं का संप्रदाय विशेष रूप से आनंदित हुआ। उन महात्मा गणों

द्वारा रचयिता को यह आज्ञा हुई कि वह चर्चा को जिसमें रहस्य की और प्रकट न करने की अनेक बातें थीं लिपिबद्ध करे। साथ ही यह आदेश भी मिला कि रचना विचित्र छंद और विचित्र भाषा में रची जाय जिसको विना समझाए कोई न समझ सके; क्योंकि कुछ वृतांत ऐसे थे जो प्रकट नहीं किये जाने चाहिए थे और कुछ ऐसे थे जिनको उस समय तक छिपाना था जबतक वे घटनाएँ घटित न हो जाती जिनका निश्चय तत्कालीन सिद्ध हो सकता। फलतः यह वृतांत माला देशबाड़ी प्राकृत में पिशाच भाषा के सांकेतिक शब्दों के योग से अदृणा छंदों में संग्रहित की गई। ग्रंथांत में यह भी लिखा है कि जो इन प्रसंगों को समय से पहले खोलेगा वह पागल हो जाएगा। परंतु प्रकट होने पर (रचना में वर्णित समस्त घटनाओं के घटित हो जाने के पश्चात्) जो इसका पाठ करेगा उसको तत्व-ज्ञान की प्राप्ति होगी और चतुर्वर्ग जनित कामनाएं सिद्ध होंगी।

यद्यपि इस रचना की भाषा हिंदी से भिन्न होने के कारण यह विवरण लेने योग्य नहीं थी तौभी इसका संबंध स्वा० रामानंद, कबीर, रैदास, खुसरो और पीपा से होने के कारण इसका विवरण लिया गया है। कबीर से तो इसका घनिष्ट संबंध है और यदि इस रचना में उल्लिखित बातें प्रामाणिक और सत्य सिद्ध हो गईं तो इन संत कवियों के संबंध मे भी बहुत सी विवाद-ग्रस्त बातों का ठीक ठीक निर्णय हो जायेगा। इसमें एक भविष्य कथन भी है जो कबीर के वृत्त में दिया जाएगा। नीचे इसके संबंध में जो कुछ लिखा गया है वह संक्षेप में क्रम-पूर्वक दिया जाता है—

स्वामी रामानंद

ऋषिकेश में एक सारस्वत दंपति रहते थे जो भरतमंदिर में पूजा किया करते थे। उन्होंने बद्री-वन (उत्तराखंड, बद्रीनाथ) में जाकर विष्णु भगवान् की तपस्या की जिसपर भगवान प्रसन्न हुए और उनको वर माँगने को कहा। उन्होंने कहा, 'आप हमारे पुत्र हों और हमें प्रसन्न करें'। भगवान् ने 'तथास्तु' कहकर उनकी मनोकामना पूर्ण की। परंतु केवल बारह वर्ष तक ही जीवित रहने का वचन दिया। कालांतर में ये दंपति कान्यकुब्ज वाजपेयी वंश में उत्पन्न हुए और प्रयाग में रहने लगे। समय पाकर भगवान् इनके पुत्ररूप में प्रकट हुए जो आगे स्वामी रामानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए। जन्म से ही इनके अलौकिक कार्यों का आभास मिलने लगा था। बारहवें वर्ष में इनका प्राणांत हो गया। पर स्वा० राघवानंद के आशीर्वाद और प्रयत्नों तथा इनके माता पिता एवं इष्टमित्रों द्वारा अपनी अपनी आयु का कुछ अंश देने पर ये फिर जीवित हुए। फलतः अपने जीवनदाता स्वा० राघवानंद के ये शिष्य हो गए। मातापिता ने इनके लाख मना करने पर भी इनके विवाह का प्रबंध किया, परंतु जिस कन्या के साथ विवाह निश्चित हुआ था उसका विवाह होने पर वैधव्य योग था, अतः उसने विवाह न कर जीवन-पर्यन्त कुमारी रहने का प्रण किया। स्वा० रामानंदजी से उसने दीक्षा ले ली और तपस्विनी का जीवन व्यतीत करने लगी तथा थोड़े ही समय पश्चात् स्वर्ग भी सिधार गई। इस प्रकार स्वा० रामानंदजी की विवाह न करने की इच्छा अपने आप पूर्ण हो गई। वे काशी में रहने लगे और बहुत ही शीघ्र चारों ओर प्रसिद्ध हो गए। उन्होंने अपना अलग संप्रदाय चलाया जिसमें जात-पांत, ऊंच-नीच और छुआ छूत का कुछ भी भेदभाव नहीं था संसार के सभी

मनुष्यों के लिए वह सुलभ था। जो उसमें दीक्षित होता वह आनंद और शांति से जीवन व्यतीत करता। उसकी आध्यात्मिक शक्ति भी पूर्ण रूप से विकसित हो जाती। कबीर जैसे जुलाहे और रैदास सरीखे अछूत स्वा० रामानंदजी के प्रौढ़ शिष्यों में से थे। पहले तो बड़े बड़े पंडितों, विद्वानों और कर्मकांडियों ने इस विचार-धारा का विरोध किया; परंतु जब स्वा० रामानंदजी ने उन्हें अनेक युक्तियों और चमत्कारों द्वारा निरुत्तर कर दिया तो वे लोग चुप हो गए। बहुत से उनके अनुयायी भी हो गए। दक्षिण के विद्यारण्य मुनि उनके समर्थक थे। इन विद्यारण्य मुनि पर स्वामी जी ने भविष्य की बातें प्रकट की थीं (यह भविष्य-वाणी और एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना जो हिंदुओं पर मुसलमानों के अत्याचार, तैमूर का हत्याकांड और लखनौती के उपद्रव से संबंधित है, आगे कबीर के वृत्त में दिए जाएँगे) कविवर खुसरौ श्री स्वामी जी से मिलने आये थे। शिष्यों सहित समस्त देश का भ्रमण कर और दिग्विजय प्राप्त कर तथा दीर्घायु भोगने के पश्चात् संवत् १५०५ में श्री स्वामीजी का साकेतवास हो गया।

कबीर

ज्योतिर्मठ के अधिपति (शंकराचार्य) ने कैवल्य का लाभ कर ही लिया था कि इंद्र के द्वारा अघटित घटना हो गई। प्रतीची नाम की देवांगना ने विघ्न उपस्थित कर दिया। महात्मा उसपर मोहित हो गए और उसके साथ यथेष्ट विहार और रति-क्रीड़ा की। अप्सरा ने भक्त प्रह्लाद को गर्भ में धारण किया। उसने शिशु को जन्म देकर उसे कमल पत्रों में रख लहरतालाब (काशी) में तैरा दिया। जुलाहा दंपति नीरू और नीमा के आने तक वह

इस नवजात शिशु की अलक्ष्य रूप में रक्षा करती रही। यह बात संवत् १४५५ वि० ज्येष्ठ पूर्णिमा की है। दंपति को सहवास के पूर्व ही पुत्रलाभ हुआ। उनके छूने से शिशु की द्युति मलिन हो गई जिसपर वे उसको मोमिन के पास ले गए। मोमिन ने कहा, 'तुम्हारे धन्य भाग्य हैं कि ऐसा पुत्र मिला'। उसने शिशु को उसकी ठुड्डी पकड़ कर पूछा, 'किसका बेटा है।' उसने कहा, 'मैं वीरानंद के औरस और दिव्या के जठर से जन्मा शिशु हूँ।' माता पिता को इस पर दृढ़ विश्वास हो गया। मोमिन ने अरबी भाषा की शब्दावली छानबीन कर उसका नाम कबीर रखा। यह बात सारे शहर में फैल गई। पड़ोस की कमलादेवी ब्राह्मणी ने जिसकी जठर से उत्पन्न कन्या एक मास पहले गत हो चुकी थी दूध पिलाना स्वीकार किया। एक वैश्य ने बिआई हुई गाय भेज दी। परंतु शिशु ने किसी के दूध को ग्रहण नहीं किया। तीसरे दिन शिशु की रक्षा और माता पिता की चिंता दूर करने के लिए स्वा० रामानंदजी ने प्रिय शिष्य अनंतानंदजी के द्वारा 'सुधामुची' नाम की जड़ी भेजी जिसे शिशु मुख में डालकर चूसने लगा। यह बूटी 'कबीर बूटी' नाम से प्रसिद्ध हुई। इससे कबीर की द्युति फिर ज्यों की त्यों हो गई।

× × ×

काशी के पंडित स्वामी जी के पास गए और कहा, 'कबीर जुलाहे ने कंठी तिलक, माला और छाप लगा लिया। वह अपने को आपका शिष्य बतलाता है। क्या यह सच है? यदि ऐसा है तो अनर्थ है। स्वामी जी ने शंख बजाया। इससे सबकी द्वेषाग्नि बुझ कर शांत हो गई। तब स्वामी जी ने कहा, 'वह मेरा शिष्य है। भगवान सबके हैं और भगवत शरणागति का सबको

समान अधिकार है।' इतने में कबीर भी आ गए। उनके मुख पर ऐसा प्रकाश था कि उससे प्रभावान्वित होकर वे सब लोग उठ खड़े हुए और परदा भी, जो स्वामीजी आदि अन्य लोगों के बीच में लगा रहता था, हटा दिया गया। साक्षात् दर्शन ने उनके अंतःकरण को स्वच्छ और प्रकाशित कर दिया। स्वामी जी ने कहा, 'हुसेनवंशी माता द्वारा शुद्ध सात्विक भोजन से पला जिसने तकी (शेख तकी) के प्याले को अनिच्छा-पूर्वक लौटा दिया उसको हेय दृष्टि से केवल वस्त्र व्यवसाय के कारण देखना मिथ्या अभिमान का ही काम है। ऐसे सत्पात्र को जो शैशवा-वस्था में अपने माता पिता का परिचय दे चुका है मोक्ष-मार्गीय दीक्षा से वंचित करना किसी भी समदर्शी जगद्गुरु के लिए उचित कार्य नहीं है।' 'हमने व्यर्थ ही महात्मा को कष्ट दिया', ये बातें उन विद्वानों के शुद्ध हृदय में अपने आप ही स्फुरित होने लगीं। उन्होंने क्षमा माँगा और विदा हुए।

× × ×

दिल्ली में तैमूर का हत्याकांड (१४५५ वि०) और लखनौती का उपद्रव (१३३८ वि०) होने के पश्चात् चारों ओर के श्रद्धालु स्वामी जी के पास आये। उस समय अजान के साथ मौलवी और मुल्लाओं के कंठ बंद हो गए। सब बड़े विकल थे। उन्होंने इसकी जड़ कबीर को समझा (ऐसा विदित होता है कि उन्होंने कबीर पर अवश्य अत्याचार किया था) और उसकी ओर इंगित किया। इब्बनूर और तकी आदि मौलवी राजाज्ञा के साथ भेंट और उपहार लेकर कबीर के पास गए। कबीर ने भेंट और उप-हार को गंगा जी में फिकवा दिया; परंतु बहुत अनुनय विनय के पश्चात् वह उनके साथ गुरु रामानंद के पास गया। स्वामी जी

ने उपदेश दिया, ईश्वर मुसलमानों का ही नहीं, सबका है। वह किसी का पक्षपाती नहीं। यही मुस्तफा का आदेश है। केवल पूजा के विधान में भेद होने से दूसरों पर जजिया लगाना अनुचित है। मंदिर बनवाने में और उपासना करने में प्रतिबंध हटा देना चाहिए। मंदिरों को ध्वस्त नहीं करना चाहिए। मसजिद के सामने वर को उतारा जाय। यह पक्षपातपूर्ण और पुरानी धर्मनीति के विरुद्ध तथा पारस्परिक प्रीति को बिगाड़ने वाला है। गाय की कुर्बानी अनावश्यक है। जब आचार्य ने ही प्राण-रक्षा के लिए उसे ग्रहण नहीं किया तो और मुल्लाओं को आम्नाय के प्रचार में रुकावटें न डालनी चाहिए। धर्म पुस्तकें न जलाई जाँय, देव मंदिर न ढहाये जायँ और न किसी का जी जलाया जाय। मुहर्रम में त्योहारपर्व मनवाने में प्रतिबंध न रहे। स्त्रियों का सतीत्व नष्ट न किया जाय। कथा आदि में शंख बजाने का निषेध न रहे। कुंभादि पर्वों पर यात्रियों से कर न लिया जाय। कोई हिंदू किसी फकीर के पास जाय तो उसको उसी के धर्मानुसार उपदेश दिया जाय। यदि इन बारह प्रतिज्ञाओं में से किसी का उल्लंघन होगा तो राज्य नष्ट हो जाएगा। उन्होंने इन प्रतिज्ञाओं को उचित जान कर मान लिया। शर्तों को लिपिबद्ध करके उस पर बादशाह की मुहर लगाई गई। तब सब ठीक हो गया।

× × ×

काँचीवरम् (दक्षिण) के लोगों ने वर्णद्वेष के कारण रैदास और कबीर की निंदा की। स्वामी जी के जमात का किसी ने भी स्वागत सत्कार नहीं किया। पुरी के उत्तर विद्याधर प्रजेश ने भोजन सामग्री की व्यवस्था की और स्वयं भी सेवा

में उपस्थित हुआ। एकदिन उसके वापिस आने में देर हो जाने के कारण उसकी स्त्री सीता अनुधीता स्वयं पति की खोज में जमात की ओर चली। सामने ही गुरवानी गोदादेवी जा रही थी। उसने साथ की स्त्रियों से रानी को इंगित करके कहा, 'वह कबीर की जोय जा रही है। छू न जाना। बच के जाना'। पतिव्रता को इस पर बड़ा क्रोध आया और उसने शाप दिया, 'तेरे इस भगवतापराध के कारण (जुलाहे के रूप में भागवत की निंदा की) इस कारण सारे देश में वस्त्रनिर्माण के उपकरण नष्ट हो जाएंगे। दरिद्रता का विस्तार होगा और तेरे समान विचारवाले म्लेच्छ योनि में पतित होंगे। नक्षत्र तिलमिलाते, वायु विषैली बहेगी। पृथ्वी फटे और तू खटे'। तत्काल पृथ्वी फटी और गोदा-देवी उसी में समा गई। हाहाकार मच गया। दूसरे दिन से धर्म-दंड चला। लोग जब रसोई बनाएं तो चौके में कबीरदास प्रकट दिखाई दें। कोई भोजन न करे। इस प्रकार दो दिन और दो रात भूखे रहने पर सबका अभिमान दूर हो गया। सब नमित भाव से स्वामी जी के पास गए। विद्यारण्यमुनि भी शिष्यवर्ग और राजमंत्री सहित उपस्थित हुए। शापानुग्रह की प्रार्थना की। स्वामी जी ने कहा, 'यह धर्मदंड भविष्यकल्याण के लिए था। अब ऐसा न होगा। पतिव्रता का शाप व्यर्थ न जाएगा। भगवान भी उसे नहीं टाल सकते। जब यह विषवृक्ष फलेगा तब देशवासी बड़े कष्ट में पड़ेंगे। शाप के प्रभाव से इसी किनारे से वणिक-समाज आयेगा और करघा चरखा घर घर से मिटाकर सब व्यवसाय हस्तगत करके देश को महा कंगाल बना देगा। दरिद्रता के कारण धीरज छूट जाएगा और धर्म ग्लानि उपस्थित हो जाएगी। ऐसे ही समय में वैदेही के वरदान का फलीभूत होने का योग लगेगा। उस समय कबीर

दास की ज्योति वणिककुल में मोहनदास (? गांधी जी) के नाम से उतरेगी। चरखा का प्रचार करेगी और रामनाम के प्रताप से सब दुःख दारिद्र्य भगावेगी—

> लिखप कबीरा कारुश्रां। छंदास मोहन गारुश्रां॥
> विश्रांत मडपड़ फारुश्रां। रामेति पुहपुण पारुश्रां॥

विद्यारण्य स्वामी ने प्रश्न किया, 'दरिद्रता सद्गुण का नाश और दुर्गुण की वृद्धि करती है तो क्या उस कठिन समय में निःसीम धर्मग्लानि की रोक-थाम करने के लिए 'कर्मसूत्रधार' की ओर से कोई विशेष आयोजन होगा'। 'स्वामी जी ने मुस्करा-कर कहा, 'परित्राणाय साधूनां' के प्रमाण से आप ऐसा प्रश्न करते हैं। सो आप जैसे सहृदय ज्ञानी पुरुष से छिपा नहीं रह सकता। पचनद देश में विदेह (? नानक) और बंग में राधा जी के परम प्रेम का मर्म जानने के लिए श्रीयादवराज (गौरांग-महा-प्रभु) स्वयं अवतरित होंगे और धर्मरक्षा की व्यवस्था करेंगे। इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों खूँट में धर्मरक्षा का कंटकाकीर्ण पथ कर्मसूत्रधार भगवान ही प्रशस्त कर देंगे।

विद्यारण्यमुनि को परम संतोष हुआ। मनकी मलिनता दूर हुई। रहस्य की प्रतिज्ञा करके अपने व्यक्तित्व के विषय में पूछा। स्वामी जी ने एक पुष्प दिया। विद्यारण्य मुनि ने दलों पर एकाग्र दृष्टि से देखा और सब जान लिया, भविष्य भी देख लिया।

रैदास

इनका केवल नामोल्लेख हुआ है जो कबीर के वृत्त के अंतर्गत है।

खुसरौ

ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया ने अपने शिष्य कवि खुसरौ के हाथ एक विचित्र पत्र भेजा जो सुनहरे बेलबूटों से खूब सजा था। ध्यान देकर देखने पर उसमें अरबी भाषा का सूत्र लिखा था जो उनके पूज्यग्रंथ में है—'इल्लाब जिमु अल्लाह ततमैन उलकुलूब'—अर्थात्, भगवत के सुमिरन भजन से ही आत्मा को शांति प्राप्त होती है। सुचतुर कवि ने इसका परिचय दिया और टीकाटिप्पणी सहित इसकी पूरी व्याख्या की जिसे सुनकर समुपस्थित सज्जन बहुत प्रसन्न हुए। भगवत भागवत की तन्मयता पर एकता भासित हुई। तब वह बहुमूल्य पत्र स्वामी जी के चरणकमलों में इस प्रकार युक्तिपूर्वक परदे के भीतर पहुँचाया गया कि उसका कोई भी भाग या कोना दबा मुड़ा नहीं। गरद से धब्बा भी नहीं पड़ा। फिर प्रतीक्षा करते देर हो गई। तब कविवर खुसरौ ने एक क़सीदा प्रेमरस से पूर्ण सुनाया जिसका प्रथम पाद फारसी भाषा में और द्वितीय चरण हिंदी भाषा में था। उसमें गुरुवर की दयालुता को नायिका मानकर उसके प्रति अगाध प्रेम प्रकट किया गया था। इतने में स्वामी जी ने दर्शन दिया। कवि आत्मानुभव का सुख लूटने लगा। स्वामी जी ने खुसरौ का आदर किया और पाटंबर पर एक मंत्र अंकित कर अद्भुत पुष्पलताओं से खचित अभ्रक की मंजूषा में रखकर उसके हाथ वह ख्वाजा जी के पास भेजा गया। पीपा जी को भी साथ में भेजा गया।

पीपा

गागरौन के राजा पीपा स्वामी जी के पास देवी की आज्ञा से दर्शन को आए। बड़ी कठिनाई से अनंतानंद जी के कहने

पर स्वामी जी की आज्ञा हुई कि कुएं में गिर जाओ। पीपाजी बिना विचारे कुएं में गिर पड़े। वहाँ अनेक प्रकार के दृश्यों को देखा। पश्चात् स्वामी जी के चरण-दर्शन हुए और दीक्षा मिली। काशी में उनकी बड़ी ख्याति हुई। कुछ समय पश्चात् पीपा जी स्वामी जी को जमात सहित अपने राज्य में ले गए। चारमास तक उनकी सेवा की। पीछे राज्य त्याग करके उन्हीं के साथ हो लिए। उनकी स्त्री ने भी उनका अनुगमन किया। द्वारिका जाकर ये दंपति समुद्र में प्रविष्ट हुए। वहाँ उनको राधाकृष्ण का दर्शन मिला और जब बाहर निकले तो शंख चंद्र की छाप उनके वदन पर विद्यमान थी।

× × × ×

हस्तलेख के मुख पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा है—

श्री रामोजयति

अथ प्रसंग पारिजात

जिसमें

भगवान रामानंदाचार्य के दिव्यचरित तथा सदुपदेश

प्रणेता

श्री श्रीचेतनदासजी कृत श्रीमोनिक महाराजोक्त अनिखनामक

हिंदी अनुवाद समन्वित

इदं प्राप्तः

श्रीविनायक जी महाराज संवत् १९२८ वि०

श्रीपरमहंस जी राममंगलदास गोकुल भवन अयोध्याने संवत् १९८४

में पाया।

संवत् १९९७ में मलूक जी (केवल बहादुर, ग्रंथस्वामी) को मिला।

—❀—

(७)

निंबार्क संप्रदाय

तथा

हरिदासी मत

(१) निम्बार्क
(२) मत के प्रसिद्ध आचार्य
(४) तात्त्विक सिद्धांत
(५) साधना-पद्धति
(५) हरिदासी मत

नियमति निजभक्तान् क्लेशकर्मादि-जालात्
दिशति पदमजस्रानन्दमोघं समन्तात् ।
स जयति नियमानन्दाख्यया ऽऽचार्यवर्यो
यदुपतिकरगं तं चक्ररूपं प्रपद्ये ॥

—अनन्तराम

कृष्णभक्ति का प्रचार

पहले कहा गया है कि रामाश्रयी भक्ति के प्रचार का प्रधान स्थान था काशी और कृष्णभक्तिके प्रसारका मुख्य स्थान था वृंदावन। कृष्ण के उपासक वैष्णव संप्रदायों ने भगवान् श्री कृष्णचंद्र की जन्मभूमि तथा केलिस्थली मथुरा-वृंदावन को अपने विशिष्ट मतों के प्रचार के लिए उपयुक्त केंद्रस्थली बनाया था। १६ वीं शती में कृष्णभक्ति के अभ्युदय तथा विलास का मुख्य स्थल था यही वृंदावन, जहाँ निवास करनेवाले पवित्रात्मा वैष्णव भक्तों ने अपने आचार से, तपस्या से तथा ग्रंथों से भगवान् व्रजनंदन की प्रेमाभक्ति का प्रचार जनता के भीतर किया। वृंदावन अत्यन्त प्राचीन काल से नंदनंदन की अभिराम जन्मभूमि होने के कारण पवित्र तीर्थ माना जाता था; धनी मानी भक्तों की श्रद्धा और निष्ठा के प्रतीक कमनीय कलेवर विशालकाय विष्णुमंदिर थे जहाँ भारत के भावुक भक्त पधार कर भगवान् के ललित विग्रहों का दर्शन कर अपने लोचनों को और रम्य चरितावली का कीतर्न कर अपने जीवन को कृतकृत्य बनाते थे।

परंतु मथुरा भी काशी के समान ही विधर्मी यवनों के कोप तथा आक्रमण का अनेक शताब्दियों तक भाजन बनी रही। १०१७ ई० (२ दिसंबर) में सुलतान महमूद ने इस नगरी के ऊपर प्रबल आक्रमण कर धन जन की विशेष क्षति पहुँचाई। भारतीय इतिहास इसका प्रबल साक्षी है कि इसी काल में प्राचीन सुंदर मंदिरों का ध्वंस संपन्न हो गया था। अगली तीन शतियों में यह

स्थान अभी पनपने भी नहीं पाया कि बादशाह सिकंदर लोदी (१४८५-१५१३ ई०) के आक्रमणों ने इसे पुनः ध्वस्त कर दिया। इसी शती में कृष्णभक्तों ने मथुरा के तीर्थों का उद्धार कर उसे प्रबल भक्तिकेंद्र बनाया। इस कार्य में सबसे बड़ा अध्यवसायी संप्रदाय था श्रीकृष्ण चैतन्य का जिन्होंने प्राचीन मंदिरों के मूल स्थान को खोज कर तथा मूल–विग्रह का पता लगा कर ब्रजमंडल के प्राचीन गौरव का पुनरुद्धार किया। उस समय यह स्थान एक विराट बीहड़ अरण्य था जहाँ मंदिरों की खोज तथा प्रतिष्ठा, मूर्तियों का वैदिक विधि से अर्चा तथा पूजा का काम गौडीय वैष्णवों ने बड़े उत्साह, लगन तथा निष्ठा के साथ किया था। इसी समय वल्लभाचार्य ने भी अपने संप्रदाय की प्रतिष्ठा इसी स्थान पर की। निंबार्क संप्रदाय भी कृष्ण भक्ति का ही प्रचारक है। इन दोनों संप्रदायों से पहिले ही निंबार्क संप्रदाय ने अपने प्रचार का केंद्र मथुरा मंडल को बनाया था। निंबार्क ने ही स्वयं इस नगरी में अपने संप्रदाय की प्रतिष्ठा की। मेरी दृष्टि में निंबार्क संप्रदाय की ब्रजमंडल में प्रतिष्ठा दोनों की अपेक्षा निःसंदेह प्राचीनतर है। चैतन्यमत माध्वसंप्रदाय की ही शाखा है जिसकी संयोजक शृंखला के रूप में माधवेन्द्रपुरी विराजमान है जो माध्वमतानुयायी होकर चैतन्य की साक्षात् गुरुपरंपरा में थे। वल्लभमत ब्रजमंडल में ही अंकुरित तथा पल्लवित हुआ।

१—निंबार्क

वैष्णवसंप्रदायों में निंबार्क मत का एक विशिष्ट महत्त्व है दार्शनिकता की दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत प्राचीनता की दृष्टि से भी। इस मत का इतिहास अभी गंभीर अध्ययन का विषय है।

श्रीश्रीनिम्बार्काचार्य

समुचित सामग्री के अभाव में अभी तक मोटे प्रश्नों का भी समाधान नहीं हो पाया है। यह मत कब उत्पन्न हुआ? तथा कहाँ उत्पन्न हुआ? तथा किस प्रकार विकसित होकर वर्तमान दशा में पहुँचा? हिंदी साहित्य के विकास में इस संप्रदाय के कवियों ने कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया? ये कतिपय प्रश्न अभी भी अपनी मीमांसा के निमित्त अवसर खोज रहे हैं।

इतना तो निश्चित है कि इस वैष्णव मत के ऐतिहासिक प्रतिनिधि श्री आचार्य निंबार्क हैं। इस मत के सर्वप्रथम उपदेष्टा हंसावतार भगवान् हैं जिनके शिष्य सनत्कुमार हैं जिन्होंने इसका उपदेश श्री महर्षि नारदजी को दिया और नारद जी से ही यह उपदेश निंबार्क को प्राप्त हुआ। श्रीमद्भागवत (११ स्क० १२ अ०) से ज्ञात होता है कि सनत्कुमार के योगविषयक प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने 'हंस' का अवतार धारण कर दिया था[1]। अतः वे ही इसके आद्य प्रवर्तक हैं। श्रीहंस भगवान् की प्राकट्य तिथि कार्तिक शुक्ला नवमी (अक्षय नवमी) मानी जाती है और उस दिन प्रातः काल इनका जन्मोत्सव मनाया जाता है। सनक आदि चतुः सनों का आविर्भाव-काल भी इसी ही तिथि को माना जाता है। नारद जी सनत्कुमार के शिष्य थे; इसका प्रमाण छांदोग्य उपनिषत् से देखा जा सकता है। इनका प्राकट्य मार्गशीर्ष शुक्ला १२ (व्यंजन द्वादशी) है।

---

१ सा मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा॥
—भाग० ११।१२।१९

इस परंपरा के कारण यह संप्रदाय हंससंप्रदाय, सनकादि संप्रदाय (या सनातन संप्रदाय) देवर्षिसंप्रदाय आदि भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है।

इनकी जन्मतिथि कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा मानी जाती है और तत्संबद्ध इसी दिन उत्सव मनाये जाते हैं।

निंबार्क का देशकाल आज भी अज्ञानान्धकार के भीतर आवृत है। सुना जाता है कि ये जात्या तैलंग ब्राह्मण थे और दक्षिण के बेलारी जिला के निवासी थे, परंतु निंबार्क मत का तनिक भी संबंध तैलंग देश से आज नहीं है। न तो उनके अनुयायी ही उस देश में पाये जाते हैं न उनके किसी संबंधी का ही उधर पता चलता है। निंबार्क वैष्णवों का अखाड़ा है वृंदावन ही। आज भी गोवर्धन के समीपस्थ 'निम्बग्राम' इनका प्रधान स्थान बतलाया जाता है। उत्तर भारत में, विशेष कर मथुरा मण्डल में, ही इन वैष्णवों की स्थिति निंबार्क का संबंध व्रजमण्डल से ही जोड़ती है। इनके जीवन की एक ही घटना सर्वत्र प्रसिद्ध दीखती है। ये स्वभाव से ही बड़े तपस्वी, योगी तथा भगवद्भक्त थे। कहा जाता है कि दक्षिण देश में गोदावरी के तीर पर स्थित वैदूर्यपत्तन के निकट अरुणाश्रम में श्री अरुणमुनि की पत्नी श्री जयंती देवी के गर्भसे इनका जन्म हुआ था। ये भगवान् के प्रिय आयुध सुदर्शन चक्र के अवतार माने जाते हैं। सुनते हैं कि इनके उपनयन-संस्कार के समय स्वयं देवर्षि नारद ने उपस्थित होकर इन्हें गोपाल मंत्र की दीक्षा दी एव 'श्री-भू-लीला' सहित श्री कृष्णोपासना का उपदेश दिया। इनका प्रथम नाम नियमानंद था। नियमानंद को निंबार्क नाम से प्रसिद्धि की कथा भक्तमाल के अनुसार इस प्रकार

बतलाई जाती है। मथुरा के पास यमुनातीर के समीप ध्रुव-क्षेत्र में स्वामी जी विराजमान थे। तब कोई संन्यासी आपके पास आया। आध्यात्मिक चर्चा में आचार्य इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें पता न चला कि अंशुमाली अस्ताचल के शिखर से नीचे चले गए। संध्या हो चली। अपने अतिथि को भोजन कराने के लिए उद्यत होने पर इन्हें पता चला कि रात्रिभोजन निषिद्ध होने से संन्यासी जी रात को भोजन न करेंगे। इस अतिथि-सत्कार की त्रुटि से इन्हें बड़ी वेदना हुई। एक विचित्र घटना घटी। अतिथि ने देखा और स्वयं आचार्य ने देखा कि आश्रम के नीम वृक्ष के ऊपर सूर्य भगवान् चमक रहे हैं[1]। प्रसन्न होकर अतिथि को भोजन कराया। तदनंतर सूर्य अस्त हो गये और घनघोर अंधकार सर्वत्र छा गया। इस चमत्कार तथा भगवत्कृपा के कारण इनका नाम निंबादित्य अथवा निंबार्क पड़ गया तथा इसी नाम से ये प्रसिद्ध हो गये।

समय

इनका आविर्भाव कब हुआ? यह एक विषम पहेली है जिसका सुलझाना वर्तमान ज्ञान की दशा में एकांत असंभव सा प्रतीत होता है। इनके अनुयायियों के मंतव्यानुसार इनका उदय कलियुग के प्रारंभ में हुआ था। ये वेदव्यास के समकालीन बतलाये जाते हैं। इधर नवीन गवेषक इनका समय १२ वीं शती या उसके भी पीछे मानते हैं।

---

१ गोवर्धन के निकट जिस अरुणाश्रम में श्रीनिंबार्क ने दण्डी को इस विचित्र घटना का दर्शन कराया था, आज भी वह स्थान निम्बग्राम नाम से प्रसिद्ध है।

डा० भंडारकर ने गुरु परंपरा की छान बीन करके इनका समय ई० सन् ११६२ के आस पास माना है ।[1] और नवीन विद्वानों की दृष्टि में यही इनका प्राचीनतम काल है । परंतु केवल गुरुपरंपरा के आधार पर काल निर्णय करना बिना अन्य सहायक तथा पोषक सामग्री के नितांत भ्रामक है । गुरुपरंपरा बीच बीचमें छिन्न-भिन्न भी हुआ करती है । अतः ठीक ठीक पीढ़ियोंका पता नहीं चलता । दूसरे एक पीढ़ी के लिए कितने वर्षों का समय माना जाय ? इसका भी निर्णय करना नितांत दुष्कर है । निम्बार्कानुयायी पंडितों का कथन है कि हमारे आचार्य योगाभ्यासी होने के कारण विशेष दीर्घजीवी थे तथा दो सौ तीन सौ वर्षों की आयु उन्हें प्राप्त थी । फलतः इसी आधार पर हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते ।[2]

हमारी दृष्टि में यह संप्रदाय वैष्णव संप्रदायों से प्राचीनतम प्रतीत होता है । निम्बार्क-कृत वेदांतभाष्य (वेदांत पारिजात सौरभ) बड़ा ही संक्षिप्त है और इसमें किसी के मत का खंडन नहीं है, केवल अपने द्वैताद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन ही लघ्वक्षरों में किया गया है । भाष्य का यह रूप निःसंदेह इसकी प्राचीनता का द्योतक है । यह संप्रदाय स्वभावतः मंडनप्रिय होने के कारण किसी

---

१ भंडारकर—वैष्णविज्म शैविज्म० पृ० ८७ ।

२ विद्याभूषण श्री व्रजवल्लभ शरण वेदांताचार्य जी ने अनेक पुष्ट प्रमाणों से इस मत की प्राचीनता सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है । द्रष्टव्य गीताधर्म (काशी, नव०तथा दिस० १६४८) पृ० ६२४–६३० । उद्योग बहुत अच्छा है, परंतु स्थान स्थान पर संदिग्ध होने से प्रमाण अकाट्य नहीं है ।

से शास्त्रार्थ के लिए विशेष रूप से नहीं उलझना। कम से कम प्राचीन भाष्य तथा वृत्तियों की यही दशा है।

इस संप्रदाय की प्राचीनता के विषय में भविष्य पुराण का यह पद्य भी उद्धृत किया जाता है जिसमें एकादशी के निर्णय के अवसर पर निम्बार्क का मत उद्धृत किया गया है और अतिशय आदर प्रदर्शन के लिए वे 'भगवान्' शब्द के द्वारा अभिहित किये गए हैं—

निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थफलप्रदः।
उदय-व्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे॥

इस पद्य को कमलाकर भट्ट ने अपने 'निर्णय सिंधु' में और भट्टोजि दीक्षित ने भी में भविष्य-पुराणीय कह कर सादर उल्लिखित किया है।[1]

निम्बार्क के चार शिष्य बतलाए जाते हैं—

(१) श्री निवासाचार्य—आप प्रधान शिष्य थे। इनका निवास-स्थान मथुरा जिला गोवर्धन से कोस दूर (श्री राधाकुण्ड) ललितासंगम पर माना जाता है। जन्म तिथि वसंत पंचमी। ग्रंथ—(१) 'वेदांत कौस्तुभ' नामक शारीरक मीमांसा भाष्य। (मुद्रित) (२) लघुस्तवराज सभाष्य (मु०)। ख्याति-निर्णय, पारिजात कौस्तुभ भाष्य तथा रहस्य-प्रबंध नामक ग्रंथों का निर्देश मिलता है, परंतु अभी तक ये अप्राप्य हैं।

(२) औदुम्बराचार्य—वासस्थान कुरुक्षेत्र के पास। मुख्य

---

१ द्रष्टव्य श्री संकर्षणशरणदेव रचित 'वैष्णवधर्म सुरद्रुममंजरी' पृ० १२४—१३०

ग्रंथ (१) औदुंबर संहिता (लिखित); (२) श्री निम्बार्क विक्रांति (मु०)

(३) **गौरमुखाचार्य**—वासस्थान निमिषारण्य । ग्रंथ निम्बार्कसहस्र नाम (लि०)

(४) **लक्ष्मणभट्ट**—इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक स्वतंत्र सूक्ष्म वृत्ति लिखी है जो अभी तक हस्तलिखत रूप में उपलब्ध है।

निम्बार्काचार्य द्वारा निर्मित ग्रंथ—

(१) **पारिजात सौरभ**—ब्रह्मसूत्र के ऊपर नितांत स्वल्पकाय वृत्ति ।

(२) **दशश्लोकी**—सिद्धांत-प्रतिपादक दश श्लोकों का संग्रह जिसपर हरिव्यासदेव रचित व्याख्या प्राचीन तथा महत्त्व-शालिनी मानी जाती है।

(३) **श्रीकृष्णस्तवराज**—निम्बार्क मत के प्रतिपादक २५ श्लोकों का स्तुतिपरक ग्रन्थ जिसकी श्रुत्यन्तसुरद्रुम, श्रुतिसिद्धान्त-मंजरी तथा श्रुत्यन्तकल्पवल्ली नामक व्याख्यायें प्रकाशित हैं।

(४) **मन्त्ररहस्यषोडशी**—इसमें १८ श्लोक हैं जिनके प्रथम १६ श्लोकों में निम्बार्क मत के पूज्य मन्त्र—अष्टादशाक्षर गोपाल मन्त्र—की विस्तृत व्याख्या है। इसके ऊपर सुन्दर भट्टाचार्य ने **मन्त्रार्थरहस्य व्याख्या** नामक टीका लिखी है (मु०)।

(५) **प्रपन्नकल्पवल्ली**—इस सम्प्रदाय में (१) श्री मुकुन्द-शरण मन्त्र की (नारदपञ्चरात्रानुमोदित) तथा (२) अष्टादशाक्षर गोपालमन्त्र की दीक्षा की पद्धति परंपरा से प्राप्त है। आचार्य निम्बार्क ने इन दोनों मन्त्रों का उपदेश गुरुवर्य नारदजी से प्राप्त कर इनकी व्याख्या के निमित्त दो ग्रन्थों की रचना की। पूर्व ग्रन्थ में गोपाल मन्त्र की विस्तृत व्याख्या है। प्रस्तुत ग्रन्थ

में शरण मन्त्र के रहस्य का उद्घाटन है। इनके ऊपर सुप्रसिद्ध सुन्दर भट्टाचार्य ने 'प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी' नामक विस्तृत भाष्य लिखा है। हिंदी अनुवाद के साथ मुद्रित[1]।

आचार्य निम्बार्क की पूर्वोक्त रचनायें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, परंतु पुरुषोत्तम तथा सुन्दर भट्ट आदि अवान्तरकालीन लेखकों के उल्लेखों से पता चलता है कि इन्होंने (६) गीतावाक्यार्थ, (७) प्रपत्तिचिन्तामणि तथा (८) सदाचारप्रकाश नामक तीन ग्रन्थों का भी निर्माण किया था, परंतु अभी तक ये ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं।

२—मत के प्रसिद्ध आचार्य

पुरुषोत्तमाचार्य—निंवार्क से सप्तम पीढ़ी में स्थित-आचार्य कृत दशश्लोकी पर 'वेदांत रत्न मंजूषा' नामक बृहद्भाष्य के रचयिता। इन्होंने ही सर्वप्रथम दशश्लोकी तथा रहस्य-प्रबंध पर विवरण लिखा। इसीलिए 'विवरणकार' नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरा ग्रंथ है-श्रुत्यंतसुरद्रुम जिसमें आचार्य के श्रीकृष्णस्तवराज की पांडित्यपूर्ण व्याख्या है।

देवाचार्य—कृपाचार्यके शिष्य श्रीदेवाचार्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है **'सिद्धांत जाह्नवी'** जो ब्रह्मसूत्र का विस्तृत समीक्षात्मक भाष्य है। इस ग्रंथ में (पृ० ५६) वेदांतरत्न मंजूषा का उल्लेख मिलता है। अतः ये अवांतरकालीन लेखक हैं। गुरुपरंपरा में संख्या १६। गुर्जराधिप राजा कुमारपाल के अभिषेक काल में वर्तमान माने जाते हैं। देवाचार्य जी तक एक

---

१ श्री शुकदेव नारायणसिंह कृत हिंदी अनुवाद, सं० २००७, छपरा (बिहार)

ही शिष्य परंपरा थी, परंतु इनसे दो धारा हो जाती है—प्रधान शाखा में सुंदर भट्टाचार्य। दूसरी शाखा में व्रजभूषण देवाचार्य।

सुंदर भट्टाचार्य—निंबार्क मत के प्रौढ़ दार्शनिक माने जाते हैं। देवाचार्य जी के शिष्य। गुरु के जाह्नवी ग्रंथ पर 'सेतु' नामक विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया। प्रथम तरंग चतुःसूत्री तक प्राप्त तथा मुद्रित; शेष अलभ्य। आचार्य-रचित ग्रंथ सं० ४ तथा ५ पर प्रामाणिक पांडित्यपूर्ण व्याख्यायें लिखीं।

केशव काश्मीरी—ये इस संप्रदाय में नितांत प्रौढ दिग्विजयी विद्वान हुए हैं। इनके ग्रंथ संप्रदाय की अतुल संपत्ति हैं। इनके ग्रंथ हैं—

(१) **तत्त्वप्रकाशिका**—गीता का निंबार्क मतानुयायी भाष्य (मु०)।

(२) **कौस्तुभप्रभा**—वेदांत कौस्तुभ का नितांत पांडित्य-पूर्ण व्याख्यान जिसमें परमत का खण्डन बड़ी युक्तियों के साथ साग्रह किया गया है। (मु०)

(३) **प्रकाशिका**—दशोपनिषद् पर भाष्य जिसमें केवल 'मुण्डक' का भाष्य प्रकाशित है, शेष अभी अलब्ध हैं।

(४) **भागवत टीका**—केवल वेदस्तुतिका भाष्य उप-लब्ध तथा प्रकाशित।

(५) **क्रमदीपका**—सतिलक (मु०)।

इनके देशकाल का भलीभाँति परिचय नहीं मिलता। सुनते हैं इन्होंने तीन बार दिग्विजय कर 'दिग्विजयी' की उपाधि प्राप्त की थी। काश्मीर में अधिक दिनों तक निवास करने के कारण काश्मीरी नाम से विख्यात थे। ये अलाउद्दीन खिलजी (शासन-

काल (१२६६ ई०-१३२० ई०) के समकालीन माने जाते हैं। कहते हैं कि मथुरा के किसी मुसलमान सूबेदार के आदेशानुसार एक फकीर ने लाल दरवाजे पर एक मंत्र टाँक दिया जिसके प्रभाव से जो भी हिंदू उधर से निकलता उसकी शिखा कट जाती और वह मुसलमान बन जाता। काश्मीरीजी सूचना पाकर उस स्थान पर अपने शिष्यों के साथ पहुँचे और अपने प्रभाव से उस यंत्र को व्यर्थ बना डाला। ये मथुरा में ध्रुवटीले पर निवास करते थे। इनके अन्तर्धान का स्थान मथुरा में नारदटीला है जहाँ इनकी समाधि बनी हुई है। इनका जन्मोत्सव ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी को मनाया जाता है। इनके एक शिष्य संकर्षणशरणदेव ने 'वैष्णवधर्मसुरद्रुममञ्जरी' की रचना की थी जिसमें इस मत की श्रेष्ठता तथा व्रतादि का वर्णन है। काश्मीरीजी के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

> वागीशा यस्य वदने हृत्-कञ्जे श्री हरिः स्वयम्
> यस्यादेशकरा देवा मन्त्रराजप्रसादतः ॥

नाभादासजी ने इसके पूर्वोक्त चमत्कार तथा सर्वत्र दिग्विजय की सूचना में यह छप्पय लिखा है—

> कासमीर की छाप पाय तापन जगमंडन
> दृढ हरि-भक्ति-कुठार आनमत विटप विहंडन।
> मथुरा मध्य मलेच्छ वदल करि वर बट जीते
> काजी अजित अनेक देखि परचे भय भीते।
> बिदित बात संसार सब संत साखि नाहिन दुरी।
> श्री 'केशवभट' नरमुकुट मणि जिनकी प्रभुता बिस्तरी ॥
>
> (छप्पय ७५)

श्रीभट्ट

आप केशव कार्श्मीरी जी के अंतरंग शिष्य थे। इनके गुरुदेव भगवान् के ऐश्वर्य भाव के उपासक थे, तो ये माधुर्य मकरंद के सच्चे मधुव्रत थे। आप माधुर्यरसोपासक थे और नित्यविहारी श्री राधामाधव जी की दिव्य लीलाओं के आनंद में सदा बिभोर रहते थे। आपने ही निंबार्कीय आचार्यों में सर्वप्रथम व्रजभाषा में कविता की और इसीलिए इनका 'जुगलसतक' आदिबानी के नाम से संप्रदाय में विख्यात है। इनके यथार्थ समय का पता नहीं चलता। जुगलसतक के रचना काल के द्योतक दोहे का रूप भिन्न भिन्न मिलता है—

> नैन बान पुनि राम ससि, गिनौ अंक गति बाम।
> जुगल सतक पूरन भयौ संवत् अति अभिराम॥

यही यदि शुद्ध पाठ हो तो ग्रंथ का रचनाकाल १३५२ संवत् (=१२९५ ई०) ठहरता है, परंतु सभा में उपलब्ध हस्तलिखित प्रति में 'राम' के स्थान पर 'राग' पाठ मिलता है जिसके कारण इसका निर्णय काल तीन सौ वर्ष पीछे १६५२ संवत् में चला जाता है। इसकी भाषा उतनी प्राचीन नहीं है कि यह १३वीं शती की रचना माना जाय।

श्रीभट्ट जी पहुँचे हुये भक्त थे। भगवान् की रासलीला का आनंद उनके जीवन का दिव्य बनाये हुये था। अपनी मधुर साधना की झाँकी वे अपने ही सुंदर शब्दों में दिखला रहे हैं—

> सेव्य हमारे श्रीप्रिय प्यारे वृंदाविपिन–विलासी।
> नंदनँदनवृषभानु–नंदिनी-चरन अनन्य उपासी॥
> मत्त प्रनय बस सदा एक रस विविध निकुंज निवासी।
> श्रीभट जुगल रूप बंशीवट सेवत सब सुखरासी॥

इनकी कविता ऊंचे दर्जे की है। भक्ति से सिक्त हृदय का उद्गार कोमल पदावली के माध्यम द्वारा प्रकट होकर किसके हृदय को रससिक्त नहीं बनाता? जुगल सरकार के उपासक श्रीभट्ट जी की कविता की मधुरिमा इसीलिए हमें किसी दिव्य आनंद का आस्वाद देती है। एक दो पद ही उदाहरण के निमित्त पर्याप्त होंगे—

जुगल किसोर हमारे ठाकुर।
सदा सर्वदा हम जिनके हैं, जनम जनम घर जाये चाकर॥
चूक परै परिहरै न कबहूँ सबही भाँति दया के आकर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवन में प्रनतनि पोषत परम सुधाकर॥

भींजत कब देखौं इन नैना।
स्यामा जू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना।
स्यामा-स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियौ कछु मैं ना॥
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि ते घिरि आई जल सेना॥

सुनते हैं श्रीभट्ट जी ने अपने इन्हीं लोचनों से वर्षाकाल में भींजते हुए श्यामा-श्याम को देख कर इस पद की रचना की थी। इनकी उदात्त भक्तिभावना से प्रेरित होकर ही नाभादास ने ठीक ही लिखा है—

मधुर-भाव संवलित ललित लीला सुबलित छबि।
निरषत हरषत हृदय प्रेम बरषत सुकलित कवि॥
भव निस्तारन हेत देत दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजसु ससि उदै हरत अति तम भ्रम सुभचित॥
आनंदकंद श्रीनंदसुत श्री वृषभानुसुता-भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन-मन-मोद-घन॥

हरिव्यास जी

आप श्रीभट्टजी के अंतरंग तथा प्रधान शिष्य थे। आपका जन्म गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। वर्षों तक तपस्या तथा भजन के उपरांत योग्यता-संपन्न होने पर गुरु जी ने इन्हें अपना शिष्य बनाया। नाभादास जी ने इनकी उत्कट वैष्णवता, उद्दाम भक्तिभावना का वर्णन करते हुए लिखा है कि इन्होंने देवीजी को वैष्णवी दीक्षा दी थी। पंजाबप्रांत के किसी 'गढ़यावल' नामक ग्राम में देवी के बलिनिमित्त एकत्र निरीह बकरों को देखकर इनके हृदय में दया का भाव इतना उमड़ा कि स्वयं देवी का स्वप्न पाकर राजा ने ही इनसे वैष्णवी दीक्षा नहीं ली, बल्कि देवी ने भी[1]। आज भी उधर वैष्णवी देवी के यहाँ जीवों का बलिदान नहीं होता।

गुरु के आज्ञानुसार इन्होंने युगलशतक के ऊपर एक विस्तृत भाष्य लिखा जो 'महाबानी' के नाम से विख्यात है। जुगल-सतक के दोहों में जो भाव संक्षेपमें वर्णित हैं उन्हीं का कमनीय विस्तार इनके गेय पदरूपी भाष्य में उपलब्ध होता है। ये सर्वप्रथम उत्तर भारतीय संप्रदायाचार्य माने जाते हैं। इनके

---

१ खेचर नर की शिष्य निपट अचरज यह आवै
विदित बात संसार संतमुख कीरति गावै।
वैरागिन के वृंद रहत संग स्याम सनेही।
ज्यों जोगेस्वर मध्य मनो सोभित वैदेही।
श्रीभट्ट चरन रज परसि कै सकल सृष्टि जाकी नई।
श्रीहरिव्यासतेज हरि-भजन-बल देवी को दीक्षा दई॥
(छप्पय ७७)

पहिले आचार्य दाक्षिणात्य बतलाये जाते हैं। ये निंबार्क संप्रदाय के भीतर 'रसिक-संप्रदाय' नामक शाखा के प्रवर्तक हैं। भगवान श्रीकृष्ण के शृंगारी रूप की उपासना ही इस मत का सर्वस्व है। अत्यन्त प्रभावशाली होने के कारण इस शाखाके संत लोग 'हरिव्यासी' के नाम से प्रख्यात हैं।

इनका समाधि-स्थान मथुरा में 'नारद टीला' है जहाँ नारद जी की मूर्ति विराजमान है। इनका जन्मोत्सव कार्तिक बदी द्वादशी को मनाया जाता है। इनके संस्कृत ग्रंथों में नाम हैं—(१) सिद्धांतरत्नाञ्जलि—दशश्लोकी की बृहद् टीका (मु०) (२) प्रेम भक्तिविवर्धिनी—निंबार्क अष्टोत्तरशत नाम की टीका (मु०), (३) तत्त्वार्थपंचक (लि०) (४) पंचसंस्कार-निरूपण (लि०)।

इनके प्रधान १२ शिष्य हुए जिनके नाम पर संप्रदाय के १२ द्वारे (अर्थात् शाखायें) चले—(१) स्वभूदेवाचार्य, (२) बोहितदेवाचार्य (३) मदन गोपाल देवाचार्य, (४) उद्धव देवाचार्य, (५) बाहुबल देवाचार्य, (६) परशुराम देवाचार्य, (७) गोपाल देवाचार्य, (८) हृषीकेश देवाचार्य, (९) माधव देवाचार्य, (१०) केशव देवाचार्य, (११) गोपाल देवाचार्य, (१२) मुकुंददेवाचार्य।

इनके समय का अंदाजा लगाया जा सकता है। इनकी आँठवीं पीढ़ी में प्रसिद्ध कवि रसिकगोविंद हुए[1] जिन्होंने जिन्होंने अपने गोविंदानंदघन नामक ग्रंथ की रचना १८५८

१ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—रसिकगोविंद और उनकी कविता पृ० १३

संवत् के वसंत पंचमी को की[1] (=१८०१ ई०) । यदि एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष का समय मान लिया जाय, तो हरिव्यास जी का समय उनसे २०० वर्ष पहिले अर्थात् १६०० ई० के आसपास होना चाहिए । इस प्रकार हरिव्यास जी महात्मा तुलसीदास जी के समकालीन ठहरते हैं। इनके गुरु श्रीभट्टजी का समय इस पद्धति से १५५० के आसपास होना चाहिए।

महावाणी—हरिव्यास देव जी की एकमात्र हिंदी रचना है और नितांत उत्कृष्ट रचना है। गुरु श्री भट्टजी के आदेशानुसार इन्होंने इस 'महाबाणी' को उनके 'युगल शतक' के भाष्य रूप में लिखा है। इसमें राधाकृष्ण की नित्य विहारलीला का बड़ा ही मार्मिक, तलस्पर्शी, हृदयग्राही वर्णन किया गया है। वर्णन भक्तकवि की अनुभूति की सरस वर्णनमयी अभिव्यक्ति है। पदों की भाषा कोमल व्रजभाषा है। पढ़ने से प्रतीत होता है कि हरिव्यास देव जी इन अलौकिक लीलाओं का स्वतः साक्षात्कार कर ही इसे लिख रहे हों। यह पदावली लिखी हुई दिव्य मानसिक दशा में-भावावेश में जिसमें कवि विषय के साथ तादात्म्य स्थापन कर उसमें नितांत लीन हो जाता है। यह माधुर्य की खानि है तथा राधा और सर्वेश्वर की दिव्य लीलाओं की माधुरी की पूर्ण प्रकाशिका है।

श्री महावाणी में पाँच सुख हैं—सेवा; उत्सव, सुरत, सहज

---

१ वसु[८] सर[५] वसु[८] ससि[१] अंक रवि दिन पंचमी वसंत।
रच्यौ गोविंदानन्दघन, वृंदावन रसवंत ॥

तथा सिद्धांत। सेवासुख में नित्यविहारी श्री राधाकृष्ण की अष्टयाम-सेवा पदों द्वारा वर्णित है। सखी-भावावेश में तन्मय होकर एक रूप से श्री श्यामा श्याम की अष्टप्रहर सेवा में निमग्न रहने का ही नाम 'सेवा-सुख' है। उत्सव-सुख में नाना प्रकार के नैमित्तिक उत्सवों से उत्पन्न आनंद की झलक है। सुरतसुख के अनुसार नित्यविहारी श्री राधा-कृष्ण परस्पर एक एक के सुरत-सागर में निमग्न रहते हैं—यह रस की चरम परिपक्व दशा है। सहजसुख में स्वाभाविक प्रेमावस्था में आनंद-विभोर होने का सुंदर वर्णन है। परस्पर एक दूसरे के पास रहने पर भी वियोग के भय से कभी विह्वलता है, कभी भावावेश में निमग्न होते हुए अत्यंत शीघ्रता से मिलने के लिए अधीरता है। सिद्धांत-सुख स्वभाव से ही अत्यंत गंभीर है। इसमें वैष्णव सिद्धांतों का जैसे उपास्य तत्त्व, धामतत्त्व, सखी-नामावली आदि का गूढ़ वर्णन है। इस सिद्धांत के अनुसार अपार माधुर्य की मूर्ति, सौंदर्य-रसा-मृत मूर्ति श्री सर्वेश्वर कृष्णचंद्र ही एकमात्र परात्पर तत्त्व हैं। निराकार, शुद्ध चैतन्य निर्गुण ब्रह्म तो इस नित्यविहारी जी के चिदंशमात्र हैं। वृंदावन धाम में ये ही सर्वेश्वर अपनी आह्लादिनी शक्तिरूपा श्री राधारानी के साथ नित्यविहार का सुख अनुभव करते हैं। स्वयं श्रीकृष्ण के द्वारा आराधना किए जाने के कारण ही आह्लादिनी शक्ति 'राधा' पद से वाच्य मानी जाती है। इनका कभी वियोग नहीं होता। शक्ति तथा शक्तिमान् के नित्य संबंध के समान युगलसरकार सर्वदा ही एक साथ विहार करते हैं तथा आनंद-सागर में संतत निमग्न रहते हैं। महावाणी का यही विषय है।

हरिव्यास देव जी मधुरभाव के उपासक थे। कविता में

अपना नाम 'हरिप्रिया' रखते थे। उदाहरण के लिये एक-दो पद नीचे दिए जा रहे हैं।[1]—

विलसौ दोउ लाल मेरे हियसदन सुखसने।
सुरत रसलीन अँग-अँग नागर नवल
कमल की माल लह लही डहडह तने।
मुकुट की लटक अरविंद पद परसिनी
सरसनी समर अद्भुत सुआनँद घने।
'श्री हरिप्रिया' ललित उर सो मिली झिलमिली
दिलमिली दीपति दुति जोर जोवन जने॥

राधाकृष्ण की अद्वैतता का यह कितना मधुर वर्णन है—

सदा सर्वदा जुगल इक, एक जुगल तन धाम।
आनँद अरु अहलाद मिलि, विलसत द्वै द्वै नाम॥
एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनँद के अहलादिनि स्यामा अहलादिनि के आनँद स्याम
सदा सर्वदा जुगल एक तन एक जुगल तन विलसत धाम।
'श्री हरिप्रिया' निरंतर नितप्रति कामरूप अद्भुत अभिराम॥

श्री राधिका के रूप वर्णन में हरिप्रिया जी की अद्भुत प्रतिभा झलकती है—

जयति जय राधिका रसिक रस मंजरी
रसिक सिरमौर मोहन बिराजैं।

---

१ विशेष उदाहरणों के लिए देखिए—
विहारीशरण रचित 'निम्बार्क माधुरी' पृ० ३२—६८
(वृंदावन, सं० १९९७)

रसिकिनी रहसि रसधाम वृंदाविपिन
रसिक रसरम्मी सहचरि समाजै ॥
रसिक-रस-प्रेम सिंगार रँग रँगि रहे
रूप आगार सुखसार साजै ।
मधुर माधुर्य सौंदर्यता वर्य पर
कोटि ऐश्वर्य की कला लाजै ॥
चातिकी कृष्ण की स्वाति की वारिदा
वारिधा रूप-गुन गर्विता जै ।
मदन मद मोचिनी रोचिनी रतिकला
रतन मनि कुंडला जगमगा जै ॥

निम्बार्कमतावलंबी कवियों में श्री हरिव्यास देवजी का वही स्थान है जो वल्लभमतानुयायी कवियों में सूरदास जी को प्राप्त है। दोनों ही हिंदी-कविता-कामिनी के कलेवर को शोभित करने वाले दो रत्न हैं तथा अपने भक्तिसंप्रदाय के जाज्वल्यमान हीरक हैं।

परशुरामाचार्य

हरिव्यासजी के १२ शिष्यों में से सबसे अधिक प्रख्यात शिष्य आचार्य परशुरामजी थे। ये आदिगौड़ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न श्रीवासुदेवजी के पुत्र थे। बाल्यकाल में ही माता पिता से हीन होने पर ये हरिव्यासजी के शरण में आ गये और उनके शिष्य हो गये। गुरुजी की इनके ऊपर अपार कृपा थी और उनके गोलोक सिधारने पर ये ही उनके उत्तराधिकारी हुए।

सुनते हैं कि एक बार अजमेर के पास किसी सलीमशाह नामक फकीर को इन्होंने युद्ध में परास्त किया। वह इनकी

सिद्धियों के सामने नतमस्तक हो गया। युद्ध का स्थान परशुराम-पुरी के नाम से विख्यात है जहाँ इन्होंने सर्वेश्वरजी का विशाल मन्दिर बनवाया। पुष्करक्षेत्र में इनके द्वारा पुनरुद्धारित यही आचार्यपीठ (परशुरामपुरी, सलेमाबाद, किशनगढ़ राज्य) सम्प्रदाय का आज सर्वप्रधान पीठ माना जाता है। यहीं इनकी समाधि है जिस पर के शिलालेख से पता चलता है कि श्री परशुरामदेव के पट्टशिष्य श्रीहरिवंशदेवाचार्य ने समाधि के निकट एक मन्दिर बनवाया। शिलालेख का समय है १६८६ वि० (=१६३२ ई०) जिससे पूर्व इनकी मृत्यु समझनी चाहिए। ये तुलसीदासजी के समकालीन प्रतीत होते हैं।

ये ब्रजभाषा के बड़े भारी कवि प्रतीत होते हैं। इनके १३ ग्रन्थों का पता हाल की खोज में चलता है। ये निर्गुणवादी और सगुणवादी दोनों विचारधाराओं से प्रभावित हुये जान पड़ते हैं। इन्होंने कबीर की तरह निर्गुण ब्रह्म पर भी कवितायें की हैं। कृष्णभक्त होने से सगुण उपासना तो इनकी निजी सम्पत्ति थी। इसीलिए अधिक ग्रन्थ सगुणभक्ति मार्ग के संबंध में ही हैं। इनके चार ग्रंथ (१) तिथि लीला, (२) बारलीला, (३) बावनी लीला तथा (४) विप्रमतीसी विषय और नाम-साम्य के विचार से कबीर के कहे जाने वाले इन्हीं नाम वाले ग्रंथों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। (५) 'नाथ लीला' में महात्माओं तथा दिव्य पुरुषों के नाथांत नाम गिनाये गये हैं। (६) 'पदावली' में ब्रजलीला तथा भगवान् की अनन्य भक्ति का वर्णन है, (७) रोग रथनाम लीला निधि (परमतत्त्व का विवेचन); (८) साँच निषेध लीला (ईश्वर चिंतन की सारता तथा अन्य कृत्यों की व्यर्थता का वर्णन)। (९) हरिलीला (भगवान् की लीला का दर्शनिक विवेचन) १० लीलासमझनी

(विश्व के प्रपंच का रूपदर्शन) ११ नक्षत्र लीला (नक्षत्रों का दार्शनिक विवेचन) १२ निज रूप लीला (भगवान् के रूप का विवेचन) १३ निर्वाण (संसार में त्याग तथा भगवद्-भक्ति का उपदेश)—ये ही इनके उपलब्ध समस्त ग्रंथ हैं। इन्हीं का एकत्र संग्रह 'परशुराम सागर' के नाम से विख्यात है।

कविता में उपदेश की प्रधानता है। राजस्थान के निवासी होने के कारण भाषा में राजस्थानी का पर्याप्त मिश्रण है। कबीर के समान हिंदू तथा मुसलमानों में ऐक्यभाव उत्पन्न करनेवाली कवितायें इन्होंने कही हैं।

भाई रे का हिंदू का मुसलमान जो राम रहीम न जाणा रे।
हारि गये नर जनम बादि जो हरि हिरदै न समाणा रे॥
जठरा अगिनि जरत जिन राख्यो गरभ संकट गँवाणा रे।
तिहि और तिन तज्यौ न तोकूं तैं काहे सु भुलाणा रे॥

भक्तिपरक पदों की भाषा अधिक मधुर तथा सुंदर है—

गोबिंद मैं बंदीजन तेरा।
प्रात समै उठि मोहन गाऊँ तौ मन मानै मेरा।
कर्तम करम भरम कुल करणी ताकी नाहि न आसा।
करूँ पुकार द्वार सिर नाऊँ गाऊँ ब्रह्म विधाता।
'परसराम' जन करत बीनती सुणि प्रभु अविगत नाथा[1]॥

बीहड़ राजस्थान में निवास करते हुए परशुराम जी ने जंगली लोगों को भगवान् का भक्त बनाया; हिंसा से उनकी वृत्ति रोकी तथा वैष्णव धर्म में दीक्षित किया। उनके इस व्यापक प्रभाव का संकेत नाभादास जी ने अपने एक छप्पय में किया है—

---

१ इनके ग्रंथों से उद्धरण के लिए द्रष्टव्य नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४५, अंक ४ (माघ १९९७) पृ० ३३२–३४०.

ज्यों चंदन को पवन नींब पुनि चंदन करई।
बहुत काल तम निविड़ उदय दीपक ज्यों हरई॥
श्रीभट पुनि हरिव्यास संत मारग अनुसरई।
कथा कीरतन नेम रसनि हरिगुन उच्चरई।
गोबिन्द भक्ति गदरोग गति तिलक दाम सद बैद हद।
जंगली देस के लोग सब श्री परसुराम किये पारषद॥

यहाँ प्रधान आचार्यों का ही वर्णन है। पूरी प्रामाणिक आचार्य परंपरा के लिए देखिए:—

(१) अनंतराम देव शर्मा—आचार्य परंपरा स्तोत्र।

(२) पं० किशोरदास जी—आचार्य परंपरा परिचय; प्रकाशक पं० रामचंद्र दास, वृंदावन सन् १९३६।

निंबार्क संप्रदाय ने हिंदी साहित्य का बड़ा ही उपकार किया है। इस मत के माननेवाले कवियों ने हिंदी में प्रशस्त काव्यों की रचना कर हमारे साहित्य को महती प्रतिष्ठा दी है। ब्रजकाव्य वैष्णव काव्य है। अष्टछाप की प्रधानता के कारण हमारी यह साधारण मान्यता है कि ब्रजसाहित्य की अभिवृद्धि में वल्लभाचार्य के संप्रदाय ने ही सबसे अधिक कार्य किया है, किंतु निंबार्क मत का भी कार्य इस विषय में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। निंबार्क कवियों में भी अष्टछाप से टक्कर लेने वाले अनेक कवि विद्यमान हैं, परंतु दुःख है कि विशेष अनुसंधान के अभाव में निंबार्क कवियों का काव्यप्रतिभा के जौहर अभी तक सहृदय आलोचकों के सामने नहीं आये। जो रचनायें अभी तक प्रकाश में आई हैं वे कम महत्त्वशाली नहीं हैं।

निंबार्क कवियों के काव्य माधुर्य तथा सरसता की दृष्टि से किसी से घटकर नहीं है। राधाकृष्ण की ललित लीलाओं के

वर्णन में वे अपनी तुलना नहीं रखते। वल्लभमतानुयायी कवियों का विशेष चमत्कार कृष्ण की बाललीलाओं के विशद वर्णन में तथा शृंगाररस की मधुर अभिव्यंजना में दृष्टिगोचर होता है, परंतु निबार्क कवि के राधाकृष्ण की अष्टयाम सेवा के पद अपनी भावभंगी में तथा कमनीयता में एकदम बेजोड़ हैं—इस अनुपमेयता का रहस्य शृंगार-भावना में अंतर्निहित है। निबार्क कवि राधाकृष्ण की शृंगार लीला का ही एकदम उपासक है, उधर वल्लभकवि बालकृष्ण की माधुरी पर रीझता है। इसीलिए कृष्णभक्ति से मुग्ध होने पर भी दोनों में यह सूक्ष्म अंतर प्रतीत होता है। हिंदी के हमारे परिचित महाकवि बिहारी लाल, केशवदास, घनानंद,[1] रसिक गोविंद,[2] रसखान सभी निंबार्क मतानुयायी वैष्णव कवि हैं। इनके अतिरिक्त रूपरसिक देव जी, वृंदावन देवजी, गोविंददेवजी, नागरीदास जी, शीतलदासजी आदि अनेक भक्त कवियों ने अपने कमनीय काव्यों के द्वारा व्रजमाधुरी का सर्वस्व प्रस्तुत किया है तथा साथ ही साथ भगवान् कृष्णचंद्र के विमल यश का गायन कर अपने को कृतकृत्य बनाया है। अतः निम्बार्क मत के कवियों की पूरी छानबीन इस विषय में नितांत अपेक्षित है।[3]

---

१ घनानंद की निबार्क परंपरा के लिए द्रष्टव्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—घनानंद कवित्त [भूमिका; द्वितीय सं०]

२ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—रसिकगोविंद और उनकी कविता; प्र० बलिया नागरीप्रचारिणी सभा।

३ इस विषय में श्लाघनीय कार्य किया है ब्रह्मचारी बिहारीशरण जी ने अपने 'निबार्क माधुरी' के द्वारा जिसमें इस मत के कवियों का

निम्बार्कीय कवियों के एक दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं।

तब तौ छबि पीवत जीवत हे अब सोचनि लोचन जात जरे।
हित पोस के तोषतु प्रानपले बिललात महादुख दोष भरे।
घन आनँद मीत सुजान बिना सबही सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे, अब आनि कै बीच पहार परे।
—घनानंद

देखो सुंदरता की सींवाँ।
जमुना-तीर कदम की छहियाँ दै ठाढ़े भुज ग्रींवाँ॥
वह बंसी वह मधुर-मधुर सुर गावत राग उचारी।
वह मोहन वह ब्रज को सजनी वह मोहनी महारी॥
दुरी कुंज दै ओट लखौ री धन्य प्रहर पल घरी।
'रूपरसिक' वह स्याम सुँदर वह राधे रूप भरी॥
—रूपरसिक।

३—सिद्धान्तविवेचन

(क) भेदाभेद का ऐतिहासिक परिचय

आचार्य निंबार्क ब्रह्म तथा जीव के संबंध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के प्रतिपादक हैं। उनकी मान्य संमति में जीव अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। भारतीय दार्शनिक जगत् में यह भेदाभेद सिद्धांत नितांत प्राचीन है।

जीवनचरित तथा उनके काव्यों का समीक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। ग्रंथ बड़े परिश्रम से लिखा गया है। संग्रहकर्ता हमारे धन्यवाद के भाजन हैं। प्रकाशक—वृंदावन, सं० १९९७।

शंकराचार्य के पहले ही नहीं, अपि तु बादरायण के पूर्व भी इस मत के पोषक आचार्य विद्यमान थे। बादरायण से पूर्व आचार्य औडुलोमि तथा आचार्य आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। औडुलोमि के मत में अवस्थाविशेष से ब्रह्म-जीव में भिन्नत्व तथा अभिन्नत्व की उभयविधि कल्पना संघटित होती है। संसारदशा में नानात्मक जीव तथा एकात्मक ब्रह्म में नितांत भेद है, परंतु मुक्तिदशा में चैतन्यात्मक होने से जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं (ब्र० सू० १।४।२१)। आचार्य आश्मरथ्य का सिद्धांत है कि कारणात्मना जीव तथा ब्रह्म की एकता है, परंतु कार्यात्मना दोनों की अनेकता है, जिस प्रकार कारणरूपी सुवर्ण की एकता बनी रहने पर भी कार्यरूप कटक, कुंडलादिरूपमें दोनोंमें भिन्नता रहती है (ब्र० सू० १।४।२०)। 'श्रुतिप्रकाशिका' के रचयिताके कथन से प्रतीत होता है कि आश्मरथ्य के भेदाभेद को परवर्ती काल में यादवप्रकाश ने ग्रहण कर पुष्ट किया। निंबार्क के साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने अपने 'वेदांतकौस्तुभ' में काशकृत्स्न को भी भेदाभेदी बतलाया है (तदेवं मुनित्रयमतद्वारा प्रसंगात् भेदाभेद-प्रकारो भगवता दर्शितः १।४।२२) पर शंकराचार्य के कथनानुसार ये अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं (तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते १।४।२२ शां० भा०)।

भर्तृप्रपञ्च—आचार्य शंकर से पूर्व वेदांताचार्यों में भर्तृप्रपञ्च भेदाभेद सिद्धांत के पक्षपाती थे। आचार्य ने उनके मत का उल्लेख तथा खंडन बृहदारण्यक के (२।३।६, २।५।१, ३।४।२, ४।३।३०) भाष्य में किया है। इनका मत है कि परमार्थ एक भी है तथा नाना भी है—ब्रह्मरूप में एक है और जगद्रूप में नाना है। जीव नाना तथा परमात्मा का एकदेशमात्र है। काम, वासनादि जीव के धर्म हैं। अतः धर्म तथा दृष्टि के भेद

से जीव का नानात्व औपाधिक नहीं है, अपितु वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर समुद्र-तरंग-न्याय से द्वैताद्वैत है। जिस प्रकार समुद्ररूप से समुद्र की एकता है, परंतु विकाररूप तरंग, बुद्‌बुद आदि की दृष्टि से वही समुद्र अनेक है—नानात्मक है। आचार्य ब्रह्म के परिणाम मानते हैं। यह परिणाम तीन प्रकार से निष्पन्न होता है—(१) अंतर्यामी—जीवरूप मे, (२) अव्याकृत—सूत्र विराट् तथा देवतारूप मे (३) जाति तथा पिंडरूप में। जीव और जगत् की सत्ता भी काल्पनिक न होकर वास्तविक है। साधनापक्ष में वे ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी हैं। कर्मजन्य फल अनित्य है. परंतु ज्ञान के द्वारा विमलीकृत कर्म से आत्यंतिक श्रेय की उपलब्धि अवश्य ही होती है। फलस्वरूप मोक्ष भी दो प्रकार का माना गया है—(१) इसी शरीर के ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर उत्पन्न मुक्ति को अपरमोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं जो 'जीवन्मुक्ति' के समान है। (२ ब्रह्म साक्षात्कार के अनंतर देहपात होने पर जीव की ब्रह्मभावापत्ति को 'पर मोक्ष' [श्रेष्ठमुक्ति] कहते हैं जिसमे जीव अविद्यानिवृत्ति के सपन्न होने पर ब्रह्म मे लय प्राप्त कर लेता है। जान पड़ता है कि भर्तृप्रपंच के मत से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अविद्या की पूर्णनिवृत्ति नहीं होती, क्योंकि जीव तब तक देह के साथ सबंध रखता है। परतु परा-मुक्ति की दशा में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति होने पर वह ब्रह्म में सर्वतोभावेन लीन हो जाता है। इनके मत से परमात्मा तथा जीव मे अंशांशिभाव अथवा एकदेशएकदेशिभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण-पूर्व आचार्यो की भेदाभेदपरंपरा का अनु-सरण भर्तृप्रपंच ने अपने ग्रंथों में किया है।

भास्कर—शंकरोत्तर युग के वेदांताचार्यों में भास्कर का नाम प्रमुख है। रामानुज ने वेदार्थसंग्रह (पृ० १४–१५) में, उदय-

नाचार्य (६८४ ई०) ने न्यायकुसुमांजलि में और वाचस्पति ने भामती में इनके मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय अष्टमशतक मानना चाहिए। इनके मत में ब्रह्म सगुण, सल्लक्षण, बोधलक्षण और सत्यज्ञानानंत लक्षण है। चैतन्य तथा रूपांतर-रहित अद्वितीय है। प्रलयावस्था में समस्त विकार ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म कारणरूप में निराकार तथा कार्यरूप में जीवरूप और प्रपञ्चमय है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ भोग्यशक्ति तथा भोक्तृशक्ति होती हैं (२।१।२७ भास्करभाष्य)। भोग्यशक्ति ही आकाशादि अचेतन जगत्रूप में परिणत होती है। भोक्तृशक्ति चेतन जीवरूप में विद्यमान रहती है। ब्रह्म की शक्तियाँ पारमार्थिक हैं, वह सर्वज्ञ तथा समग्र शक्तियों से संपन्न है[1]।

भास्कर ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। जैसे सूर्य अपनी रश्मियों का विक्षेप करता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी अनन्त और अचिंत्य शक्तियों का विक्षेप करता है[2]। ब्रह्म के स्वाभाविक परिणाम से ही यह जगत् है। भास्कर का स्पष्ट मत है कि निरवयव पदार्थ का ही परिणाम होता है, सावयव का नहीं। अच्युतस्वभाव तन्तु का परिणाम पट है तथा अच्युतस्वभाव आकाश से वायु उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अच्युतस्वभाव ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः

---

१ ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वाभाव्यात्। यथा क्षीरं दधिभावाय अम्भो हिमभावाय न तु तत्राप्याञ्चनमाधारभूतं च द्रव्यमपेक्ष्यते।
—२।१।२४ भा० भा०।

२ अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत्॥
—भा० भा० पृ० ६६।

स्वतंत्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य परिणामो व्यवस्थाप्यते। स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति—२।१।१४ भा० भा०)। जीव अणुरूप है तथा ब्रह्म का अग्निविस्फुलिंगवत् अंश है। यह जीव ब्रह्म से अभिन्न है तथा भिन्न भी। इन दोनों में अभेदरूप स्वाभाविक है, भेद उपाधिजन्य है (स च भिन्नाभिन्नस्वरूपः अभिन्नरूपं स्वाभाविकम् औपाधिकं तु भिन्नरूपम्—२।३।४३ भा० भा०)। उपाधि के निवृत्त हो जाने पर भेदभाव छूट जाता है—यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्मरूप में स्थिति है। कार्यकारणों में भी यह भेदाभेद संबंध रहता है। समुद्ररूपेण एकत्व है, तरङ्गरूपेण नानात्व है। भास्कर ने १।१।४ के अपने भाष्य में इस सिद्धांत का स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

> कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
> हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥

भास्कर मुक्ति के लिए ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद को मानते हैं। शुष्क ज्ञान से मोक्ष का उदय नहीं होता, परंतु कर्म-संवलित ज्ञान से। उपासना या योगाभ्यास के बिना अपरोक्षज्ञान का लाभ नहीं होता। इन्हें सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति दोनों अभीष्ट हैं।

यादव—ये भी भेदाभेदवादी हैं। यदि ये रामानुज के गुरु यादवप्रकाश से अभिन्न हों, तो इनका समय ११वीं शताब्दी का अंतिम भाग होगा। रामानुज ने 'वेदार्थ-संग्रह' (पृ० १५) में, वेदांतदेशिक ने 'परमतभङ्ग' में और व्यासतीर्थ ने 'तात्पर्य-चंद्रिका' में इनके मत का उल्लेख किया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र और गीता पर भेदाभेदसम्मत भाष्य का निर्माण किया था। ये निर्गुण-ब्रह्म तथा मायावाद नहीं मानते। इनके मत में ज्ञानकर्मसमुच्चय

मोक्ष का साधन है। ब्रह्म भिन्नाभिन्न है । भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं, पर यादव उपाधिवाद नहीं मानते। ये परिणामवादी हैं तथा जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करते हैं।

यादव के लगभग सौ वर्ष के अनंतर निंबार्क का जन्म हुआ और इन्होंने भेदाभेद के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। भास्कर तथा यादव के सिद्धांत लुप्तप्राय से हो गये हैं, परंतु निम्बार्क का कृष्णोपासक संप्रदाय भक्तिभाव का प्रचार करता हुआ आज भी भक्तजनों के विपुल समादर का भाजन बना हुआ है।

(ख) निंबार्क-पदार्थमीमांसा

निंबार्क-संमत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज मत के अनुरूप है। चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका स्वरूप ज्ञानमय है।

जीव

इंद्रियों की सहायता बिना, इंद्रियनिरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है और 'प्रज्ञानघनः' 'स्वयं जोतिः तथा 'ज्ञानमयः' आदि शब्दों का जीव के विषय में प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। जीव ज्ञान का आश्रय—ज्ञाता भी हैं। अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में इसी प्रकार है[1], जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है तथा प्रकाश का आश्रय भी है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान तथा गुणभूत ज्ञान

---

१ ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।
दशश्लोकी १.

यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न ही हैं, तथापि इन दोनों में धर्म-धर्मिभाव से भिन्नता है।

(१) जीव कर्ता है। प्रत्येक दशा में जीव में कर्तृत्व का सद्भाव है। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य है, परंतु मुक्त हो जाने पर भी कर्तृत्व की सत्ता जीव में श्रुतिप्रतिपादित है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" 'स्वर्गकामो यजेत्'—आदि श्रुतियाँ जिस प्रकार संसार-दशा में आत्मा में कर्तृत्व प्रतिपादित करती हैं, उसी प्रकार 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत', 'शांत उपासीत' आदि श्रुतियाँ मुक्तावस्था में भी उपासना की प्रतिपादिका होने से उक्त आत्मा को कर्ता बतलाती हैं[1]।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र न हो कर ईश्वर पर आश्रित रहता है। अतः चैतन्यात्मक तथा ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष व्यावर्तक गुण रहता है—नियम्यत्व। ईश्वर नियंता है। जीव नियम्य है। ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी यह ईश्वर के आश्रित रहता है।

जीव परिमाण में अणु तथा नाना है। वह हरि का अंशरूप है। अंश शब्द का अर्थ अवयव या विभाग नहीं है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है (अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः—२।३।४२ पर कौस्तुभ)। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है अतः वह अंशी है। जीव उसका शक्तिरूप है। अतः वह अंश-रूप है। अघटनघटनापटीयसी गुणमयी प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूतज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता

---

१ कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्। ब्र० सू० २।३।२२। पर 'पारिजातसौरभ'।

है[1] (वेदांतरत्नमञ्जूषा पृ० २०–२३) । बद्ध जीव मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) तथा बुभुक्षु (विषयानंद का इच्छुक) भेद से दो प्रकार का है । मुक्त जीव भी नित्यमुक्त (अनंतादि भगवत्पार्षद) तथा मुक्तरूप से दो प्रकार का होता है ।

(२) अचित् चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं । यह तीन प्रकार का होता है[2] (१।१।१ पर वेदांतकौस्तुभ)—(१) 'प्राकृत'—महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत् । (२) 'अप्राकृत'—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्, जिसमें प्रकृति का संबंध किसी भी प्रकार से नहीं है जैसे भगवान् का लोक जिसकी श्रुतियों में 'परम व्योमन्' 'विष्णुपद' 'परमपद' आदि भिन्न भिन्न संज्ञायें हैं । (३) 'काल'—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है । जगत् के समस्त परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है । काल जगत् का नियामक होने पर भी परमेश्वर के लिये नियम्य ही है । काल अखंडरूप है । स्वरूप से वह नित्य है, परंतु कार्यरूप से अनित्य है । काल का कार्य औपाधिक है । इसके लिए सूर्य की परिभ्रमणरूप क्रिया उपाधि है ।

(३) **ईश्वर**—निंबार्क के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुणरूप से की गई है । वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित

---

१ अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्—दशश्लोकी २

२ अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम् ।
माया प्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ।
दशश्लोकी ३ ।

और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याणगुणों का निधान है[१]। इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है[२]। नियम्य तथा परतंत्र सत्त्वाश्रय चिदचिद्रूप विश्व ईश्वर के ऊपर अवलंबित होनेवाला है। परमात्मा को ही परब्रह्म, नारायण, भगवान् कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि संज्ञायें हैं। जीव और ब्रह्म में भेदाभेद संबंध स्वाभाविक और प्रत्येक दशा में नियत है। बद्धावस्था में व्यापक, अप्रच्युतस्वभाव तथा सर्वज्ञ ब्रह्म से अणु-परिणाम, अल्पज्ञ जीव के भिन्न होने पर भी वृक्ष से पत्र, प्रदीप से प्रभा, गुणी से गुण तथा प्राण से इन्द्रिय के समान पृथक् स्थिति और पृथक् प्रवृत्ति न होने के कारण वह उससे अभिन्न भी है। मोक्षदशा में भी इसी प्रकार ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी जीव स्वरूप की प्राप्ति करता है (स्वेन रूपेणाभि निष्पद्यते छा० ८।३।४) और अपने व्यक्तित्व को खो नहीं डालता। (१।४।२१ पर वेदांतकौस्तुभ)।

प्रपत्ति के द्वारा भगवदनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह से भगवान् के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति भगवत्साक्षात्कार को उत्पन्न करती है जिससे जीव भगवत्भावापन्न होकर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

---

१ स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥
—दशश्लोकी ४।

२ यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ५
—सिद्धान्तजाह्नवी पृ० ५३ पर उद्धृत।

शरीर संबंध रहने पर भगवद्भावापत्ति असंभव है। इसीलिए निंबार्कमत में भी जीवन्मुक्ति की कल्पना मान्य नहीं है ('दश-श्लोकी' के ६ पद्य पर वेदांतरत्नमजूषा)।

४—साधनतत्त्व

भक्तों के लिए भगवान् श्री कृष्णचंद्र की चरणसेवा छोड़ कर अन्य उपाय नहीं है। कृष्णचद्र ही परमेश्वर के रूप हैं जिनकी वंदना ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता किया करते हैं। उनकी शक्तियाँ अचिन्तनीय हैं जिनके बल पर वे भक्तों का क्लेश दूर कर देते हैं। कृष्ण ही परम उपास्य देवता हैं—

> नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
> संदृश्यते ब्रह्मशिवादि-वंदितात्।
> भक्तेच्छयोपात्त-सुचिन्त्य-विग्रहा—
> दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्।
>
> (दशश्लोकी, श्लोक ८)

तस्मात् कृष्ण एव परो देवः, तं ध्यायेत् तं रसेत् तं भजेत् तं यजेत् ओं तत् सदिति (दशश्लोकी टीका—हरिव्यास, पृ० ३६)

कृष्ण की प्राप्ति का साधन है—भक्ति, जो पाँच भावों से पूर्ण कही जाती है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। उज्ज्वल रस के भक्त हैं गोपी तथा राधा। वल्लभ तथा चैतन्य मत के अनुसार इस मत में उज्ज्वल अथवा मधुर भाव को उत्कृष्टता दी गई है। निंबार्क ने युगल उपासना के साथ भगवान् की माधुर्य तथा प्रेमशक्ति रूपा राधा की उपासना पर जोर दिया था, क्योंकि वे राधा में ही भक्तों की सफल कामनाओं के

पूर्ण करने की शक्ति मानते हैं।[1] निंबार्क मत से ही राधा की प्रधानता देनेवाले **राधावल्लभी** तथा **हरिदासी** मतों का उद्गम वृंदावन में संपन्न हुआ।

निंबार्कमत की साधना-पद्धति

इस मत में आराध्यदेव हैं सर्वेश्वर श्रीकृष्ण तथा उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं श्री राधा। राधा के स्वरूप का विवेचन इस संप्रदाय के शास्त्रीय ग्रंथों में विशेष रूप से किया गया है। श्री निंबार्काचार्य ने राधा जी को 'अनुरूप सौभगा' माना है अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। जैसे वे सर्वेश्वर हैं, वैसी राधिका भी सर्वेश्वरी हैं। संमोहन-तंत्र में इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि क्रीडा के निमित्त एक ही ब्रह्म से दंपतिभाव से दो विग्रह उत्पन्न हुए—राधा और कृष्ण (तस्मा-ज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधा-माधवरूपकम्)। पुराणों में लीलारूप से राधाकृष्ण का दांपत्यभाव अंगीकृत किया गया है, परंतु यह केवल समझाने के ही लिए है। वस्तुतः लौकिक दांपत्य से यह नितांत विलक्षण है। जैसे शक्ति और शक्तिमान् में अविनाभाव संबंध मान्य होता है वैसे ही राधा और कृष्ण में भी यह संबंध विद्यमान रहता है। भागवत के अध्ययन से भी कृष्ण का गोपियों के साथ आत्मा-आत्मीय भाव एवं बिंब-प्रतिबिंब भाव प्रकट

---

१ अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्ट-कामदाम्॥
(दशश्लोकी, श्लोक ५)

होता है[1]। प्रतिबिंब सदा बिंब के अधीन रहता है और उसे छोड़ कर वह एक क्षण के लिए भी पृथक् नहीं रहता। ऐसी दशा राधा की कृष्ण के साथ है। राधा तथा कृष्ण का अपृथक् सिद्ध संबंध है। राधा (आत्मा) और कृष्ण (आत्माराम) का यही तादात्म्य संबंध आचार्यों को यहाँ मान्य है।

श्रीभागवत से साक्षात् रूप से इस सिद्धांत का समर्थन होता है। भागवत का वचन 'अनपायिनी भगवतः श्रीः साक्षादात्मनो हरेः'—कृष्ण तथा श्री के अविनाभाव संबंध का सूचक है। श्री के दो रूप वेदों में कहे गये हैं[2]—श्री तथा लक्ष्मी। इनमें श्री का आविर्भाव वृषभानुकन्या राधा के रूप में हुआ था और लक्ष्मी का रुक्मिणी के रूप में। वैष्णवशास्त्र की मान्यता है कि भगवान् के रूप के साथ साथ श्री भी अपना नाना रूप ग्रहण किया करती हैं।[3] देवलोक में वह देवी के रूप में प्रकट होती हैं और मनुष्यलोक में मानुषी के रूप में। कृष्ण रूप के आविर्भाव के साथ श्री के भी इस मनुष्यलोकमें दो रूप हुए। इन दोनों में से राधिका ही श्रेष्ठ है। इस विषय में श्रुति तथा पुराणों के

---

१ रेमे रमेशो व्रजसुंदरीभिर्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिंब-विभ्रमः।
—भाग० १०।३३।३७

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावती-र्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥
—भाग० १०।३३।२०

२ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे। पुरुषसूक्त

३ देवत्वे देवदेहेयं मानुषत्वे तु मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपां च करोत्येवात्मनस्तनुम्॥

मतों में ऐकमत्य है। 'ऋक् परिशिष्ट' राधा और कृष्ण के अभेद का प्रतिपादन करता है तथा दोनों में भेद देखनेवाले साधक को मुक्ति का निषेध करता है—

राधया सहितो देवो माधवेन च राधिका।
योऽनयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति॥

ब्रह्म वैवर्त,[1] बृहद् गौतमीयतंत्र, ब्रह्मसंहिता, संमोहन तंत्र आदि समस्त ग्रंथों में इसी सिद्धांत का विस्तृत तथा स्पष्टतर प्रतिपादन हमें उपलब्ध होता है।

राधा का स्वकीयात्व—राधा के परकीयात्व की कल्पना केवल गौडीय वैष्णवों में ही मुख्यतया है। इस सिद्धांत के उद्भावक आलोचकों की दृष्टि में श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ही माने जाते हैं जिन्होंने 'उज्ज्वल नीलमणि' की टीका में इस मत का समर्थन किया है। प्राचीन आचार्य इस कल्पना के नितांत विरोधी हैं। श्री जीव गोस्वामी राधा के स्वकीयात्व के ही समर्थक हैं। 'राधाकृष्णार्चन दीपिका' में उनका स्पष्ट कथन है कि अवतार-लीला में जहाँ कहीं श्री राधा के परकीयात्व का आभास मिलता है, वह किसी रसविशेष के पोषणार्थ ही समझना चाहिए। निम्बार्क संप्रदाय के संस्कृत कवि (जयदेव) तथा कुछ भाषाकवि (श्री वृंदावन देवाचार्य आदि) का राधा का अभिसारवर्णन परकीयात्व का सूचक नहीं है, अपितु बाल्य-कालीन लीलापरक है जो सहज स्वकीया का ही हो सकता है। अतएव राधिका को कृष्ण की स्वकीया पटरानी मानना ही न्याय-

---

१ लक्ष्मीर्वाणी च तत्रैव जनिष्येते महामते।
वृषभानोस्तु तनया राधा श्रीर्भविता किल॥

श्रीवल्लभाचार्य

संगत है। राधिका कृष्ण की विवाहिता थीं। अवतार-लीला में राधा का विवाह ब्रह्मवैवर्त तथा गर्गसंहिता के प्रमाणों से सिद्ध है। राधा के लिए 'कुमारिका' शब्द का प्रयोग अवि-वाहिता-सूचक न होकर अवस्थासूचक है। उपासना शास्त्र में किशोरावस्था तक की ही अवस्थाओं के ध्यान आदि का विधान मिलता है। फलतः कुमारी का प्रयोग किशोरावस्था का सूचक है। निष्कर्ष यह है कि नित्यलीला में नित्य संबंध के सिद्ध होने पर विवाह की चर्चा ही नहीं उठती, परंतु अवतारलीला में राधिका की विवाहलीला ही शास्त्र-सिद्ध है। पुराणों में 'छाया राधिका' की कथा अवश्य मिलती है जिसे लौकिक दृष्टि से पर-कीया कह सकते हैं। अतः राधा के परकीयात्व के आभास वाले स्थानों पर 'छाया राधा' की बात माननी चाहिए; निम्बार्क का यही मत है।

भक्ति—भक्ति के विषय में निम्बार्क मत में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस मत में साधकों के लिए किसी विशेष भाव के स्वीकार पर आग्रह नहीं है। साधक की अभिरुचि के अनुसार वह दास्य, सख्य तथा माधुर्य को अपना कर अपनी साधना अग्रसर कर सकता है। इस मत में भक्ति, प्रपत्ति आदि का तो पर्याप्त विवरण उपलब्ध होता है, परंतु रसों का वर्णन नितांत स्वल्प तथा संक्षिप्त है। विक्रम की १५ वीं शती में होने वाले आचार्यों ने उसकी विशेष चर्चा की है। श्री हरि व्यासा-चार्य जी ने श्री निम्बार्ककृत 'वेदांत कामधेनु' (६ वें श्लोक) की सिद्धांत रत्नाञ्जलि टीका में शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य इन पाँचों रसों का सुंदर परंतु संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया है। माधुर्य रस की उत्तमता सिद्ध होने का यह अर्थ कथमपि नहीं है कि अन्य रस हेय दृष्टि से देखे जाते हैं।

साधना साधक के हृदय की व्यंजना है। उसके चित्त का रुझान जिस ओर है, वह भाव उसके लिए हितकर है तथा सद्यः लाभप्रद है। इस मनोवैज्ञानिक रहस्य से परिचित आचार्यों ने साधकों के लिए किसी भावविशेष पर अधिक आग्रह करने का अनौचित्य कभी नहीं दिखलाया है। इसी लिए श्रीभट्ट जी तथा श्री हरिव्यास देवाचार्य जी ने भी, जो माधुर्य रस के ही मान्य उपासक माने जाते हैं, वात्सल्यादि भावों का भी अनुसरण किया है। 'जुगल किशोर हमारे ठाकुर' में दास्यभाव की झलक है, तो 'भींजत कब देखौं इन नैना' पद में वात्सल्य भाव की मुख्यता है। युगल जोड़ी को गोद में लिये हुए बैठे श्रीभट्ट जी का चित्र भी आप की वात्सल्य भावना के अतिशय को अभिव्यक्त कर रहा है। श्री महावानी आदि भाषा ग्रंथों में सख्य भाव की इतनी अधिकता है कि साधारण व्यक्ति यही समझे बैठा है कि निंबार्क-मत में सख्य-भाव ही अपनाया गया है।

वास्तव में यह संप्रदाय प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका परा-भक्ति को ही साधनामार्ग में सर्वश्रेष्ठ मानता है। आचार्यों ने इस पराभक्ति का लक्षण भी बड़े ही सुंदर रूप से दिया है—रूपादिविषयक—इंद्रिय-वृत्तिवदनवच्छिन्नस्वाभाविक-भगवत्स्वरूप गुणादिविषयक-यावदात्मवृत्तिर्मनोवृत्तिः अर्थात् भगवान् के रूप, गुण आदि के विषय में समग्रचित्त को व्याप्त कर लेने वाली मनोवृत्ति उत्कृष्ट भक्ति है। ऐसी चित्तवृत्ति के अभ्युदय पर आग्रह है चाहे वह सख्यभाव से हो अथवा दास्य आदि किसी अन्य भाव से हो। निंबार्क मतानुयायी विद्वानों का कथन है कि मौलिक शास्त्रदृष्टि से गौड़ीय वैष्णवों की साधन-प्रणाली निंबार्कों से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह उससे अनेकांश में गृहीत है। पीछे से बलदेव विद्याभूषण तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ने

स्वतंत्रता की भावना से प्रेरित होकर नवीन तथ्यों को अपना कर कुछ अंतर करना आरंभ कर दिया, परंतु यहाँ भी माधुर्य भाव के साथ ही साथ अन्य भाव भी अपनाये गये हैं। संप्रति निंबार्क संप्रदाय में सख्य रसपूर्वक माधुर्य रस की ओर ही सांप्रदायिक साधकों का विशेष झुकाव है।

वैष्णवों में पाँच संस्कार मुख्य हैं—ताप[1], पुण्ड्र, माला, मन्त्र और याग जिनमें याग के भीतर ही भक्ति का अंतर्भाव माना जाता है। 'सिद्धांत रत्नांजलि' में भक्ति के नाना प्रभेदों का वर्णन उपलब्ध होता है जिसका ज्ञापक चित्र नीचे दिया जाता है:—

---

१ तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी ते पंञ्चसंस्काराः परमैकांति–हेतवः॥

योग
रति
भक्ति
विहिता
अविहिता
कायजा
द्वेषजा
भयजा
स्नेहजा
साधनरूपा
फलरूपा
ज्ञानांगरूपा
स्वतन्त्रमुक्तिदायिनी
सगुणा
निर्गुणा
ज्ञानमिश्रा
वैराग्यमिश्रा
कर्ममिश्रा
उत्तम
मध्यम
कनिष्ठ
उत्तम
मध्यम
कनिष्ठ
सात्विक
राजस
तामस
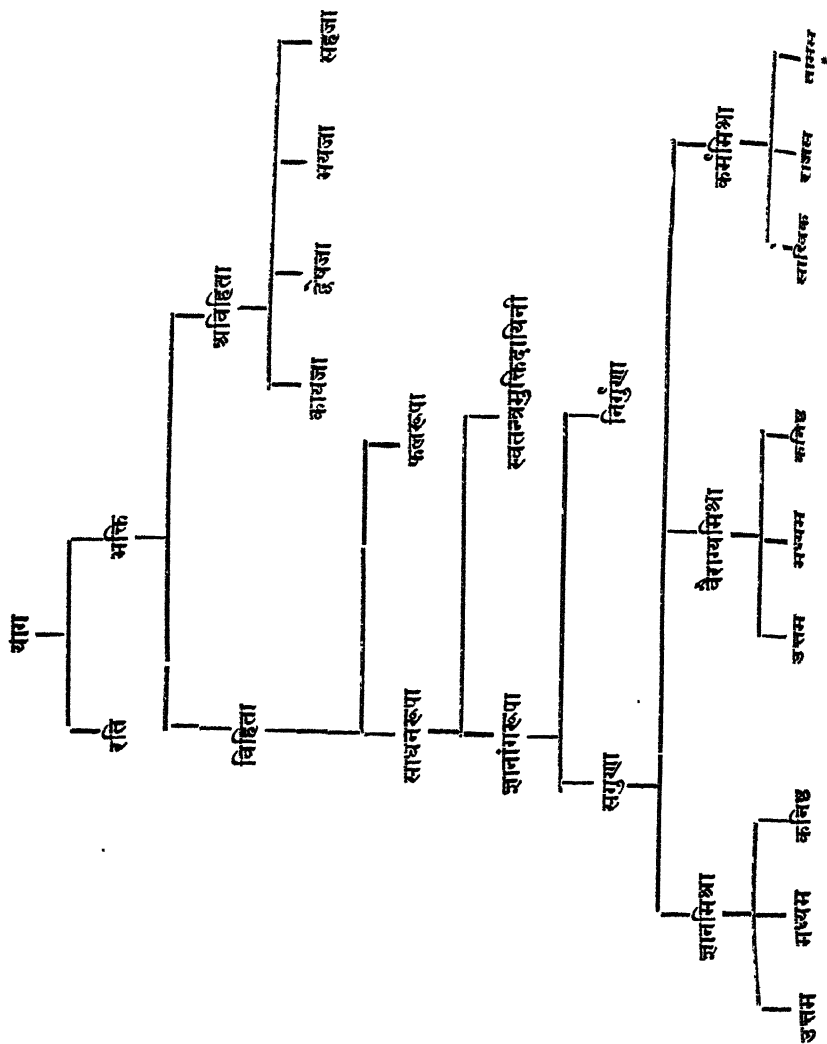
५—सखी संप्रदाय

वृंदावन का सखी संप्रदाय निंबार्क मत की ही एक अवांतर शाखा है। इस शाखा का उदय स्वामी हरिदास जी के नाम से संबद्ध है। स्वामी जी प्रथमतः निंबार्कमत के ही अनुयायी थे; परंतु भगवत्प्राप्ति के लिए गोपीभाव को एकमात्र उन्नत साधन मानकर उन्होंने इस स्वतंत्र मत की प्रतिष्ठा की। इस संप्रदाय को बड़े बड़े महात्माओं ने अपने जन्म से तथा कृतियों से अलंकृत किया था तथा व्रज-साहित्य का एक विशाल अंश हरिदासी वैष्णवों की भावुकता तथा भक्ति के विलास का सुपक्व फल है।

भक्त-सिंधु ग्रंथ के आधार पर मिस्टर ग्राउस ने इनका चरित्र यों लिखा है। हरिदासपुर के एक सनाढ्य ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था। वंशवृक्ष इस प्रकार है—ब्रह्मधीर—> ज्ञानधीर—>आशधीर—>हरिदास। आशधीर का विवाह वृंदावन के निकट राजपुर गाँव के निवासी गंगाधर की पुत्री से हुआ था। इनके जन्म संवत् के विषय में एकमत नहीं है। जन्मतिथि कोई भादो सुदी अष्टमी सं० १४४१ मानते हैं, तो कोई सं० १४८५। स्वभाव से ही विरक्त थे। पचीस वर्ष की अवस्था में ही गृहत्यागी बनकर वृंदावन में मानसरोवर पर पीछे निधुवन में रहते थे। वहीं पर उन्हें बाँकेबिहारी जी की मूर्ति मिली जिसका बहुत बड़ा मंदिर अबतक श्रीवृंदावन में विराजमान है[1]।

इस संप्रदाय के वैष्णवों ने वेदांत के किसी विशिष्ट वाद के प्रचार में अपना समय नहीं बिताया, प्रत्युत वृंदावनचंद्र की

---

१ द्रष्टव्य राधाकृष्णदास संपादित ध्रुवदासकृत 'भक्त नामावली' (सभा का संस्करण, १६०१ ई०, काशी) पृ० १४–१५।

सखी भाव से उपासना ही उनके साधन का एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार यह भक्ति संप्रदाय का एक साधनमार्ग है। इस संप्रदाय के विशेष प्रवर्तक थे स्वामी हरिदास जी। नाभादास जी ने स्वामी जी की भक्तिपद्धति के विषय में बड़े महत्त्व की बातें लिखी हैं। उनका कहना है—

आसधीर उद्योत कर 'रसिक' छाप हरिदास की।
जुगल नाम सौं नेम, जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत रहे केलि सुखी सुख को अधिकारी।
गान–कला–गन्धर्व स्याम–स्यामा कौं तोषैं।
उत्तम भोग लगाय, मोर मरकट तिमि पोषैं।
नृपति द्वार ठाढ़े रहैं, दर्सन आसा जास की।
आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की॥

यह छप्पय स्वामी जी की उदार मनोवृत्ति, उदात्त भक्ति-भावना तथा उन्नत कला-ज्ञान का पर्याप्त परिचायक है। स्वामीजी श्रीराधाकृष्ण के युगल रूप के उपासक थे तथा वे इनकी ललित लीलाओं का अवलोकन सखी भाव से किया करते थे तथा आनंद में मस्त रहते थे। वे गांधर्व विद्या में नितांत विचक्षण थे और संगीत के द्वारा वे श्यामा-श्याम को संतत संतुष्ट किया करते थे। उनकी कलावैदुषी की इतनी अधिक ख्याति थी कि राजा लोग भी उसके दर्शन की आशा हृदय में लिए दरवाजे पर खड़े रहते थे। नाभादास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। स्वामी हरिदास जी के ही शिष्य थे वह तानसेन जिनकी तान ने अकबर जैसे गुणग्राही बादशाह को भी अपना चेला बना रखा था।

अकबर भी स्वामी जी की ख्याति सुनकर उनसे मिलने आया था। इसी घटना की ओर नाभादास जी ने ऊपर संकेत भी किया है—

नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दर्शन आसा जास की

वह राजसी ठाठबाट को छोड़कर एक साधारण जिज्ञासु के समान तानसेन के साथ स्वामी जी के दर्शन के लिए वृंदावन में आया। ये सिवाय भगवान् के और किसी को अपना संगीत सुनाते ही न थे परंतु इनका गायन सुनने की लालसा से ही अकबर आया था। फलतः एक युक्ति रची गई। तानसेन जान बूझकर गाने में गलतियाँ करने लगा जिसे सुधारने के व्याज से हरिदास जी को शुद्ध संगीत सुनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। अकबर संगीत सुनकर इतना मुग्ध हुआ कि वह इनसे कुछ माँगने के लिए हठ करने लगा। निःस्पृहता की मूर्ति हरिदास जी को राजा तथा महाराजा से माँगने की आवश्यकता ही क्या थी? परंतु इधर था बादशाह का घोर आग्रह। इस पर उन्होंने यमुना जी के टूटे घाट की ओर इशारा करते हुए कहा कि इसे इसी प्रकार की मरम्मत करा दे यदि तुम्हारा सेवा करने का हठ ही है। अकबर के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने अपनी खुली आँखों से देखा कि घाट नीलम, पुखराज, मोती आदि अनुपम, असंख्य, अनमोल रत्नों से बना हुआ था। इन्हीं रत्नों से घाट की मरम्मत करना क्या था समूचे विशाल राज्य को बेंच कर भी उपहास्यास्पद बनना था। स्वामी जी के चरणों पर वह गिर पड़ा। उसे पता चल गया कि इस कलावंत के चोले में महनीय सिद्ध महात्मा की आत्मा विलास कर रही थी। इस सच्ची घटना से स्वामी हरिदास जी की गानविद्या में निपुणता

के साथ उनकी विरक्तता तथा निपट निःस्पृहता का परिचय आलोचकों को भली भाँति लग जाता है।

नाभादासजी ने हरिदास जी को 'आसधीर उद्योतकर' लिखा है। ये आसधीर कौन थे? सहचरिशरण जी की 'गुरुप्रणालिका' के अनुसार आसधीर जी स्वामी जी के गुरु थे—

आसधीर गम्भीर विप्र सारस्वत स्तुति पर।
जनम अलीगढ़ मध्य मधुर बानी प्रमोद कर।
गुरु अनुकूल अतूल कूल बन निधिबन माँहीं।
सत्तर लों तनु राखि साखि जगकी मित नाहीं॥

कहा जाना है कि ये आसधीर जी निंबार्क संप्रदाय के महात्मा हरिदेव जी के शिष्य थे। सत्तर वर्ष की आयु तक ये वृंदावन के 'निधिबन' नामक कुंज में भगवान् की पूजा में दत्तचित्त रहे।

स्वामीजी के विषय में सहचरि-शरणजी का वर्णन ध्यान-योग्य है।

श्रीस्वामी हरिदास रसिक-सिरमौर अनीहा।
द्विज सनाढ्य सिरताज सुजसु कहि सकत न जीहा॥
गुरु-अनुकंपा मिल्यो ललित निधिबन तमाल के।
सत्तरलौं तरु बैठि गनै गुन प्रिया लाल के॥

इससे स्वामी जी का सनाढ्य ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। ये अपने गुरु आसधर के साथ ही उसी निधिबन में निवास करते थे तथा ७० वर्ष की उम्र में इनका गोलोकवास होना जान पड़ता है। कतिपय लोग आसधीर को हरिदास जी का पिता भी मानते हैं, परंतु सहचरिशरण जी के कथन से विरुद्ध होने के कारण यह उचित नहीं जँचता। आसधीर सारस्वत

ब्राह्मण कहे जाते हैं, हरिदासजी सनाढ्य ब्राह्मण। पुत्र होने पर यह भेद कैसा ? संप्रदाय में स्वामी जी के ब्राह्मणवंश को लेकर आज भी विवाद चलता है। कोई सारस्वत मानता है, तो कोई सनाढ्य; परंतु यह विवाद निरर्थक तथा भ्रामक है। सिद्ध महात्माओं के विषय में इस प्रकार का वाग्जाल जल्पना ही है। आसधीर तथा हरिदास जी दोनों का जन्म अलीगढ़ के पास ही 'हरिदासपुर' नामक गाँव में हुआ था[1]। अकबर के समकालीन होने से स्वामी जी वल्लभाचार्य जी तथा अष्टछाप के कवियों के समसामयिक सिद्ध होते हैं। टट्टी संस्थान तथा उसकी गद्दी वर्तमान काल में व्रज में प्रचलित है।

स्वामी हरिदास की पदावली सिद्धांत तथा विहार दोनों के विषय में मिलती है। विहारविषयक पदावली 'केलिमाला' के नाम से विख्यात है। इनकी कविता में बाहरी शाब्दिक आकर्षण का अभाव भले हो, परंतु वह अंतरंग भावभंगी से नितांत स्निग्ध तथा संपुटित है। तथ्य यह है कि हरिदासजी की पदावली गाने की वस्तु है, पढ़ने की चीज नहीं। इसीलिए साधारण रीति से पढ़ते समय उसमें पिंगल की त्रुटि लक्षित होती है। ऐसे सिद्ध महात्मा की रसपेशल बानी का एक दो नमूना देखिए—

कल्याण

प्रेमसमुद्र रूपरस गहिरे, कैसें लागे घाट।
बेकार्‌यौ दै जानि कहावत, जातिपनों की कहा परी बाट॥
काहू कौ सर पर्‌यौ न सूधो, मारत गाल गली-गली हाट।
कह 'हरिदास' बिहारिहिं जानौ, तकौ न औघट घाट॥

---

१ गुप्तः अष्टछाप पृ० ६६।

यह पद ज्ञान की व्यर्थता तथा अनुपादेयता का सूचक है। गंभीर प्रेम-समुद्र के पार जाने के लिए ज्ञान एक बेकार उपाय है। ज्ञान (जानिपनों) में पार लगाने की क्षमता कहाँ? गली गली में गाल बजाते भले रहिए, अहंकार से युक्त किसी अभिमानी का पुरुषार्थ क्या कभी सफल हुआ है? स्वामी जी का अंतिम उपदेश है—बिहारी जी को जानो, कृष्ण की भक्ति में अपने को निछावर कर दो। मार्ग कुमार्ग को मत ताको। पार जाने की यही समर्थ नौका है—बिहारी जी की प्रेमानुगा भक्ति।

'केलिमाला' के इस कमनीय पद में श्री राधाकृष्ण की एकरूपता का कितना सुचारु चित्र खींचा गया है—

'प्यारी जैसे तेरी आँखिन में हौं अपनपौ
देखत, तैसे तुम देखति हौ किधौं नाहीं'।
'हौं, तोसौं कहौं प्यारे, आँखि मूँदि
रहौं, लाल निकसि कहाँ जाहीं'।
'मोकौं निकसिबे को ठौर बताऔ,
साँची कहौं, बलि जाऊँ, लागौं पाहीं'।
श्रीहरिदास के स्वामी श्यामा,
तुमहिं देखत चाहत और सुख लागत नाहीं।

आनंदकन्द की एक भव्य झाँकी लिखिए—

आज तृन टूटत है री, ललित त्रिभंगी पर।
चरन चरन पर, मुरलि अधर पर,
चितवनि बंक छबीली भुव पर।
चलहु न बेगि राधिका पिय पै
जो भई चाहति हौ सर्वोपर।

श्रीहरिदास समय जब नीको,
हिलि-मिलि केलि अटल रति ध्रू पर ॥

स्वामी हरिदास जी के 'टट्टी संस्थान' के भक्त महात्माओं ने अपनी रचनाओं से वृजभाषा के साहित्य का जो श्रृंगार किया है वह देखने की वस्तु है। उसके लिए चाहिए रस से स्निग्ध हृदय तथा भक्ति से पूरित भावुक विलोचन। सखीभाव की उपासना माधुर्य का भंडार है, प्रेम का आगार है तथा मधुर रस का भाण्डागार है।

स्वामी जी के प्रधान शिष्य हुए उनके मामा विट्ठल विपुल और तब से 'टट्टी संस्थान' के वैष्णवों की परंपरा आरंभ होकर वर्तमान काल तक विद्यमान है। इस गद्दी की परंपरा निम्नलिखित प्रकार से है[1]:—

१ श्री स्वामी हरिदास जी
|
२ श्री विट्ठल विपुल जी
|
३ श्री बिहारनि देव जी
|
४ श्री सरसदेव जी
|
५ श्री नरहरिदेव जी
|
६ श्री रसिकदेव जी
|
७ श्री ललितकिशोरी जी
|
८ श्री ललितमोहिनी जी

---

१ द्रष्टव्य वियोगी हरि—व्रजमाधुरी सार पृष्ठ ३८३।

९ श्री चतुरदास जी (भगवत रसिक जी इनके गुरु भाई थे)

१० श्री ठाकुरदास जी

११ श्री राधिकादास जी

१२ श्री सखीशरण (=सहचरिशरण)

१३ श्री राधाप्रसाद जी

१४ श्री भगवान्दास जी (वर्तमान महंत)

भगवत रसिक

इन महात्मा का जन्म संवत् १७९५ (=१७३८ ई०) में सागर जिले के गढ़कोटा स्थान में हुआ था। टट्टी संप्रदाय के अष्टाचार्यों में से सबसे अंतिम आचार्य थे श्री ललित मोहिनी जी और इन्हीं के शिष्य भगवत रसिक जी थे। ये आरंभ में गणेश जी के उपासक थे। इनकी एकांत निष्ठा तथा अनन्य उपासना से प्रसन्न होकर गणेश जी प्रत्यक्ष हुए और श्रीकृष्ण भगवान् की प्रेमलक्षणा भक्ति 'सखीभाव' से करने के लिए उपदेश दिया। इसकी सूचना इस पद में मिलती है—

हमैं बर गुरु गनेस ह्वै दीनों।
जल भरि सूँड फिराय सीस पर संसकार सुभ कीनों।
आनँदघन को पद दरसायो, दम्पति - रति - रस भीनों
'भगवतरसिक' लड़ैती-लालन ललित भुजन भरि लीनों॥

श्री ललित मोहिनी जी के परलोक सिधारने पर भक्त महानुभावों के अत्यंत आग्रह करने पर भी इन्होंने गद्दी का अधिकार नहीं लिया। ये जन्मभर निर्लिप्त भाव से श्री जी की सेवा में लगे रहे। इनकी रचनाओं में एक ओर तो वैराग्य का भाव भरा है और दूसरी ओर अनन्य प्रेम-रस छलकता है। इसीलिए सखी संप्रदाय के भक्त भावुक महाकवियों में उनका आसन श्रेष्ठ माना जाता है। इनकी पाँच रचनायें बतलाई जाती हैं—(१) अनन्यनिश्चयात्मक, (२) श्री नित्य विहारी युगल ध्यान, (३) अनन्य रसिकाभरण, (४) निश्चयात्मक ग्रंथ उत्तरार्ध, (५) निर्बोध मनरंजन। इनका संग्रह 'भगवत रसिक की बानी' के नाम से वर्तमान महंथ ने प्रकाशित किया है।

'रसिक' की परिभाषा कितनी सुंदर है—

> जीव ईस मिलि दोय, नाम रूप गुन परिहरै।
> रसिक कहावै सोय, ज्यों जल घोरैं सर्करा॥
> दिया कहैं सब कोय, तेल - तूल - पावक मिलै।
> तमहि नसावै सोय, वस्तु मिलैं भगवत रसिक॥

ये सचमुच श्री रसिक-शिरोमणि के सच्चे रसिक भक्त थे। इसीलिए इनकी अनुभूतियों में प्रेम की तल्लीनता का यथार्थ चित्रण हमें मिलता है। श्रीकृष्ण के मुखचंद्र की ओर भक्त के नयनचकोर कितनी तन्मयता से लगे हुए हैं, इसका सरस वर्णन इस कमनीय पद में मधुर शब्दों में विन्यस्त किया गया है—

> तव मुख - कमल नयन अलि मेरे।
> पलक न लगत पलकु बिनु देखे
> अरबरात अति फिरत न फेरे।

पान करत मकरन्द रूप रस
भूल नहीं फिर इत - उत हेरे।
भगवत रसिक भये मतवारे;
घूमत रहत छके मद तेरे ॥

सखी संप्रदाय की निजी उपासना के विषय में इनका कथन है—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगल मंत्र कौ जाप।
जुगल मंत्र कौ जाप, वेद रसिकन की बानी।
श्री वृंदावन धाम, इष्ट स्यामा महरानी।
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होइ न कारज।
'भगवत' सब सुखदानि, प्रगट भे रसिकाचारज ॥

भगवान् श्री व्रजनंदन के मुखचंद्र में अनुरक्त नयनचकोरों की दशा निरखने ही योग्य है—

तुव मुख चंद चकोर ये नैना।
अति आरतु अनुरागी लम्पट,
भूल गई गति पलहुँ लगै ना।
अरबरात मिलिबे कौ निसुदिन
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवत रसिक' रसिक की बातैं
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना ॥

अतृप्ति ही अभिलाषा की सच्ची पहचान है। भक्त के नेत्र दिन रात रहते तो सामने ही हैं, परंतु प्रेम की तृप्ति न होने के कारण सदा यही शका बनी रहती है कि अभी मिले हैं या नहीं।

अंतिम चरण रसिक जी ने अपने आलोचक की ओर संकेत किया है कि रसिक ही उनकी बानी का रस ले सकता है।

सहचरिशरण—ये भी अपने समय के ख्यातनामा महात्मा थे। इनका दूसरा नाम था सखीशरण। संप्रदाय के ११ वें आचार्य श्री राधिकादासजी के शिष्य तथा उत्तराधिकारी थे। समय १६ वि० शती का उत्तरार्द्ध। फुटकर पदों के अतिरिक्त इन्होंने दो स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं—(१) ललित प्रकाश; (२) सरसमंजावली। इनमें ललित प्रकाश में टट्टी संप्रदाय के वैष्णवों के चरित, सिद्धांत तथा उत्सव आदि आवश्यक विषयों का प्रामाणिक वर्णन है। 'ललित प्रकाश' के गुरु प्रणालिका अंश में संप्रदाय के अष्टाचार्यों का (स्वामी हरिदास जी से लेकर श्री ललित मोहिनीजी तक) सुंदर वर्णन है तथा 'आचार्योत्सव' में आचार्यों के चरित, जन्म तथा मरण तिथि आदि ऐतिहासिक विषयों का सुंदर समावेश है। इस प्रकार यह ग्रंथ संप्रदाय तथा इतिहास उभय दृष्टियों से उपादेय तथा ग्राह्य है। इनकी कविता व्रजमाधुरी से मत्त भक्त का मार्मिक हृदयोद्गार है जिसमें बाह्य आडंबर के घटाटोप का सर्वथा बहिष्कार कर हृदयसंवेद्य भावों का चारु चित्रण है।

पीर को हटानेवाले साँवलिया वैद्य की ओर कितना मधुर संकेत है सहचरिशरणजी के इस पद्य में—

> उर में घाव, रूप सों सैंके, हित की सेज बिछावैं।
> दृग डोरे सुइयाँ वर वरुनी टाँके ठीक लगावैं।
> मधुर सचिक्कन अंग-अंग छबि हलुआ सरस खवावैं।
> स्याम तबीब इलाज करै जब तब घायल सचुपावैं॥

प्रेम के घायल के आराम पाने की व्यवस्था हमारा भक्तकवि यहाँ कर रहा है। जब श्यामसुंदर स्वयं वैद्य बनकर घायल का इलाज करेंगे तभी वह आराम पा सकता है। हृदय के घाव को रूप की आग से सेकें, प्रेम की सेज लेटने के लिए बिछाई जाय, चिकने अंगों की छबि-रूपी मीठा हलुआ खिलाया जाय; तभी रोगी को आराम पहुँच सकता है, अन्यथा नहीं। यह पद्य 'मीरा की तब पीर मिटैगी, जब वैद साँवलिया होय' का मार्मिक भाष्य प्रतीत होता है। क्या ही सुंदर व्यवस्था की गई है घायल प्रेमी को आराम पहुँचाने की !!!

जीवनलद्य की यह सरस विवेचना कितनी तथ्य तथा यथार्थ है—

मय अमलादि पिया न पिया, सुख प्रेम पियूष पिया रे।
नाम अनेक लिया न लिया, रति स्यामा स्याम लिया रे।
आन सुदान दिया न दिया, वर आनँद हुलसि दिया रे।
जप जग्यादि किया न किया, हिय पर-उपकार किया रे॥

ठीक है। सच्चा दान केवल बाहरी वस्तुओं का दान नहीं है, बल्कि हृदय में आनंद का दान है और जप यज्ञ का विधान ही सच्ची क्रिया नहीं है, प्रत्युत परोपकार ही सर्वोत्तम दान है।[1]

इसी प्रकार इस संप्रदाय के अन्य महात्माओं ने व्रज साहित्य के भंडार को अपनी कमनीय कृतियों से पूर्ण तथा सरस बनाया है।

—०—

१ इनकी अन्य कविताओं के लिए द्रष्टव्य वियोगी हरि—व्रजमाधुरी-सार, पृ० ३८२—३९५ (तृतीय संस्करण, १९९६ वि०, प्रयाग)

(८)

श्री वल्लभ मत

(पुष्टिमार्ग)

(१) विष्णु स्वामी का परिचय
(२) आचार्यों का विवरण
(३) पुष्टिमार्ग का सिद्धांत
(४) पुष्टि-भक्ति
(५) पुष्टिमार्गीय साहित्य
(६) अष्टछाप

निर्दोष-पूर्ण-गुण-विग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीर-गुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादिः
सर्वत्र च त्रिविध-भेद-विवर्जितात्मा ।

—वल्लभाचार्य

रुद्र-संप्रदाय

वृंदावन की पुण्य-भूमि में पनपनेवाला दूसरा वैष्णव संप्रदाय है आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैती संप्रदाय जिसने उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा गुजरात प्रांत को कृष्ण भक्ति की पावन धारा से आप्यायित तथा आप्लावित कर दिया था। भारत की विख्यात वैष्णव संप्रदाय-चतुष्टयी में वल्लभ संप्रदाय रुद्र संप्रदाय के नाम से विख्यात है। इस संप्रदाय के मुख्य प्रवर्तक थे विष्णु स्वामी तथा इसके मध्ययुगी प्रतिनिधि थे आचार्य वल्लभ जिन्होंने विष्णु स्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर आरूढ़ होकर उनके सिद्धांत का प्रचार किया। अतः वल्लभाचार्य के व्यक्तित्व से परिचय पाने से पहिले विष्णुस्वामी का परिचय नितांत आवश्यक है।

१—विष्णुस्वामी का परिचय

भारत के धार्मिक इतिहास में विष्णुस्वामी स्वयं एक विकट समस्या हैं जिसका उचित प्रमाणों के आधार पर अभी तक यथार्थ समाधान नहीं हो पाया है। उनका व्यक्तित्व तथा ऐतिहासिक अस्तित्व अज्ञान की गहन तमिस्रा में अभी तक अज्ञात पड़ा हुआ है। विष्णुस्वामी के देश तथा काल की यथार्थ विवेचना अभी तक नहीं हो पाई है। अनुमान की निर्बल भित्ति पर उनका परिचय अवश्य खड़ा किया गया है, परंतु यह परिचय कल्पना के आवरण को भेद कर सत्यता की भूमि पर नहीं आ

सका है। वैष्णव संप्रदाय में प्रसिद्धि है कि विष्णुस्वामी द्रविड़ देश के किसी क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण मंत्री के सुपुत्र थे। बालकपन से ही उनकी चित्तवृत्ति अध्यात्म की ओर लगी थी। उन्होंने उपनिषदों का केवल पारायण ही नहीं किया था, बल्कि उनमें वर्णित तथ्यों को अपने व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करने की उनकी दृढ़ अभिलाषा थी। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।४) में वर्णित अंतर्यामी भगवान् के साक्षात्कार करने की उनके हृदय में बड़ी इच्छा थी। उपासना के सफल न होने पर उन्होंने अन्न-जल का ग्रहण करना छोड़ दिया। सातवें दिन उनका हृदय दिव्य ज्योति से भर गया और किशोरमूर्ति वेणुवादन-तत्पर शृंगारशिरोमणि श्री श्यामसुंदर के दर्शन का अलभ्य लाभ उन्हें प्राप्त हुआ। बालकृष्ण ने स्वयं उन्हें उपदेश दिया कि 'मेरे ही दोनों रूप हैं। निराकार रूप में होने पर भी भक्तों की रक्षा तथा अपनी लीला के आस्वादन के निमित्त साकार रूप ग्रहण करता हूँ। भक्ति मेरी प्राप्ति का सबसे सुलभ तथा सुगम उपाय है।' विष्णुस्वामी की उपासना फलवती हुए। उन्होंने भगवान् श्री कृष्ण की बालमूर्ति का निर्माण करा कर प्रतिष्ठा की तथा अपने अनुयायियों को भक्ति की विमल साधना का उपदेश दिया। इस मत के सात सौ आचार्यों की बात सुनी जाती है जिनमें आचार्य बिल्वमंगल एक महनीय उपदेशक थे। जिस युग में शंकर तथा कुमारिल ने ज्ञान तथा कर्मकाण्ड की महत्ता प्रतिपादित कर भारतीय धर्म का पुनरुद्धार किया, उसी काल में बिल्वमंगल ने भक्ति के द्वारा मोक्षोपलब्धि के तथ्य का विपुल प्रचार किया। विष्णु स्वामी का समय युधिष्ठिर से साढ़े दो हजार वर्ष पीछे (अर्थात् विक्रम पूर्व पंचक शती) में वैष्णव लोग मानते हैं तथा बिल्वमंगल का अष्टम शती में। बिल्वमंगल आचार्य ने स्वप्न में

वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की शरण में आने का उपदेश दिया जब वे उपदेश की कामना से साशंकचित्त हो रहे थे[1]।

नाभादास जी के इस प्रसिद्ध छप्पय के आधार पर कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी की जा सकती है—

नाम तिलोचन शिष्य, सूर ससि सदम उजागर।
गिरा गंग—उनहारि काव्यरचना प्रेमाकर॥
आचारज हरिदास अतुलबल आनँद दाइन।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पधित पराइन।
नवधा प्रधान सेवा सुहृद मन वच क्रम हरिचरण रति।
विष्णु स्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति॥

(छप्पय ४८)

इस संप्रदाय में त्रिलोचन, नामदेव तथा ज्ञानदेव आदि विख्यात संत पैदा हुए थे तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्धाद्वैतमूलक पुष्टिमार्ग चलाया। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वशाली है। ज्ञानदेव (१२७५ ई०—१२९६ ई०) तो महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत हैं जिन्होंने गीता के ऊपर अपनी ज्ञानेश्वरी १२१२ शक सं० में लिखकर मराठी साहित्य का ही प्रारंभ नहीं किया, प्रत्युत अध्यात्मतत्त्व के जिज्ञासुओं के सामने एक महनीय ग्रंथ प्रस्तुत किया। अतः नाभाजी की मान्यता के अनुसार विष्णुस्वामी का समय ईस्वी की तेरहवीं सदी से प्राचीन होना चाहिए। कुछ विद्वान् वेदभाष्य के कर्ता आचार्य सायण तथा माधवाचार्य के विद्यागुरु विद्या-

---

१ संप्रदाय प्रदीप पृ० १४, ३०।

शंकर को ही विष्णु स्वामी मानते हैं[१], परंतु यह कथन काल-दृष्टि से नाभाजी के पूर्वोक्त कथन से मेल नहीं खाता। सायणाचार्य का समय चतुर्दश शतक का मध्यभाग है। अतः उनके गुरु के समय १४ शतक का आरंभ काल या १३ शतक का अंतिम काल हो सकता है। नाभाजी उन्हें ज्ञानदेव से पूर्ववर्ती मानते हैं। विद्याशंकर तथा विष्णुस्वामी की अभिन्नता प्रमाणों से पुष्ट नहीं की जा सकती। नाभाजी का ग्रंथ केवल अनुश्रुतियों के ऊपर आधारित होने से पूर्णतया प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

विष्णुस्वामी का काल निर्णय करते समय स्वर्गीय डा० रामकृष्ण भंडारकर ने पूर्वोल्लिखित नाभाजी के छप्पय के आधार पर इनका समय १३ वें शतक का आरंभ काल माना है, परंतु नाभादास जी के भक्तमाल को पूर्णतया ऐतिहासिक मानना कथमपि उचित न होगा। इस ग्रंथ में इतिहास तथा अनुश्रुति का विचित्र मिश्रण है। विशेषकर जब ज्ञानदेव विष्णुस्वामी को अपना गुरु न मानकर नाथपंथ से अपना नाता जोड़ते हैं, तब नाभादासजी का विश्वास कैसे किया जाय?

विष्णुस्वामीकी अनेक रचनायें बतलाई जाती हैं, परंतु इनमें 'सर्वज्ञसूक्त' ही एकमात्र ऐसी रचना है जो प्रमाण कोटि में अंगीकृत की गई है। श्रीधर स्वामी ने इस ग्रंथ का अत्यधिक उपयोग अपनी रचनाओं में किया है। श्रीधरी टीका में विष्णुस्वामी के कतिपय सिद्धांतोंका भी आभास मिलता है। विष्णुस्वामीके ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप हैं तथा वे अपनी 'ह्लादिनी संवित्' के द्वारा आश्लिष्ट हैं तथा माया उन्हीं के अधीन रहती है। ईश्वर का प्रधान अवतार नृसिंह रूप बतलाया गया है। कुछ लोग विष्णु

---

१ गौडीय दशम खंड पृ० ६२४, ६२६। गुप्त—अष्टछाप पृ० ४१

स्वामी को नृसिंह तथा गोपाल दोनों का उपासक मानते हैं। श्रीधर स्वामी नृसिंह के उपासक थे, इसका परिचय हमें भागवत की श्रीधरी टीका से भली भाँति लगता है। ऐसी दशा में श्रीधर स्वामी को विष्णुस्वामी मत के अनुयायी मानने में विशेष विप्रतिपत्ति न होनी चाहिए।

विष्णुस्वामी की समस्या सुलझाने के अभिप्राय से अनेक लोगों ने अनेक विष्णुस्वामी की कल्पना की है, परंतु इससे समस्या उलझती ही गई है। कतिपय आलोचकों की सम्मति में कम से कम तीन विष्णुस्वामी का उल्लेख मिलता है— (१) **देवतनु विष्णुस्वामी** (३०० ई० पू०) मथुरा में रहते थे। पिता का नाम था देवेश्वर भट्ट। इन स्वामी जी के सात सौ वैष्णव त्रिदंडी संन्यासी इस मत का प्रचार करते थे। (२) काञ्चीनिवासी **राजगोपाल विष्णुस्वामी** (जन्म ८३० ई०) जिन्होंने विष्णुकाञ्ची में राजगोपाल देवजी अथवा वरदराज जी की प्रसिद्ध मूर्ति की स्थापना की। बिल्वमंगल इन्हीं के शिष्य थे। (३) विष्णु स्वामी—वल्लभाचार्य के उपदेष्टा पूर्वपुरुष। अतः यह निर्णय करना अत्यंत कठिन है कि विष्णुस्वामी की स्थिति किस काल में हुई।

त्रिलोचन

नाभादास जी के छप्पय में उल्लिखित त्रिलोचन नामक संत का विशेष परिचय नहीं मिलता। नामदेव के समान ये भी महाराष्ट्र के प्रख्यात संतों में अन्यतम थे; इसका परिचय हमें गुरुग्रंथ साहब (संकलन काल १६०४ ई०) में संकलित उनके अनेक पदों की भाषा से अच्छी तरह लगता है। ग्रंथ साहब में इनके कुछ

पद उद्धृत मिलते हैं जिससे इनकी विपुल ख्याति तथा लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

> अंतरु मलि निरमलु नहिं कीन्हा बाहरि भेख उदासी।
> हिरदै कमलु घटि ब्रहमु न चीन्हा काहे भइआ संन्यासी ॥
> भरमै भूली रे गै चंदा।
> नही नही चिन्हिआ परमानन्दा।
> घरि घरि खाइआ पिंडु बधाइआ खिथा मुंदा माइआ।
> भूमि मसाण की भसम लगाई गुर बिनु ततु नहि पाइआ ॥
> काइ जपहु रे, काइ तपहु रे, काइ बिलोवहु पाणी।
> लख चउरासीह जिनि उपाई सो सुमरहु निरवाणी ॥
> काइ कमंडलु कापड़ीआरे अठसठि काइ फिराही।
> वदति त्रिलोचनु सुनु रे प्राणी कण विनु गाहु कि पाही[1] ॥

इस पद में बाह्य आडंबर की निंदा कर हृदय के धोने तथा निर्मल बनाने का उपदेश है। ढंग वही निर्गुनिया संतों का ही है। एक अन्यपद में (पृष्ठ ६९४) त्रिलोचन उन गँवार मानवों की निंदा करते हैं जो अपने बुरे कर्मों के फल चखते समय नारायण की निंदा किया करते हैं। वे नहीं जानते कि मनुष्य अपने भविष्य का स्वयं उत्तरदायी है। शोभन कर्मों का फल नितांत शोभन होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा ही होता है। इस पदकी भाषा मराठी है जो पंजाबी गुरुओं की कृपा से नितांत विकृत बन गई है, परंतु उसका मराठीपन आज भी शेष है। पद की एक टुकड़ी ही इस मराठीपन को सिद्ध कर रही है—

---

१ श्रीगुरु ग्रंथ साहिब, प्रकाशक सर्वहिंद सिक्ख मिशन, अमृतसर, सन् १९३७। पृ० ५२५—५२६।

दार्थाले लंकागढु उपाडीले रावण बणु
सलि विमल्लि आणि तोर्म्वाले हरि।
करम करि कछउटी मफीटलि (?) री॥

नाभादास के छप्पय से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विष्णुस्वामी दक्षिण भारत के, विशेषत महाराष्ट्र प्रांत के ही मान्य आचार्य थे जिनकी शिष्य परंपरा में नामदेव, त्रिलोचन तथा ज्ञानदेव जैसे महाराष्ट्र संत दीक्षित थे। परंतु नामदेव और त्रिलोचन तो निर्गुण मतानुयायी संत थे और विष्णुस्वामी सगुणोपासक आचार्य थे। ऐसी दशा में उन दोनों के साक्षात् शिष्य होने की बात तो समझ में नहीं आती। उनके सिद्धांतों का प्रभाव अनुमान-सिद्ध हो सकता है। नामदेव का व्यापक कार्य महाराष्ट्र तक ही सीमित न होकर उत्तरीय भारत में भी, विशेषतः पंजाब में भी फैला था। कुछ लोग इसीलिए अनेक नामदेवों की कल्पना करते हैं। जो कुछ भी तथ्य हो, बारकरी संप्रदाय वाले महाराष्ट्रदेशीय नामदेव के गुरु तो विसोबा खेचर नामक एक तद्देशीय ही संत थे। मालूम नहीं नाभादास ने किस आधार पर इन्हें विष्णुस्वामी के संप्रदाय के अंतर्भुक्त बताया है। नाभादास के इस उल्लेख से विष्णुस्वामी के व्यक्तित्व तथा ऐतिहासिक परिचय का विशेष पता नहीं चलता।

(२)

श्रीवल्लभाचार्य

श्री आचार्य-चरण के विस्तृत जीवनचरित तथा उनके साक्षात् शिष्यों का परिचय हमें इस संप्रदाय की नाना पुस्तकों से

मिलता है। श्रीवल्लभाचार्य का जन्म १५३५ सं० में वैशाख कृष्णा एकादशी को मध्य प्रांत के रायपुर जिला के चंपारन नामक स्थान में हुआ। इनके पिता माता तैलंग ब्राह्मण थे जिनके नाम थे लक्ष्मण भट्ट और एल्लमागारु। लक्ष्मण भट्ट काशी में ही हनुमान घाट पर रहते थे, परंतु यवनों के आक्रमण की आशंका से काशी छोड़ कर दक्षिण जा रहे थे, तभी रास्ते में यह घटना घटी। वल्लभ के समस्त संस्कार, शिक्षा दीक्षा, पठन-पाठन काशी में ही हुआ। गोपाल कृष्ण इनके उपास्य कुल-देवता थे। फलतः विद्यावृद्धि के साथ साथ इनकी आध्यात्मिकता में भी वृद्धि हुई और इन्होंने श्री मद्भागवत के आधार पर एक नवीन भक्ति संप्रदाय का जन्म दिया जो 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। दार्शनिक जगत् में इनका मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके जीवन की घटनायें काशी, अड़ैल (प्रयाग के यमुना पार का एक गाँव) तथा वृंदावन में घटित हुईं। राजनैतिक पुरुषों के ऊपर भी इनका व्यापक प्रभाव बतलाया जाता है। दिल्ली के बादशाह अकबर ने इनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी की तपस्या तथा आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर कालांतर में गोकुल तथा गोवर्धन की भूमि इन्हें दे दी जहाँ संप्रदाय के अंतर्गत अनेक मंदिरों का निर्माण किया गया। वल्लभाचार्य की मंत्रसिद्धि से तत्कालीन दिल्ली बादशाह सिकंदर लोदी इतना प्रभावित हुआ था कि उसने वैष्णव संप्रदाय के साथ किसी प्रकार के जोर-जुल्म न करने की मुनादी फिरवा दी थी।

वल्लभाचार्य के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वशालिनी घटना विजयनगर के महाराजा कृष्णदेव राय के द्वारा विहित 'कनकाभिषेक' है। वल्लभ ने कृष्णदेवराय की विशाल सभा में उपस्थित नास्तिकों को परास्त कर मायावाद का भी प्रामाणिक खंडन

किया था। यह सभा मध्वमतके आचार्य व्यासरायके सभापतित्व में हुई थी। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत का प्रतिष्ठापन श्रुतियों तथा युक्तियों के सहारे इतनी सुंदरता के साथ किया कि विद्वानों को इनका गंभीर पांडित्य स्वीकार करना पड़ा और महाराज ने भी 'कनकाभिषेक' के द्वारा इनका विशेष सत्कार किया। इन्होंने भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा अनेक बार की तथा अपने मत का प्रचार किया। व्रज में भी इस प्रसंग में थे पधारे (सं० १५४६ =१४९२ ई०) तथा अंबाले के एक धनी सेठ पूरनमल खत्री ने श्रीनाथजी का एक मंदिर (१५७६ वि० = १५०० ई०) बनवा दिया। यहीं रहकर आचार्य जी ने पुष्टिमार्ग की अर्चा तथा सेवा विधि की पूर्ण व्यवस्था की। ५२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने काशीधाम में ही अपना शरीर त्याग किया (१५८७ वि०= १५३० ई०)

आचार्य चरण ने शुद्धाद्वैत सिद्धांत के प्रकाशन के लिए अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों का निर्माण संस्कृत में किया जिनमें मुख्य हैं— (१) अणुभाष्य–ब्रह्मसूत्र पर भाष्य केवल अढ़ाई अध्यायों पर (२) पूर्व मीमांसा भाष्य, (३) तत्त्वदीप निबंध— (शास्त्रार्थ, सर्व-निर्णय तथा भागवतार्थ प्रकरण और उनकी टीका)। (४) सुबोधिनी—(श्री मद्भागवत की आध्यात्मिक भावापन्न गंभीर टीका और कारिकायें जो केवल प्रथम, द्वितीय तृतीय, दशम तथा एकादश स्कंधों पर ही उपलब्ध होती है) (५) षोडशग्रंथ—सिद्धांत विवेचक १६ प्रकीर्ण ग्रंथ। इनके अतिरिक्त श्रुतिगीता, गायत्रीभाष्य, भगवत्पीठिका, शिक्षाश्लोक सेवाविवरण भी इनके अन्य ग्रंथ हैं।

श्री विठ्ठलनाथ गुसाईं जी—(१५७२ सं०—१६४२ सं०) आप आचार्य जी के छोटे पुत्र थे, परंतु जेठे पुत्र गोपीनाथजी

के अकाल में ही कालकवलित होने पर गद्दी के अधिकारी हुए। इनका भी बाल्य जीवन काशी, चुनार तथा अडेल में ही व्यतीत हुआ और यहीं इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। पुष्टिसंप्रदाय की वृद्धि, विस्तार तथा व्यवस्था का सब श्रेय इन्हीं को है। ये बड़े ही विद्वान् तथा आध्यात्मिक व्यक्ति थे। फलतः अकबर से तथा इनके प्रधान दरबारी राजा टोडरमल्ल तथा राजा बीरबल से इनकी गाढ़ी मित्रता थी तथा इसी प्रभाव से वशीभूत होकर अकबर ने गोकुल तथा गोवर्धन की भूमि इन्हें भेंट कर दी थी जिससे संबद्ध दो फरमान आज भी मिलते हैं। इनसे वृजमंडल में गाय चराने आदि कितने ही करों की माफी का बादशाही हुक्म गोसाईं जी को प्राप्त हुआ। इनकी गाढ़ विद्वत्ता तथा शास्त्रीय अनुशीलन के सूचक इनके लिखित प्रौढ़ ग्रंथ हैं। इन्होंने वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों का गूढ़ रहस्य ही नहीं समझाया, प्रत्युत नवीन ग्रंथों की रचना कर संप्रदाय की साहित्यिक श्रीवृद्धि की। इनके ग्रंथ प्रौढ़, युक्तिपूर्ण तथा विवेचना-मंडित हैं। मुख्य ग्रंथों के नाम हैं—(१) अणुभाष्य—अंतिम डेढ़ अध्यायों की रचना से ग्रंथ की पूर्ति की। (२) विद्वन्मंडन; (३) भक्तिहंस; (४) भक्ति निर्णय, (५) निबंध प्रकाश टीका, (६) सुबोधिनी-टिप्पणी (७) शृंगार-रस-मंडन।

गोपीनाथजी संप्रदाय की गद्दी पर सं० १५८७ से लेकर सं० १६२० तक विराजमान रहे।। तदनंतर उनकी मृत्यु के बाद १६२० विक्रमी में आचार्य पद पर आरूढ़ होकर इन्होंने भ्रमण कर अपने मत का विपुल प्रचार किया। विशेषतः गुजरात में वल्लभ संप्रदाय के विशेष प्रचार का श्रेय विट्ठलनाथ को ही है जिन्होंने इस कार्य के लिए छः बार गुजरात में यात्रा की तथा

भ्रमण किया। आज इस संप्रदाय में जो सेवापद्धति व्यवस्थित रूप से दृष्टिगोचर होती है उसका श्रेय गोसाईं जी को है। पुत्र-संपत्ति भी इनकी विशेष थी। इनके सात पुत्र हुए और इन सातों को भगवान् के सात रूपों की सेवा तथा अर्चना का अधिकार देकर इन्होंने संप्रदाय के विस्तार तथा परिवर्धन की सुव्यवस्था कर दी। इनके नाम गद्दियों के साथ नीचे दिए जाते हैं—

पुत्र	स्वरूप	विराजने का स्थान
(१) गिरिधर जी	श्री मथुरेश जी	कोटा
(२) गोविंदराय जी	श्री विट्ठलनाथ जी	नाथद्वारा
(३) बालकृष्ण जी	श्री द्वारिकाधीश जी	कांकरोली
(४) गोकुलनाथ जी	श्री गोकुलनाथ जी	गोकुल
(५) रघुनाथ जी	श्री गोकुलचंद्रमा जी	कामवन
(६) यदुनाथ जी	श्री बालकृष्ण जी	सूरत
(७) घनश्याम जी	श्री मदनमोहन जी	कामवन

श्री गुसाईं जी जहाँ धर्म के आचार्य, मुगलशासन के न्यायाधीश तथा शास्त्रों के प्रकांड विद्वान् थे, वहाँ व्रजभाषा के महनीय उन्नायक भी थे। व्रजभाषा की वर्तमान साहित्य समृद्धि का गौरव आप दोनों पितापुत्रों को देना चाहिए। व्रजभाषा उस समय तक असंस्कृत तथा परिमार्जन-विहीन, साहित्य क्षेत्र से बहिर्भूत भाषा थी; परंतु आपके ही निरंतर उद्योग तथा प्रोत्साहन के बल पर यह सर्वमान्य साहित्य से समृद्ध भाषा बनी। 'अष्टछाप' के कवियों में सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास तथा कृष्णदास वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। नंददास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी तथा गोविंददास श्री विट्ठलनाथजी के शिष्य थे।

पुष्टिसंप्रदाय का सर्वमान्य ग्रंथ श्रीमद्भागवत है जिसे व्यास जी की समाधि भाषा का महनीय अभिधान प्राप्त हुआ है। पिता-पुत्र दोनों इसके मर्मज्ञ रसिक विद्वान् थे। इन्होंने जिन जिन स्थानों पर भागवत का सप्ताह या पारायण किया वह संप्रदाय में 'बैठक' के नाम से विख्यात है। ऐसे बैठक आचार्य जी के ८४ हैं तथा गोसाईं जी के २८ हैं[१]। वह संप्रदाय काव्य, चित्रकला आदि नाना ललित कलाओं के प्रोत्साहक तथा स्फूर्तिदाता के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की सेवापद्धति का जो विस्तृत तथा व्यवस्थित विधान इस संप्रदाय में पाया जाता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस पद्धति के तीन अंश हैं— सेवा, शृंगार तथा कीर्तन। समग्र वर्ष नाना पर्वों तथा उत्सवों में बाँटा गया है और प्रत्येक उत्सव में भगवान् का शृंगार किस प्रकार का होना चाहिए, उनके पूजन में क्या विशिष्टता होनी चाहिए तथा नित्य पूजन में कब किस पद का कीर्तन करना चाहिए, इसका विस्तृत वर्णन नाना ग्रंथों में किया जाता है तथा उसके अनुसार दैनिक तथा वार्षिक पूजा बड़े ठाटबाट तथा समारोह के साथ की जाती है। उदाहरणार्थ प्रबोधिनी एकादशी के दिन भगवान् के मस्तक पर गले में तथा हाथों में नाना प्रकार के माणिकजटित भूषण पहनाने का विधान है। तथ्य यह है कि बालगोपाल की यह पूजा इतने राजसी ठाट बाट से होती हैं, इतनी समृद्धि का उपभोग किया गया है, इतने कीर्तन तथा गायन

---

१ इनके नाम तथा परिचय के लिए द्रष्टव्य 'कांकरोली का इतिहास द्वितीय भाग पृ० ६५–७५ तथा पृ० १११–पृ० ११३।

की व्यवस्था की गई है[1] कि इसका सामान्य रूप भी अन्यत्र मिलना एकदम दुर्लभ है।

(३)

सिद्धांत

दार्शनिक जगत् में श्रीवल्लभाचार्य जी का सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य शंकर के अद्वैत से भिन्नता दिखलाने के लिए ही अद्वैत के साथ 'शुद्ध' विशेषण दिया गया है। अद्वैत मत में मायशबलित ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है, परंतु इस मत में माया से अलिप्त, माया संबंध से विरहित, अतएव नितांत शुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है[2]। ब्रह्म ही इस विश्व में एकमात्र सत्ता है जिसके परिणामरूप होने से जगत् तथा जीव की भी सत्ता है। इसीलिए इसकी दार्शनिक दृष्टि 'शुद्धाद्वैत' की नितांत यथार्थ है।

शंकराचार्य उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म के द्विविध रूप स्वीकार करते हैं। एक तो है नामरूप-उपाधिविशिष्ट सगुण ब्रह्म तथा दूसरा रूप है उपाधिरहित निर्गुण ब्रह्म। इन दोनों में शंकर निर्गुण ब्रह्म की ही श्रेष्ठता मानते हैं तथा सगुण ब्रह्म को माया-शबलित मानकर उसकी हीनता स्वीकार करते हैं, परंतु

---

१ द्रष्टव्य 'श्री द्वारकाधीश की सेवा-शृंगार प्रणाली' तथा 'गृहकीर्तन प्रणालिका,' प्रकाशक श्री विद्याविभाग; काकरोली सं० १९९४।

२ मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥२८

—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड

वल्लभाचार्य की सम्मति में ब्रह्म के दोनों ही रूप सत्य हैं। पर-ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय रहता है। वह एक ही समय निर्गुण भी रहता है तथा सगुण भी। निर्धर्मक प्राकृत गुणों से विरहित होते हुए भी सधर्मक अर्थात् दिव्यधर्मों से युक्त होता है। वह है 'अणोरणीयान्' तथा 'महतो महीयान्'। वह क्रूरकर्मों का कर्ता होने पर भी दयारहित नहीं है, प्रत्युत घनीभूत सैन्धववत् बाह्याभ्यंतर सदा एकरस रहता है। इसी कारण वह कर्तुम् अकर्तुम् तथा अन्यथा कर्तुम् अर्थात् सर्वभाव धारण में समर्थ होता है। ब्रह्म अविकृत होते हुए भी भक्तों पर कृपा के द्वारा परिणामशील होता है। ब्रह्म के इस द्विविध रूप पर आचार्य का विशेष आग्रह है—

> निर्दोष-पूर्ण-गुणविग्रह आत्मतन्त्रो
> निश्चेतनात्मक शरीरगुणैश्च हीनः।
> आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादिः
> सर्वत्र च त्रिविध-भेद-विवर्जितात्मा। (निबन्ध)

श्री कृष्ण ही यह परब्रह्म है। उनका शरीर सच्चिदानंदमय है। जब वह अपनी अनंत शक्तियों के द्वारा अपनी आत्मा में आंतर रमण किया करता है तब वह 'आत्माराम' कहलाता है। जब बाह्य रमण की इच्छा से वह अपनी शक्तियों की बाह्य अभि-व्यक्ति करता है तब वह कहलाता है 'पुरुषोत्तम', । इस रूप में आनंद की चरम अभिव्यक्ति के कारण वह 'आनंदमय' 'अगणि-तानंद' तथा 'परमानंद स्वरूप' कहलाता है। यही आनंद धर्मों वाला उनका बाह्य प्रकटरूप 'पुरुषोत्तम' नाम से अभिहित किया जाता है। वल्लभाचार्य ने इस परात्पर पुरुष का 'पुरुषोत्तम' नाम गीता के आधार पर दिया है, क्योंकि गीता की दृष्टि में

क्षरपुरुष को अतिक्रमण करने तथा अक्षर ब्रह्म से उत्तम होने के कारण यह पर पुरुष 'पुरुषोत्तम' के नाम से विख्यात होता है[1]।

श्री कृष्ण अपनी अनन्त शक्तियों से वेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ 'व्यापी वैकुंठ' में नित्य लीला किया करते हैं। यह लोक विष्णु के वैकुंठ से ऊपर अवस्थित है और गोलोक भी इस व्यापी वैकुण्ठ का एक अंशमात्र है। भगवान् में अनंत शक्तियाँ तदधीन रहती हैं। जिनमें श्री, पुष्टि, गिरा, कान्त्या आदि बारह शक्तियाँ मुख्य हैं। क्रीड़ा के निमित्त भगवान् का समग्र परिवार तथा लीलापरिकर इस भूतल पर अवतीर्ण होता है। तब व्यापी वैकुंठ ही गोकुल के रूप में विराजता है और द्वादश शक्तियाँ श्रीस्वामिनी, चंद्रावली, राधा, यमुना आदि आधिदैविक रूपों में प्रकट होती हैं। व्रज की गोपियाँ के रूप में भगवान् के रस-कल्लोलका मद्यः आस्वाद ग्रहण करने के लिए श्रुतियाँ ही अवतीर्ण हुई हैं। यह समग्र लीला नित्यरूप से आविर्भूत होती है। इसीलिए इनके निर्देशक मंत्रों में वर्तमान काल के सूचक पद पाये जाते हैं। इसी कारण उस अंधे भक्त सूरदास ने अपनी दिव्य दृष्टि से उस लीला का अवलोकन कर भगवान् के निसदिन विहार करने की बात लिखी है:—

---

१ यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

—गीता

जहाँ वृन्दावन आदि अजर जहाँ कुंज लता विस्तार।
तहाँ बिहरत प्रिय-प्रियतम दोउ निगम भृंग गुंजार॥
रतन जटित कालिन्दी के तट अति पुनीत जहाँ नीर।
सरस—हंस—चकोर-मोर खग कूजत कोकिलकीर॥
जहाँ गोवर्धन पर्वत मनिमय सघन कन्दरा सार।
गोपिन मंडल मध्य विराजत निसदिन करत बिहार॥

ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—

(१) आधिभौतिक = जगत्
(२) आध्यात्मिक = अक्षर ब्रह्म
(३) आधिदैविक = पर ब्रह्म (या पुरुषोत्तम)

अक्षर ब्रह्म में आनंद अंश का किंचिन्मात्र में तिरोधान रहता है, परंतु परब्रह्म आनंद से सर्वथा परिपूर्ण रहता है। ब्रह्म के इस उभय रूप में केवल स्वरूप का ही अंतर नहीं है, प्रत्युत इनकी प्राप्ति के साधनों में भी भेद है। अक्षर ब्रह्म केवल विशुद्ध ज्ञान के द्वारा ही गम्य तथा प्राप्य होता है, परतु पुरुषोत्तम की प्राप्ति का साधन तो केवल अनन्या भक्ति है। आचार्य गीता की समीक्षा करने पर इसी सिद्धांत पर पहुँचते हैं। गीता कहती है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८।१४)

इस पद्य का स्वारस्य यही है कि ब्रह्मभाव की प्राप्ति के अनंतर भगवद्भाव की प्राप्ति संभव है। 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' = अनन्य भक्ति ही पर (श्रेष्ठ) पुरुष की प्राप्ति का मुख्य साधन है। ज्ञानमार्गीय साधकों को ज्ञान के द्वारा अक्षर

ब्रह्म की ही उपलब्धि होती है। पुरुषोत्तम की उपलब्धि के अधिकारी भक्तिमार्गीय ही उपासक होते हैं। इसीलिए आचार्य का भक्ति की उपादेयता पर इतना आग्रह है[1]।

जीव—जब भगवान् को रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह अपने आनंद आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण करता है। इस व्यापार में भगवान् की केवल इच्छा ही प्रधान कारण है—माया का संबंध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है, यश के तिरोधान से सर्वहीनता, श्री के तिरोधान से वह समस्त आपत्तियों का भाजन बनता है और ज्ञान के तिरोधान से देहात्मबुद्धिका वह पात्र बनता है। आनंद अंश का तिरोभाव प्रथमतः ही संपन्न होता है जब ईश जीवभाव को प्राप्त करता है।[2] ब्रह्म से जीव का आविर्भाव उसी प्रकार होता है जैसे अग्नि से स्फुलिंगों का। आविर्भूत जीव नित्य होता है। यह 'व्युच्चरण' कहलाता है जो उत्पत्ति से सर्वथा भिन्न होता है। व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता में कथमपि ह्रास नहीं होता। जीव ज्ञाता, ज्ञान रूप तथा अणु होता है। सच्चिदानंद भगवान् के अविकृत सदंश से जड का निर्गमन होता है तथा अविकृत चिदंश से जीव का आविर्भाव। जीव के निर्गमन काल में केवल आनंद अंश का तिरो-

---

१ 'पुरुषः स परः पार्थ' (गीता ८।२२) इत्यनेन अक्षरात् परस्य स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वमुक्तम्। तेन ज्ञान-मार्गीयाणां न पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम्।

—अणु भाष्य २।३।२३

२ पराभिध्यानात् ब्र० सू० ३।२।५ का अणुभाष्य देखिए।

भाव रहता है, परंतु जड़ के निर्गमन काल में चित् तथा आनंद उभय अंशों का तिरोधान रहता है। इस वैशिष्ट्य पर ध्यान देना आवश्यक है।[1]

जीव तथा ब्रह्म के स्वरूप को लेकर वेदांत संप्रदाय में महान् मतभेद है। ब्रह्मसूत्र इस विषय में कहता है—अंशो नाना-व्यपदेशात् (२।३।४३) इस 'अंश' शब्द की व्याख्या टीकाकारों ने नाना प्रकार से की है। शंकराचार्य ब्रह्म को निष्कल तथा निरवयव बतलानेवाले उपनिषद्वाक्यों को प्रमाण मानकर ब्रह्म का अंश होना असंभव मानते हैं और 'अंश' को 'अंश इव' के अर्थ में ग्रहण करते हैं। 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगाः' इस उपनिषद्-वाक्य तथा पूर्वोक्त ब्रह्मसूत्र के प्रमाण पर वल्लभ जीव को ब्रह्म का वास्तव अंश मानते हैं। इसकी युक्ति का भी निर्देश अणुभाष्य में किया गया है[2]।

जीव अनेक प्रकार का होता है—(१) शुद्ध (२) मुक्त (३) संसारी। ऊपर कहा गया है कि निर्गमन के समय आनंद अंश का तिरोधान होने पर अविद्या के साथ संबंध हो जाता है। उससे पूर्व जीव शुद्ध कहलाता है। अविद्या के साथ संसर्ग होने पर जीव संसारी नाम से पुकारा जाता है। यह जीव भी दो

---

१ प्रमेयरत्नार्णव पृ० ७–६

२ विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़जीवा विनिर्गताः।
सर्वतः पाणिपादान्तात् सर्वतो ऽक्षिशिरोमुखात्॥
निरिन्द्रियात् स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः
सदंशेन जड़ाः पूर्वे चिदंशेनेतरे अपि।
अन्यधर्मतिरोभावा मूलेच्छातो स्वतन्त्रिणः॥
२।३।४३ का अणुभाष्य।

प्रकार का होता है—दैव तथा आसुर। मुक्त-जीवों में कोई तो जीवन्मुक्त होते हैं और कुछ केवल-मुक्त। जब संसारी दशा में पुष्टि मार्ग के सेवा से भगवान की स्वाभाविकी दया जीवों पर होती है तब उनमें तिरोहित आनंद का अंश पुनः प्रादुर्भूत होता है। अतः मुक्त दशा में जीव आनंद अंश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानंद बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है।

जगत्—वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवाद के सिद्धांत को मानते हैं। निर्गुण सच्चिदानंद ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगद्-रूप में परिणत हो जाता है। लोक में भी यही बात देखी जाती है। कुंडल आदि रूपों में परिणत होने पर भी जिस प्रकार सोने में विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता। आचार्य जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं मानते। प्रत्युत आविर्भाव तथा तिरोभाव मानते हैं। अनुभावयोग्यता होना ही आविर्भाव है तथा अनुभावयोग्य न होना ही तिरोभाव का लक्षण है। ईश्वर की इच्छा से ही यह सृष्टि आविर्भूत होती है। वल्लभाचार्य जगत् और संसार में सूक्ष्म भेद मानते हैं। भगवान् के सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ जगत् है परंतु अविद्या के कारण जीव के द्वारा ही कल्पित ममतारूप पदार्थ संसार है। अविद्या की सत्ता होने पर संसार है जो ज्ञान के उदय होने पर स्वयं नष्ट हो जाता है। परंतु जगत् जीव तथा ईश्वर के समान ही नित्य पदार्थ है।

पुष्टिमार्ग

अब आचार्य के साधन-पक्ष की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। 'पुष्टि' ही शब्द का अर्थ है भगवान का अनुग्रह

(पोषणं तदनुग्रहः—भागवत् २।१०)। आचार्य ने प्राणियों के अनुसरण के लिये तीन मार्ग कहे हैं—(१) पुष्टि-मार्ग (२) प्रवाह-मार्ग (३) मर्यादा-मार्ग । भक्ति-मार्ग ही पुष्टिमार्ग है जो सर्वोत्तम है। केवल वेद-प्रतिपादित कर्म और ज्ञान के संपादन का मार्ग मर्यादा-मार्ग है। संसार के प्रवाह में पड़कर लौकिक सुख और भोग के लिये प्रयत्न करते रहना प्रवाह-मार्ग है। अंतिम मार्ग तो संसारी जीवों के निमित्त होने से त्याज्य ही है परंतु प्रथम दो मार्गों में भी नितांत भेद है। मर्यादा-मार्ग वैदिक है जो अक्षर-ब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है । परंतु पुष्टि-मार्ग साक्षात-पुरुषोत्तम के शरीर से निकला हुआ है। मर्यादा-मार्ग का साधक ज्ञान के द्वारा सायुज्य-मुक्ति को ही अपना ध्येय मानता है। परंतु पुष्टि-मार्ग का उपासक आत्म-समर्पण तथा रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनंद-धाम भगवान के अधरामृत के पान को ही अपनी उपासना का फल मानता है। पुष्टि-मार्ग की यही विलक्षणता है कि यह केवल भगवान के एक-मात्र अनुग्रह से ही साध्य होता है।

भक्ति भी इसी कारण दो प्रकार की होती है। मर्यादा भक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है। परंतु पुष्टि भक्ति फल की आकांक्षा से रहित रहती है। यदि प्रथम का लक्ष्य है सायुज्य की प्राप्ति, तो दूसरे का फल है अभेद-बोधन। वल्लभाचार्य का यह आग्रह है कि वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदों से रहित होने के कारण पुष्टि-मार्ग ही इस कलि-काल के जीवों के लिये एकमात्र सुलभ या सुगम मार्ग है। पुष्टि-मार्ग भी अन्य कृष्ण-भक्ति-प्रधान मार्गों के समान श्रीमद्भागवत् की महती देन है। इसी लिये उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के समान ही श्रीमद्भागवत भी 'प्रस्थान चतुष्टयी' में गिना जाता

है। यह व्यास जी की समाधि-काल में उद्बुद्ध वाणी है (समाधि भाषा व्यासस्य)। इसी लिये आचार्य के ग्रंथों में अणु भाष्य की अपेक्षा सुबोधिनी का कहीं अधिक आदर है—

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्-जन्म भूतले॥

—:※:—

(४)

पुष्टिभक्ति का स्वरूप

श्री वल्लभाचार्य ने भक्ति का दो प्रकार बतलाया है—(१) मर्यादा - भक्ति, तथा (२) पुष्टि-भक्ति। जो भक्ति साधनों के सापेक्ष. भजन, पूजन आदि साधनों की सहायता से जिसकी उपलब्धि होती है वह तो मर्यादा-भक्ति कहलाती है, परंतु जो साधननिरपेक्ष होकर भगवान् के अनुग्रहमात्र से स्वतः प्रादुर्भाव पाती है, जिसमें जीवों पर स्वयं दया करके भगवान अपने अनुग्रह की अभिव्यक्ति करते हैं, वह पुष्टिभक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति कहलाती है। जैसे भगवान् अनंत हैं. वैसे ही उनके गुण ऐश्वर्यादि भाव भी अनंत हैं। वह लीलापुरुषोत्तम अपनी लीला के हेतु ही इस सृष्टि का सर्जन करता है तथा स्वयं अवतार लेकर नाना प्रकार की ललित क्रीड़ायें किया करता है। लीला को छोड़कर इस ब्रह्मांड के आविर्भाव का कोई भी अन्य प्रयोजन नहीं। परंतु लीला किसे कहते हैं? वल्लभाचार्य ने इसकी सुंदर व्याख्या भागवत तृतीय स्कंध की सुबोधिनी में की है। उनका

कथन है[1]—लीला विलास की इच्छा का नाम है। कार्य के विना ही यह केवल व्यापारमात्र होता है अर्थात् इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं किया जाता। उत्पन्न किए गए कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नहीं रहता। कोई कार्य उत्पन्न हो गया, तो होता रहे। इसमें न तो कर्ता का कोई उद्देश्य रहता है; न कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास ही उत्पन्न होता है। लीला की अभिव्यक्ति अंतःकरण में पूर्ण आनंद के उदय को सूचित करती है। उसी के उल्लास से कार्योत्पत्ति के समान कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही भगवान् की लीला है। सर्ग-विसर्ग आदि जिस प्रकार भगवान् पुरुषोत्तम की लीलाएँ हैं, उसी प्रकार भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला है। मर्यादा-मार्ग में भगवान् साधन-परतंत्र रहता है, स्वतंत्र नहीं क्योंकि इस मार्ग में भगवान् को अपनी बँधी हुई मर्यादाओं की रक्षा करना अभीष्ट होता है। पुष्टि-मार्ग में वह किसी साधन का परतंत्र न होकर स्वयं स्वतंत्र होता है। अनुग्रह भी भगवान् की नित्यलीला का अन्यतम विलास है। भागवत तथा गीता दोनों ग्रंथों में इस उभयविध मार्गों का विवरण है।

अनुग्रह की दशा में जीव की स्थिति कैसी रहती है? तब आनंदस्वरूप भगवान् प्रकट होकर जीव को अपने स्वरूप-बल से ही अपने किसी भी प्रकार के संबंधमात्र से स्वरूप दान करते

---

१ लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्तु अन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजनन-सदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते।

—सुबोधिनी (भागवत, तृतीयस्कंध)

हैं अर्थात् जीव के देह, इन्द्रिय तथा अंतःकरण में अपने आनंद का स्थापन कर उसे अपने स्वरूप में स्थित कर देते हैं। यही जीव की मुक्ति है अर्थात् अन्यथाभाव को छोड़ कर स्वरूप से, आनंद रूप से, अवस्थान होना ही मुक्ति है।[1] इस प्रकार जीव को आनन्दमय बना देना ही प्रभु की प्रकृति, प्रकृष्ट कृति या स्वभाव है। गीता के अनुसार भगवान् इसी प्रकृति को स्वीकार कर प्रकट होते हैं—प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया (गीता ४ अ०, श्लो० ६)

भगवान् के अनुग्रह की महिमा बतलाते हुए वल्लभाचार्य श्रीमद्भागवत के सिद्धांत को स्वीकार कर कहते हैं कि जीवमात्र को निरपेक्ष मुक्ति दान करने के लिए ही भगवान् का प्रादुर्भाव है। भगवान् सर्वैश्वर्य-संपन्न, अपराधीन, कर्मकालादिकों के नियामक तथा सर्वनिरपेक्ष हैं। ऐसी दशा में अवतार लेने का प्रयोजन ही क्या ? दुष्ट-दलन तथा सज्जन-रक्षण का कार्य तो अन्य साधनों से भी सिद्ध हो सकता है, तब उनके अवतार का प्रयोजन क्या ? मानवों को साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवत्प्राकट्य का जागरूक प्रयोजन है अर्थात् साधक के बिना किसी साधना की अपेक्षा रखते हुए भी भगवान् स्वतः अपने लीला-विलास से, अपने अनुग्रह से, उसे स्वरूपापत्तिरूपी मुक्ति प्रदान करते हैं—

> नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो भुवि।
> अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः[2] ॥—भाग० १०।२९।१४

---

१ मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा भावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः। —भाग०

२ अतः स्वपरप्रयोजनाभावात् यदि साधन-निरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत्, तदा व्यक्तिः प्रादुर्भावः प्रयोजनरहितैव स्यात्। —सुबोधिनी

पुष्टिमार्ग की पुष्टिभक्ति का यही प्रकृत यथार्थरूप है।

आचार्य वल्लभ ने भक्तिशास्त्र के ऊपर कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखा है, परन्तु प्रकीर्ण ग्रंथों में भक्ति के रूप तथा प्रकार का वर्णन बड़ी सुंदरता के साथ किया है। भक्ति के सामान्य लक्षण में ईश्वर के प्रति सुदृढ़ तथा उत्कट प्रेम के साथ साथ वल्लभाचार्य जी ने ईश्वर की महत्ता के निरन्तर ज्ञान और ध्यान पर भी आग्रह रक्खा है[1]। वल्लभ को नवधा भक्ति मान्य है, परन्तु यह साधन भक्ति है जिसकी उपादेयता मर्यादामार्गीय जीव के ही लिए मान्य है। पुष्टिमार्गीय जीवों की सृष्टि केवल भगवान् की स्वरूप-सेवा के ही लिए है, क्योंकि पुष्टिमार्गीय जीव के लिए भगवान् का अनुग्रह ही समग्रकार्यों का नियामक होता है। भगवान् के अनुग्रह के बिना रागानुगा भक्ति का आविर्भाव ही असम्भव है। अतः जीव का यही परम कर्तव्य है कि भगवान् के अनुग्रह की सिद्धि के लिए उनकी सेवा एकांतनिष्ठा तथा शुद्ध अनुराग के साथ करे। भागवत के अनुसार ऐसा कोई भाव नहीं है जिसका आश्रय लेकर भगवान् की कृपा का सम्पादन नहीं किया जा सकता। भगवान् का संतत निरंतर ध्यान तथा निष्ठा ही मुख्य वस्तु है और इस निष्ठा के उत्पादन के लिए अनेक भावों का आश्रय लिया जा सकता है। 'जो कोई भगवान् में काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्द भाव रखता है वह भगवान् का ही रूप बन जाता है"—भागवत की इस

---

१ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥
—तत्त्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण श्लोक० ४६

उक्ति[1] की समीक्षा में आचार्य ने कहा है कि काम स्त्री भाव में, क्रोध शत्रु भाव में, भय वधिक भाव में, स्नेह सम्बन्धियों में, ऐक्य ज्ञान दशा में, तथा सौहार्द सौख्य भाव में विद्यमान रहता है; परंतु भावों का यह परिगणन उपलक्षणमात्र है। जिस किसी भावमें हो, भगवान का भजन ही जीव का एकमात्र धर्म है। ऐहिक तथा तथा आमुष्मिक कामना की भावना से विरहित जीव को भगवच्चरण में अपने को अर्पण कर भगवान् की अनुकंपा पर अपने को छोड़ देना चाहिए। सर्वसमर्थ भगवान उचित फल का संपादन अवश्य करेंगे; इसकी सामान्य भी चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती। भक्तों का तो एकमात्र पुष्टिमार्गीय उपदेश है आचार्य चरण का—पूर्ण निष्ठा से भगवान् का सर्वथा तथा सर्वदा भजन।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥
—चतुः श्लोकी, श्लोक १

सेवा तीन प्रकार की होती है[2]—(१) तनुजा—अपने शरीर से; भगवान् के निमित्त ही अपने शरीर तथा उसके व्यापारों का एकनिष्ठा से समर्पण। (२) वित्तजा—अपने धन से तथा संपत्ति से। (३) मानसी—मन के द्वारा भगवान् की सेवा।

---

१ कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
—भाग० १०।२९।१५

२ चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥२॥
—सिद्धांत मुक्तावली

मानसी सेवा सर्वश्रेष्ठ तथा एकांत उपयोगिनी बतलाई गई है[1] क्योंकि मानस-निरोध के द्वारा ही यह सेवा साध्य होती है। अतः सच्चे भक्त का यही परम कर्तव्य है कि वह इन त्रिविध सेवाओं के द्वारा भगवान् की उपासना में दत्तचित्त होकर रहे।

वल्लभाचार्य के अनुसार भगवदनुग्रह की सिद्धि के लिए भक्त के हृदय में उत्कट प्रेम की सत्ता नितांत आवश्यक है। भगवान् से मिलने के लिए आतुरता तथा उसके वियोग में नितांत व्याकुलता का होना भक्त हृदय की विशिष्ट घटना है जिससे भगवान् की नैसर्गिकी कृपा साधकों के ऊपर होती है। इसीलिए आचार्य श्रीकृष्ण के विरह में नंदजी, यशोदाजी तथा गोपियों के हृदय में उत्पन्न होनेवाले दुःख की कामना करते हैं।[2] प्रेम के परिपाक में इस विरह के गौरव से साधक परिचित हैं और इसी विरह-भावना की पुष्टि के लिए संन्यास तथा गृहत्याग की आवश्यकता होती है। वल्लभाचार्य का स्पष्ट कथन है कि विरह के अनुभव के लिए गृहत्याग उत्तम होता है और इस दशा में ऐसा वेष धारण उचित होता है जो अपने बंधनरूप स्त्री पुत्रादिकों से निवृत्ति का सूचक हो।[3] आचार्य जी ने प्रेम की तीन अवस्थाओं का

---

१ कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।

—वही, श्लोक १

२ यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥

—निरोधलक्षण

३ विरहानुभवार्थं तु परित्यागः सुखावहः
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा।

—संन्यासनिर्णय, श्लोक ७।

वर्णन किया है—स्नेह, आसक्ति और व्यसन। ये तीनों ही भावनायें भगवान् के प्रति हमारी भक्ति के दृढ़ीकरण तथा निरंतर पुष्टि के निमित्त ही आवश्यक मानी गई हैं। भगवान में जब भक्त का स्नेह होता है, तब संसार के विषयों में होनेवाले राग का नाश हो जाता है। जब स्नेह आसक्ति के रूप में परिणत हो जाता है तब घरबार के कामों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि अब साधक के लिए गृह, दारा आदि पदार्थ बाधक प्रतीत होने लगते हैं। व्यसन से तात्पर्य है भगवान् में निरंतर अनायास प्रेमभाव से जिसकी प्राप्ति होने पर जीव कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार स्नेह की आसक्ति के अनंतर व्यसन में परिणत होने पर जीव की कृतकार्यता संपन्न हो जाती है।[1] आचार्यचरण का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ा ही मार्मिक तथा अंतरंग साधना का सूचक है।

श्री वल्लभाचार्य जी भगवान् श्री कृष्ण के बालरूप के उपासक थे और इसीलिए उन्होंने वात्सल्य भक्ति का ही प्रथमतः प्रचार किया। उन्होंने स्वस्थापित श्री गोवर्धननाथ के मंदिर में भगवान् की पूजा - अर्चा की व्यवस्था तथा सेवा का विधान अपने पूर्व निर्दिष्ट सिद्धांतों के अनुसार ही किया और आज भी वल्लभमत से संबद्ध मंदिरों में बालगोपाल की पूजा अक्षुण्ण भाव से

---

१ व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च तथा भवेत् ॥३
स्नेहाद् रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः ।४
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥५
—भक्तिवर्धिनी

प्रचलित है। परंतु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने समय में किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं तथा युगल स्वरूप की उपासना-विधि का भी समावेश पीछे से सांप्रदायिक भक्तिपद्धति में कर दिया। कुछ लोग इस प्रकार की मधुर भाव की भक्ति का समावेश चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी वैष्णवों के संपर्क का सद्यः फल मानते हैं[1], परंतु अनेकों के मत में इस भावना का उदय स्वतः संप्रदाय में हुआ और इसके लिए यह किसी अन्य संप्रदाय का ऋणी नहीं है। इस प्रश्न की मीमांसा के लिए तत्कालीन कृष्णाश्रयी संप्रदायों के परस्पर संबंध की गहरी छानबीन अपेक्षित है। जो कुछ भी हो, इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने मधुर भावना की उपासना का प्रचार किया जिसका शास्त्रीय वर्णन उन्होंने अपने 'शृंगारमंडन' मे किया है। राधा की उपासना का समावेश भी इसी युग की घटना है, क्योंकि विट्ठलनाथ जी के राधा की स्तुति में 'स्वामिन्यष्टक' तथा 'स्वामिनी स्तोत्र' नामक दो स्तोत्रग्रंथों की रचना की है। श्री वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों में श्री राधा के इतने स्पष्ट उल्लेख का प्रायः अभाव सा दृष्टिगोचर होता है।

गौडीय वैष्णवों के विपरीत वल्लभ संप्रदाय में राधा परकीया न होकर स्वकीया ही मानी जाती हैं। गोपियों के नाम, धाम तथा प्रकार आदि का भी विवेचन इस मार्ग में बड़ी ही मार्मिकता से 'सुबोधिनी' में किया गया है।

अन्य वैष्णवमतों के अनुरूप प्रपत्ति या शरणागति ही इस संप्रदाय में भी नितांत उपादेय तत्त्व है। भक्ति तथा प्रपत्ति में स्पष्ट पार्थक्य है। भक्ति में साधनों की अपेक्षा रहती है, परंतु प्रपत्ति

---

१ गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ० ५२६—५२८

में साधनों की कथमपि आवश्यकता नहीं होती। इसमें साधनानुष्ठान का स्वीकार नहीं है; केवल भगवान् का ही स्वीकार है। इसका अर्थ नहीं कि भजन पूजन आदि का निषेध है, परंतु ये कार्य आवश्यक, अवश्यमेव करणीय, नहीं हैं। प्रपत्ति भी द्विविध प्रकार की मानी गई है—(१) मर्यादिकी प्रपत्ति और (२) पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति। मर्यादिकी प्रपत्ति में साधक के द्वारा कर्म का अनुष्ठान सर्वथा आवश्यक होता है, परंतु पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति में भगवान् का पूर्ण आश्रय, पक्का सहारा रहता है; कर्म का अनुष्ठान रंचकमात्र भी करना नहीं पड़ता। द्विविध भेद की पुष्टिमार्गीय व्याख्या श्रीवैष्णवों में भी ठीक इसी प्रकार है। तथ्य यह है कि शुद्ध प्रपत्ति कर्म की अपेक्षा नहीं रखती। यह तो साधक की वह मानसिक दशा है जिसमें वह भगवान् को छोड़ कर किसी अन्य को अपना आश्रय नहीं मानता और भगवान् के पादारविंद में अपने को सर्वात्मना समर्पण के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता। सर्वात्मना सर्वथा सर्वदा समर्पण ही पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति का स्वरूप है।

पुष्टिमार्ग—आवश्यकता तथा विशिष्टता

यह संसार विपत्तियों का आगार है। चारों ओर से विपत्तियाँ आकार हमें थपेड़ा मार रही हैं। जिधर दृष्टि डालिये उधर ही हमारे लिये दुःख का सागर उमड़ रहा है। अतः सब आचार्यों के सामने सब समय यही विकट प्रश्न उपस्थित होता आया है कि इस जगत् के त्रिविध दुःखों से सदा के लिये (आत्यंतिकी) निवृत्ति किस प्रकार होगी। कौन ऐसा सुगम उपाय है जो मानव जीवों को इन बंधनों से छुड़ाकर आनंद के मार्गपर लगा देगा।

प्राचीन आचार्यों ने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के मार्ग मुमुक्षुजनों के लिये इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये ही निर्दिष्ट किये हैं। वल्लभाचार्य इन मार्गोंकी उपयोगिताको मानते हैं, परंतु उनकी दृष्टि में इन साधनों का ठीक-ठीक आचरण इस कलिकाल में नहीं हो सकता। महाप्रभु ने अपने कृष्णाश्रय-स्तोत्र में इस कुटिल काल का बड़ा ही सजीला वर्णन किया है। समस्त देश म्लेच्छों के आक्रमणों से ध्वस्त हो गये हैं; गंगादि तीर्थों को पापियों ने घेर रक्खा है तथा उनके अधिष्ठातृदेवता अंतर्धान हो गये हैं। ऐसे विपरीत समय में क्या ज्ञान की निष्ठा हो सकती है? यज्ञ-यागादिकों का यथोचित अनुष्ठान हो सकता है? अथवा भक्ति मार्ग का ही क्या आचरण भली-भाँति हो सकता है? कभी नहीं। यदि हो भी सकता है, तो केवल वेदाध्ययननिरत त्रिवर्ण के पुरुषों को ही हो सकता है। शूद्रों तथा स्त्रियों की मुक्ति भला इन दुर्गम मार्गों के अनुसरण से कभी हो सकती है? उनके लिये तो कोई सीधा राजमार्ग होना चाहिये जिस पर चल कर वे लोग—निराश्रय तथा निःसहाय जन—इस संसार के समस्त बंधनों से अनायास ही मुक्त हो जायँ। इन निराश्रयों का उद्धार सदा की भाँति आज भी एक विषम समस्या है। महाप्रभु ने इन्हीं लोगों के कल्याण के लिये अपना पुष्टिमार्ग चलाया। इस मार्ग में परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान्[1] का अनुग्रह ही एकमात्र साधन

---

१ भगवान् श्रीकृष्ण ही परमसत्तारूप है। देखिये—

(क) परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ॥ २ ॥

(सिद्धान्तमुक्तावली)

(ख) कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

(अन्तःकरणप्रबोध)

है। जो लोग प्रसिद्ध साधनत्रय के निष्पादन में अपने को असमर्थ पाते हैं, उन्हें चाहिये कि अपनी समस्त वस्तुएँ, अपना सर्वस्व भगवान् के चरणारविंदों में समर्पण कर दें। यदि पूर्ण भक्ति के साथ हम श्रीकृष्ण के पादपद्मों में अपने निराश्रय आत्मा को डाल दें, तो क्या वह करुणावरुणालय हमारा उद्धार न करेगा? क्या वह विश्वम्भर हमारा भरण-पोषण न करेगा? क्या वह व्रजविहारी हमारे आर्त चित्त को अपनी मधुर वंशी की तान से आप्यायित न कर देगा? अवश्य करेगा, जरूर करेगा। परंतु हम में चाहिये उसके अनुग्रह में पूरा विश्वास, उसकी अलौकिक कृपा पर नितांत भरोसा।

वल्लभ ने पुष्टिमार्ग की मर्यादामार्ग से विशिष्टता स्पष्ट रूप में दिखलाई है। मर्यादामार्ग में जीव फल के लिये अपने कर्मों के अधीन है। जैसा वह कर्म करेगा, वैसा फल भगवान् उसे देंगे। 'कर्मानुरूपं फलम्' मर्यादामार्ग का प्रसिद्ध सिद्धांत है, परंतु पुष्टिमार्ग में कर्म की क्या आवश्यकता[1]? मर्यादामार्ग में शास्त्रविहित ज्ञानकर्म के आचरण से ही मुक्तिरूपी फल मिलता है परंतु पुष्टिमार्ग में ज्ञानकर्म की नितांत निरपेक्षता बनी रहती है[2]।

---

१ फलदाने कर्मापेक्षः। कर्मकारणे प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामे प्रवाहापेक्षः। इति मर्यादारक्षार्थं वेदं चकार। ततो ब्रह्मणि न दोषगन्धोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्। यत्रान्यथा स पुष्टिमध्य इति। (ब्रह्म सूत्र २।३।४२ पर अणुभाष्य)

२ अत एव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादायामङ्गीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वमत्र युक्तमेवेति भावः।

(ब्र० सू० ३।३।२६ पर अणुभाष्य)

इसी कारण से सब निराश्रय दीन जीवों का एकमात्र मोक्ष साधन तथा उद्धारोपाय है—पुष्टिमार्ग, जिसमें भगवान् अपने में कर्मणा मनसा वाचा आत्मसमर्पणशील जीवों का प्रपंच से उद्धार अपनी दया के बल से कर देते हैं[1]। अतः यह मार्ग सब जीवों के लिए—वर्ण, जाति, देश किसी भी भेदभाव के विना—सर्वदा तथा सर्वथा उपादेय है। यही इस मार्ग की विशेषता है। मर्यादामार्ग से इस मार्ग की यही विशिष्टता है[2]।

ब्रह्मसंबंध का अनुष्ठान

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धांत, परंतु अब इस सिद्धांत को व्यवहार में किस प्रकार लाने की व्यवस्था आचार्य-चरणों ने बतलाई है? उसका विचार करना भी समुचित है। इसे व्यावहारिक रूप जिस विधि के द्वारा दिया जाता है उसका नाम इस संप्रदाय में है ब्रह्म-संबंध[3]। इस अनुष्ठान का विधान वल्लभाचार्य

---

१ पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणः।
(ब्र० सू० ४। ४६ पर अ० भा०)

२ इस संबंध में विशेष जानने के लिये देखिये श्री हरिराय जी कृत पुष्टिमार्गीय कारिकाएँ—प्रमेयरत्नार्णव पृ० १८। २४ नमूने के तौर पर एक कारिका नीचे दी जाती है—

समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

३ ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि.............................. ॥ २ ॥
(सि० र०)

जी को स्वयं भगवान् ने बतलाया था; इसका उल्लेख हमें उनके सिद्धांतरहस्य नामक स्तोत्र में (पहले श्लोक में) मिलता है। इस अनुष्ठान के द्वारा गुरु प्रत्येक शिष्य का भगवान् के साथ संबंध करा देता है। मुमुक्षु शिष्य को ज्ञाननिरत तथा भागवत-तत्त्वज्ञ गुरु की खोज करनी चाहिये। अनुरूप गुरु की प्राप्ति हो जाने पर उसे अपना अभिप्राय बतलाना चाहिये। तब गुरु उसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण ही हमारे शरण हैं अर्थ वाला 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र बतलाते हैं। इसे 'शरण मंत्र' के नाम से पुकारते हैं। वल्लभाचार्य जी ने नवरत्न में स्वयं इस मंत्र के विषय में कहा है—

> तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
> वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥ ९॥

इसके अनंतर वह गुरु शिष्य को भगवान् के विग्रह के पास ले जाता है, तुलसी की माला देता है तथा दीक्षा-मंत्र का उपदेश करता है तथा शिष्य से उच्चारण कराता है। यह मंत्र नितरां गोप्य माना जाता है। इस मंत्र की आत्मनिवेदनमंत्र के नाम से प्रसिद्धि है। इसमें भक्त अपनी समस्त वस्तुओं को, अपनी देह, इन्द्रिय, प्राण, अंतःकरण को उनके धर्मों के साथ अपनी आत्मा को भगवान् को निवेदन कर देता है। यह मंत्र यों है—

सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।

प्रसिद्धि है कि श्रीकृष्ण ने यह मंत्र आचार्यजी को स्वयं बतलाया था। इस मंत्रोपदेश के अनंतर उस नवीन श्रद्धालु भक्त को गोपियों को अपना आदर्श मान कर अपना समर्पणनिरत जीवन बिताना चाहिये तथा भगवान् की पूजा-अर्चा ही में अपना कालयापन करना चाहिये। उसे अपने जीवन पर तनिक भी ममता नहीं, स्वतंत्रता नहीं। वह तो अब भगवान् का दास बन गया। जीवन भी भगवान् ही का है। उसके जितने कर्म हैं, चेष्टाएँ हैं, मन-वचन-कर्म के जितने विविध विधान हैं, वे सब श्रीकृष्ण को ही समर्पण किये जाते हैं। इस प्रकार वह सर्वात्मना भगवान् का दास बन कर अपनी ऐहिक लीला की समाप्ति के अनंतर भगवनुग्रह से गोलोक की विपुल शांति में जा विराजता है।

पुष्टिमार्ग की प्राचीनता

श्री भगवान् के अनुग्रह को ही मुक्ति का एकमात्र साधन बतलाने का सिद्धांत आधुनिक नहीं है। यह तो वेदकाल से चला आता है। यह उपनिषदों में यत्र तत्र सूत्ररूप से पाया जाता है। मुंडक उपनिषद् ने आत्मा की उपलब्धि का कारण बतलाते समय न तो प्रवचन को कारण माना है, न मेधा को और न बहुशास्त्रश्रवण को, प्रत्युत यही बतलाया है कि जिस पर उसकी कृपा होती है वही उसे प्राप्त कर सकता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

कठोपनिषद् में भी (१।२।२०) 'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः' कहकर भगवान् के प्रसाद से ही आत्मस्वरूप के दर्शन करने की बात कही गयी है। अतः भगवदनुग्रह का यह सिद्धांत अत्यंत प्राचीन है, वैदिक है, परंतु आचार्यचरण ने इसे ही मुक्ति की मूलभित्ति मानकर अपना जो पुष्टिमार्ग चलाया उसमें श्रीमद्भागवत ही प्रधान कारण प्रतीत होता है। भागवत में वैदिक सिद्धांतों की ही तो विस्तृत व्याख्या है। श्रुति में जो सूत्ररूप से है उसका भाष्य हमें भागवत में उपलब्ध होता है। भागवत में भगवदनुग्रह को बड़ा महत्त्व दिया गया है। ज्यों ही भक्त भगवान् के संमुख होता है, भगवान् दया करके उसके समस्त पातकों को जलाकर उसे अपना लेते हैं तथा दुःखों से मुक्ति की व्यवस्था कर देते हैं। वह तो भक्तवत्सल ठहरे। भागवत का कहना है कि भगवान् कल्पतरु-से स्वभाववाले हैं—

> चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
> लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
> सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
> भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः॥
>
> (भाग० ८ । २३ । ८)

जो कामी भक्त हैं और भगवान् से याचना करते हैं उन्हें तो वे उनका मुँह-माँगा फल दे ही देते हैं, परंतु अनिच्छुक अकामी भक्तों को भी स्वयं अपना चरण-कमल प्रदान कर देते हैं, जिससे उनकी सब इच्छाएँ ही आप-से-आप समाप्त हो जाती हैं। भगवान् की जीवों पर कृपालुता असीम होती है—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥
(भाग० ५। १९। २७)

आत्मनिवेदन की विशिष्टता

भक्ति के द्वारा ही भगवान् का अनुग्रह हमें प्राप्त हो सकता है। बिना भक्ति के ज्ञान और कर्म हस्तिस्नान की तरह बिल्कुल निष्फल हैं। प्रह्लादजी ने दान, व्रत, शौच आदि को व्यर्थ बतला कर भगवान् के प्रीतिसंपादन करने के लिए निर्मला तथा निष्काम भक्ति को ही एकमात्र साधन बतलाया है—

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥
(भाग० ७। ७। ५२)

परंतु भक्ति तो नवधा ठहरी। श्रवण, कीर्तन, वंदनादि के द्वारा भक्ति की जाती है, परंतु श्रवणादि भक्ति के बहिरंग साधन के समान प्रतीत होते हैं। इनमें भक्त की भगवान् से पृथक् ही सत्ता बनी रहती है, तादात्म्य का पक्का रंग अभी तक चढ़ा हुआ नहीं दीख पड़ता। 'एकात्मता' की ऊँची सीढ़ी अभी दूर ही दृष्टिगोचर होती है। इसके लिए अंतिम भक्ति-प्रकार आत्मनिवेदन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। गीता मे इसका सूत्र मिलता है, भागवत में इसका भाष्य। भागवत ने आत्म-निवेदन से सद्यः अमृतत्वलाभ तथा कृष्णैकात्म्य की प्राप्ति बतलायी है। एकादश में भगवान् का स्वयं कहना है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥
(११।२९।३४)

जब तक भगवदर्पण नहीं किया जाय, वेदविहित त्रिवर्ग एकदम मिथ्या हैं, यह प्रह्लादजी का कथन (७।३।२६) बिल्कुल सत्य है। अतः भक्ति के सब प्रकारों में आचार्य जी ने आत्मनिवेदन को जो अपना मंत्र बनाया वह भागवत के सर्वथा संमत ही है।

शरणागति

श्री कृष्ण के शरण में बिना गए मनुष्य का कल्याण साधन नहीं हो सकता। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीता बतलाती है। भागवत में भी इस विषय का बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन हम पाते हैं। जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर दूसरे की शरण में जाता है, वह मूर्ख कुत्ते की पूंछ पकड़ कर समुद्र को पार करना चाहता है—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्॥
(भाग० ६।९।२२)

तापत्रय से संतप्त मनुष्य के लिए भगवान् का पादपद्म ही तो एकमात्र शरण है। उद्धवजी का कथन है—

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥
(भाग० ११ । १९ । ९)

ऐसे मनुष्य को क्लेश किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते (भाग० ३ । २२ । ३५) तथा अपनी भृकुटि से समस्त विश्व को ध्वंस करनेवाला यमराज भी ऐसे मनुष्य को अपने प्रभाव के बाहर समझता है (भाग० ४ । २४ । ५६)। ऐसा होना उचित ही है, क्योंकि भगवान् के पादपद्म 'अभयं' सर्वतो भयशून्य हैं, 'ऋतं' अविनाशी हैं तथा 'अशोकं' नितरां शोकरहित हैं—

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥
(१०।५१।५८)

जब तक हम भगवान् के शरणापन्न नहीं हैं, तभी तक ही यह गृह कारागृह है, राग-द्वेष चौर हैं, मोह पादबंधन है। शरणागति के अनंतर तो भगवद्भक्ति के साधक होने से इनमें स्वार्थ के कीड़े मर जाते हैं; ये सब परार्थ होने से श्लाघनीय बन जाते हैं।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

अतः मुक्तिसाधन में शरणागति का बड़ा उपयोग है। महाप्रभुजी ने शरणमन्त्र को अपना कर अपनी भागवत-तत्त्वज्ञता का गहरा परिचय दिया है।

अब तक के विवेचन से यह बात किसी भी आलोचक को स्पष्ट मालूम पड़ जाएगी कि पुष्टिमार्ग का उपरिविवेचित रूप भागवत के आधार पर है। इसी लिये इस मत के आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के बाद 'व्यास की समाधि भाषा'—भागवत—को भी प्रमाण—चतुष्टय में ठीक ही गिनाया है[1]।

(५)

पुष्टिमार्गीय साहित्य

पुष्टिमार्गीय साहित्य मात्रा में कुछ कम नहीं है, परंतु उसके मूलभूत ग्रंथ दो ही माने जा सकते हैं जिनकी व्याख्या-सम्पत्ति ने इस साहित्य को समृद्ध तथा मांसल बनाया है। एक है ब्रह्म-सूत्र और दूसरा है श्रीमद्भागवत। वल्लभाचार्य ने इन दोनों ग्रंथ-रत्नों की प्रभा को अपने अणुभाष्य तथा सुबोधिनी के द्वारा बड़ी ही सरसता तथा विद्वत्ता के साथ प्रकटित किया है। प्रतीत होता है कि आचार्य-चरण के ये दोनों ग्रन्थ मूलतः पूर्ण थे, परंतु उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ की मृत्यु के अनंतर उनके परिवार में उत्पन्न अव्यवस्था के कारण ये ग्रंथ छिन्न-भिन्न हो गए। श्रीविट्ठलनाथ जी को ब्रह्मसूत्र के आदि के केवल अढ़ाई अध्यायों के ऊपर ही अणुभाष्य उपलब्ध हुआ और उन्होंने स्वयं अंतिम डेढ़ अध्यायों के ऊपर भाष्य लिखकर इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की पूर्ति की। सुबोधिनी आज भी खंडित ही उपलब्ध होती है।

---

१ वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥ ७९ ॥
(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ४६)

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम स्कन्धों पर पूरी तथा एकादश स्कन्ध के कतिपय अध्यायों पर ही सुबोधिनी प्राप्त होती है।

अणुभाष्य ही पुष्टिमार्ग का सर्वस्व है। इसकी व्याख्या-सम्पत्ति भी विपुल है। विट्ठलनाथजी की मृत्यु (सं० १६४२) के लगभग सौ वर्षों के अनंतर पुरुषोत्तमजी ने सर्वप्रथम अणुभाष्य के ऊपर 'भाष्यप्रकाश' नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्यान लिखा जिसे हम अणुभाष्य की सर्वप्रथम तथा सर्वोत्तम व्याख्या कह सकते हैं। इनका जन्म वल्लभाचार्य से सातवीं पीढ़ी में सं० १७२४ में हुआ था। इनका आरंभिक जीवन मथुरा में तथा पश्चात् सूरत में बीता। 'भाष्यप्रकाश' पर इनके गुरु कृष्णचंद्र महाराज की ब्रह्मसूत्र-वृत्ति (भावप्रकाशिका) का विशेष प्रभाव पड़ा है। भाष्यप्रकाश अणुभाष्य के गूढ़ार्थ के प्रकाशक होने के अतिरिक्त अन्य भाष्यों का तुलनात्मक विवेचक भी है और यही इस ग्रंथ-रत्न की विशिष्टता है। पुरुषोत्तम जी के अन्य मान्य ग्रंथों में (१) सुबोधिनी प्रकाश, (२) उपनिषद्दीपिका, (३) आवरणभंग, (४) प्रस्थान-रत्नाकर, (५) सुवर्णसूत्र ('विद्वन्मंडन' की पांडित्यपूर्ण विवृत्ति), (६) अमृत-तरंगिणी (गीता की पुष्टिमार्गीय टीका) तथा (७) षोडशग्रंथ-विवृत्ति मुख्य हैं। इनका निधन १७८१ सं० में माना जाता है। अणुभाष्य की ओर आकृष्ट होने वाले पंडितों में मथुरानाथ तथा मुरलीधर जी का भी नाम उल्लेखनीय है। प्रथम ने 'प्रकाश' तथा द्वितीय ने 'सिद्धांत प्रदीप' लिखकर अणुभाष्य के सिद्धांत को बोधगम्य बनाया। ये दोनों टीकायें पुरुषोत्तम जी की व्याख्या से स्वतंत्र हैं।

'भाष्यप्रकाश' के ऊपर 'रश्मि' नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्यान

लिखकर गोपेश्वरजी (सं० १८३६–१८६४ सं०) ने संप्रदाय के लिए बड़े हित की बात की। यह रश्मि भाष्यप्रकाश के गूढ़ स्थलों पर ही अपनी प्रभा नहीं बिखरती है, प्रत्युत अणुभाष्य को भी विस्तार से समझाती है। इस प्रकार प्रकाश की त्रुटि की मार्जना करनेमें वह कृतकार्य होती है। गोपेश्वरजीके शिष्य काशी गोपाल–मंदिर के स्वामी गिरिधर जी महाराज ने भी अणुभाष्य को अपनी पांडित्यपूर्ण टीका से मंडित किया। ये व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वान्‌ होने के अतिरिक्त पाठभेद के प्रवीण समीक्षक थे। अतः अणुभाष्य में अनेक पाठों का विवेचन कर मूल ग्रंथ के विशुद्ध पाठ को इन्हों ने ठीक किया है। इनका विख्यात ग्रंथ 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' शुद्धाद्वैत के सिद्धांतों के प्रकाशन में सचमुच मार्तंड ही है।

अनेक विद्वानों ने पुष्टिमार्ग से सिद्धांतनुसार ब्रह्मसूत्र के ऊपर स्वतंत्र वृत्तियाँ भी लिखी हैं जिनमें दो मुख्य हैं—

(१) कृष्णचंद्र महाराज की भावप्रकाशिका वृत्ति। ये पुरुषोत्तम जी के मान्य गुरु थे। संभव है कि इसकी रचना में योग्य शिष्य का भी कुछ हाथ हो। मात्रा में यह वृत्ति अणुभाष्य से भी बढ़कर है।

(२) भट्ट ब्रजनाथ की मरीचिका—यह वृत्ति मूल अर्थ के समझने मे बड़ी ही उपयोगिनी है तथा अणुभाष्य के ऊपर अवलंबित है।

आचार्य वल्लभ तथा उनके सुयोग्य पुत्र विट्ठलनाथ जी ने उभय प्रकार के ग्रंथों का प्रणयन सामान्य जन तथा विशिष्ट विद्वानों के लाभ के लिए किया। आचार्यचरण के ग्रंथ तो संप्रदाय के लिए मूल ग्रंथ के समान मान्य तथा श्लाघ्य हैं।

इनके प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं—(१) ब्रह्म सूत्र का भाष्य (अणु-भाष्य), (२) तत्त्वदीप निबंध (भागवत के सिद्धांतों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रंथ), (३) सुबोधिनी (भागवत की मार्मिक टीका), (४) भागवत सूक्ष्मटीका, (५) पूर्व मीमांसा भाष्य (त्रुटित) (६) लघुकाय सिद्धांत-प्रतिपादक षोडश ग्रंथ।

विट्ठलनाथ जी के ग्रंथों में मान्य ग्रंथ ये हैं—

(१) निबंधप्रकाश, (२) विद्वन्मंडन, (३) श्रृंगाररस-मंडन (४) सुबोधिनी टिप्पण (५) अणुभाष्य के अंतिम डेढ़ अध्यायों के ऊपर भाष्य जिसे लिख कर इन्होंने भाष्य की पूर्ति की। पूर्वनिर्दिष्ट होने पर भी यहाँ उनका उल्लेख विषय की पूर्ति के लिए किया गया है।

(६)

अष्टछाप

सूरदास—अष्टछाप के कवियों ने भगवान् श्रीकृष्णकी ललित लीलाओं के कीर्तनविषयक नाना प्रकार के पदों की रचना कर भक्ति-साहित्य को ही अग्रसर नहीं किया, प्रत्युत व्रजभाषा को भी सुगढ़ साहित्यिक भाषा का रूप दिया। इनमें सबसे श्रेष्ठ कवि निःसंदेह सूरदासजी थे। इनका जन्म आगरा मथुरा की सड़क पर स्थित 'रुकनता' नामक गाँव में १५३५ विक्रमी की वैशाख सुदी पंचमी को हुआ था। श्रीवल्लभाचार्य जी इनके पदों के लालित्य से इतने मुग्ध हुये कि उन्होंने श्रीनाथजी के कीर्तन के निमित्त अपने साथ वृंदावन लेते गये। सं० १५८० विक्रमी के आसपास ये आचार्य जी के शिष्य हुए और श्रीनाथजी के सामने कीर्तन

गाने का कार्य उनके अधीन किया गया। उनकी मृत्युतिथि के विषय में भी काफी मतभेद आलोचकों में बना हुआ है। कोई उनकी मृत्युकाल १६२० वि० मानता है, तो कोई १६३८ वि०। यदि पिछली तिथि ठीक हो तो उस समय इनकी आयु लगभग १०३ वर्ष की ठहरती है।

सूरदासजी का 'सूरसागर' वास्तव में व्रज साहित्य का मुकुट-मणि है जिसकी आभा समय के परिवर्तन तथा आलोचना की नई दिशा के उत्पन्न होने पर भी फीकी नहीं हुई है। इस ग्रंथरत्न में भगवान् श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन इतना साङ्गोपाङ्ग तथा ललित भाव से किया गया है कि इस जोड़ी का वर्णन साहित्यमें दूसरा नहीं है। तुलसीके समान सूरदासका काव्य-क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था कि मानव जीवन की विविध दशाओं में समावेश यहाँ किया जा सके, परंतु सीमित होने पर भी इनकी वाणी ने उस क्षेत्र का कोई भी कोना अछूना नहीं छोड़ा। शृंगार और वात्सल्य की सृष्टि में अंधे सूर को जो सूझी वह किसी भी चक्षुष्मान् कवि को नहीं सूझी। बालकाव्य वल्लभमतानुयायी कवियों का निजी क्षेत्र है जहाँ उनकी प्रतिभा अपना कमनीय जौहर दिखलाया करती है। इस विषय में सूर सबके अग्रणी हैं। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहाँ मिलेगा? इसी प्रकार गोपियों के प्रेम तथा विरह के चित्रण में सूरदास एकदम बेजोड़ हैं। ये मानव-हृदय के भीतर प्रवेश कर इतनी स्वभाविकता से उसकी वृत्तियाँ का चारु चित्र प्रस्तुत करते हैं कि देखनेवाला दंग रह जाता है। गोपियों के मुख से प्रेम के विलास की कितनी मार्मिक अभिव्यंजना सूरदास ने कराई है।

प्रेम के कारण दुःखमय जीवन बितानेवाली विरहिणी गोपियों का यह कथन कितना सटीक तथा सयुक्तिक है—

प्रीति करि काहू सुख ना लह्यो।
प्रीति पतङ्ग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो॥
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों संपति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नादसों सनमुख बान सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधो सों चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनों नैननि नीर बह्यो॥

राधाकृष्ण के प्रेम के प्रादुर्भाव की कैसी स्वाभाविक परिस्थिति का चित्र है; यह देखियेः—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन कर ते धार चलति पय, मोहनि मुख अति ही छबि बाढ़ी।

संध्या होने पर कभी तो गोपियों को यह स्मरण आता है—

एहि बेरियाँ वनते चलि आवते।
दूरहि तें वह धेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥

कभी कभी अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वे वृन्दावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुवन! तुम कस रहत हरे?
विरह वियोग स्याम सुन्दर कै ठाढ़े क्यों न जरे॥
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
कौन काज ठाढ़े रहे वनमें काहे न उकठि परे॥

जब उद्धव बहुत-सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोक कर इस प्रकार पूछती हैं—

निर्गुन कौन देश को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥
रेख न रूप बरन जाके नहिं, ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ दरस ऐसो को तुम कबहूँ हौ पावत।
मुरली धरत अधर है सो, पुनि गोधन बन बन चारत।
नैन विशाल भौंह बंकट करि देख्यौ कबहुँ निहारत।
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि पीतांबर तेहि सोहत।
सूर स्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यों तुमको सोउ मोहत।

सूरदास की मृत्यु सं० १६३८ विक्रमी (=१५८१ ई०) में अनुमान से मानी गई है। उस समय इनकी आयु लगभग १०३ वर्ष की थी[1]।

परमानन्द दास—इनका निवासस्थान कन्नौज जिला फर्रुखाबाद में था। आप कनौजिया ब्राह्मण थे। ये गृहस्थी के प्रपञ्च में कभी नहीं फंसे क्योंकि इन्होंने अपना विवाह तक नहीं किया था। ये बड़े ही भारी कीर्तनकार तथा काव्य-रचयिता थे। इनके काव्य तथा कीर्तनों का ऐसा प्रभाव पड़ता था कि सुनने-वाले भावमग्न हो जाते थे। वल्लभाचार्यजी को ये एक बार व्रज जाते समय अपने गाँव ले गये थे और वहीं उन्होंने विरह का यह पद इतना भावभङ्गी से सुनाया कि आचार्यजी उसको सुनकर तीन दिन तक ध्यानावस्थित रहे। वह सुप्रसिद्ध पद यह है—

---

१ दीनदयाल गुप्त—अष्टछाप पृ० २१६।

हरि तेरी लीला की सुधि आवे।
कमल नयन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावे॥
एक बार जेहि मिलत मया करि सो कैसे बिसरावे।
मुख मुसुकानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावे॥
कबहुँक निबड़ तिमिर आलिंगित कबहुँक पिक सुर गावे।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि सङ्गहीन उठि धावे॥
कबहुँक नयन मूँदि अन्तरगति मनि माला पहिरावे।
परमानन्द प्रभु श्याम ध्यान करि ऐसे विरह गमावे॥

अष्टछाप में सूरदास और परमानंद दास ये दो ही सर्व-श्रेष्ठ माने जाते हैं क्योंकि इन दोनों ने ही कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाओं का गान सबसे अधिक मार्मिक शब्दों में किया था। इसीलिये गोस्वामी जी ने सूर और परमानंद दोनों को ही 'सागर' कहा है। आप लोग बड़े ही सुंदर कीर्तन गाते थे। इसलिये आप के पास भावुक भक्तों की सदा भीड़ लगी रहती थी। इन्होंने अपनी समग्र काव्यशक्ति वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के प्रचार और प्रसार में लगाया। ये प्रथम कोटि के वैष्णव थे जिन्हें नंद और यशोदा से विरहित होने के कारण वैकुंठ की भी तनिक लालसा न थी। इन्होंने एक पद में गाया है—

कहा करौं बैकुण्ठहिं जाय।
जहँ नहिं नन्द जहाँ न यशोदा नहि जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहिं कदमन का छाय।
'परमानन्द' प्रभु चतुर ग्वालिनीं व्रज रज तजि मेरी जाय बलाय।

वल्लभ संप्रदाय में यह विश्वास दृढ़मूल है कि सूरदास आचार्य चरण के समवयस्क थे, परंतु परामनंद दास जी उनसे

१५ वर्ष छोटे थे। इसी मान्यता के आधार पर इनका जन्मकाल १५५० वि० सं० (१५३५ वि० + १५) ठहरता है। १५७६ वि० में लगभग २६ वर्ष की अवस्था में ये वल्लभाचार्य के शिष्य बने अर्थात् सूरदास के शरणापन्न होने के अनंतर ही ये संप्रदाय में आये। इनकी मृत्यु का अनुमान १६४० सं० में किया जाता है। सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार परमानंद जी दिन की गोचारण लीला में 'तोक' सखा और रात्रि की कुंजलीला में 'चंद्रभागा' सखी माने जाते थे। इनके पदों का संग्रह 'परमानंद सागर' के नाम से प्राप्त होता है, परंतु अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

कुंभनदास जी—ये जाति के क्षत्री थे। श्रीगोवर्धन के निकट 'जमुनावत' गाँव में रहते थे और वहीं इनका जन्म भी हुआ था। उन दिनों जमुनाजी का प्रवाह इस गाँव के निकट था। उनका खेत पारसोली चंद्र सरोवर के ऊपर पड़ता था और वहीं ये खेती करके अपना जीवन निर्वाह करते थे। आप पूरे विरक्त और धनमान मर्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सिकरी जाना पड़ा था। वहाँ उनका बड़ा सम्मान हुआ। परन्तु बादशाह के सामने जाने का इन्हें इतना विषाद हुआ कि इन्होंने अपनी विषण्ण दशा का वर्णन तत्काल रचित इस पद में प्रकट किया—

भक्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैया टूटी, बिसरि गयो हरि नाम।
जाको मुख देखे दुख लागे ताको करन परी परनाम॥
'कुम्भनदास' लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।

इनके पद बड़े ही सुंदर तथा रोचक होते थे जिनको सुनने की लालसा से हित हरिवंश तथा स्वामी हरिदास जैसे संत महात्मा इनके यहाँ आते थे। इतने निःस्पृह थे कि जैपुर के राजा मानसिंह ने इनका दर्शन कर मोहरों की थैली देनी चाही जिसे इन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया। यह अंतिम पद गाते हुए इन्होंने अपना शरीर त्याग किया—

रसिकनी रसमैं रहत गड़ी।
कनकबेलि वृषभानु-नन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी।
बिहरत श्रीगिरिधरलाल संग कोने पाठ पढ़ी।
कुंभनदास प्रभु गोवर्द्धनधर रति रसकेलि बढ़ी।

वार्ताओं के आधार पर इनका जन्मकाल लगभग १५२५ विक्रमी, तथा शरणागति काल १५४६ वि० है। कुम्भनदास जी सूरदास जी की मृत्यु के समय (सं० १६३८) जीवित थे तथा परमानंद दास जी के गोलोकवास से पूर्व ही इनका निधन हो चुका था। अतः इनका निधन दोनों के बीच में अर्थात् १६३६ विक्रमी में माना जाना चाहिए।

कृष्णदासजी—ये भी वल्लभाचार्य जी के शिष्य और अष्ट-छाप में थे। इनका जन्म गुजरात के 'चिलोतरा' नामक ग्राम में कुनबी के घर हुआ था। ये जाति के शूद्र थे। परंतु आचार्य जी के बड़े कृपा-पात्र थे और मंदिर के प्रधान मुखिया हो गये थे। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में इनका विस्तार से वृत्त दिया गया है। एक बार गोसाईं विट्ठल जी से किसी बात पर अनबन हो जाने के कारण इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इस पर गोसाईं जी के कृपापात्र बीरबल ने उनको कैद कर

लिया। पीछे गोसाईं जी इस बात से बड़े दुःखी हुये और इनको कारागार से मुक्त करा कर प्रधान के पद फिर ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित कर दिया।

आपने भी राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार के बड़े सुंदर पद गाये हैं। 'जुगल-मान चरित्र' नामक एक छोटा सा ग्रंथ आपका मिलता है। भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण नाम के इनके दो और ग्रंथ बतलाये जाते हैं। आपका पद यहाँ दिया जा रहा है। कहते हैं इसी पद को गा कर कृष्णदास ने शरीर छोड़ा—

मो मन गिरधर छबि पर अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो॥

वल्लभ संप्रदाय के इतिहास में कृष्णदास जी मंदिर के अधिकार तथा सुव्यवस्था के कारण इतने प्रसिद्ध हैं कि आजतक श्रीनाथ जी के स्थान पर 'कृष्णदास अधिकारी' की ही मोहर लगती है और इनके नाम के नीचे काम करनेवाले अधिकारी के हस्ताक्षर रहते हैं।

श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी को सं० १५६६ की अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) के दिन नवीन मंदिर में प्रविष्ट किया था; यह घटना सप्रमाण सिद्ध है। उसी के कुछ ही दिन पहिले कृष्णदास जी आचार्य जी के शरण में आये थे। सुनते हैं कि उस समय इनकी उम्र १३ वर्ष की थी। अतः इनका जन्मकाल १५५२ वि० के आसपास मानना चाहिए। सं० १६३१ वि० तक इनके जीवित रहने का अनुमान लगाया गया है।

नंददास—अष्टछाप के कवियों में सूरदास के अनंतर इनकी ही विमल ख्याति भक्त तथा कवि के रूप में सर्वत्र जागरूक है। इनके जीवनचरित के विषय में वार्ता-ग्रंथों ने बड़ा घपला कर रखा है जिससे सत्य का ठीक ठीक पता नहीं चलता। वार्ता में ये तुलसीदास के छोटे भाई बतलाये गये हैं, परंतु अभी तक तुलसीदास तथा गोस्वामी तुलसीदास की अभिन्नता स्पष्ट प्रमाणों पर सिद्ध नहीं हो सकी है। ये विठ्ठलनाथ जी के शिष्य थे। काव्य-कला में विशिष्ट चातुरी के कारण ही ये आलोचक-समाज में 'जड़िया' की उपाधि से मण्डित किये गये हैं। अन्य कवि लोग तो हैं केवल गढ़िया, गढ़ने वाले, परंतु नंददास जी थे जड़िया, जड़नेवाले, कविता कामिनी के श्रृंगार को जड़नेवाले, कलावंत। इनके ग्रंथों की संख्या काफी अधिक है। संस्कृत के अच्छे पंडित होने के कारण इन्होंने संस्कृत से अनभिज्ञ भगवद्-भक्तों के लिए भागवत के दशम स्कंध का पूरा अनुवाद हिंदी में प्रस्तुत किया। इनकी सर्वोत्तम रचनायें हैं—**रास पंचाध्यायी** तथा **भ्रमर-गीत**। इनके समकालीन ध्रुवदास जी ने इनकी भक्ति-रसिकता को सुंदर पंक्तियों में अंकित किया है—

> नंददास जो कछु कह्यौ, रागरंगमें पागि।
> अच्छर सरस सनेहमय, सुनत होत हिय जागि॥
> रसिक दसा अद्भुत हुती, करत कवित्त सुढ़ार।
> बात प्रेम की सुनत ही, छुटत प्रेम-जल धार॥

नंददास जी परम भागवत तथा उच्च प्रतिभावान् कवि थे। इनका जीवन-काल लगभग १५९० वि०—१६४० वि० के बीच माना जा सकता है। इनकी कविता तथा भक्तिभावना की

बात से आकृष्ट होकर अकबर ने अपनी व्रजयात्रा के प्रसंग में बीरबल के द्वारा नंददास को बुलाया था तथा उनसे भेंट की थी, यह वार्ता से स्पष्ट प्रमाणित है[1]।

'भ्रमरगीत में' उद्धव के 'निर्गुण' उपदेश पर गोपियाँ कहती है—

जौ उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमैं, मोहि तुम कहो, कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह री, माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल बारि जल कीच॥
सखा सुन स्याम के॥

करुनामई रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
जब ही ज्यों नहि लखो तबहि लौं बाँधी मूठी॥
मैं जानौ ब्रज जायकैं, तुम्हरो निर्दय रूप।
जो तुमको अवलंब हीं, ताको डारौ कूप॥
कौन यह धर्म है।

छीत स्वामी—आप पहले मथुरा के एक सुप्रसिद्ध सुसम्पन्न पंडा थे। राजा बीरबल जैसे लोग इनके यजमान थे। पंडा होने के कारण ये बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे। पीछे गोस्वामी विट्ठल-नाथ जी से मंत्रदीक्षा लेकर परम शांत भक्त हो गये और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। सं० १६१२ के लगभग आपने रचनाएँ की। इनके फुटकर पद ही लोगों के मुख से

---

१ नंददास की ग्रंथावली नागरी प्रचारिणी सभासे हाल में ही प्रकाशित हुई है।

सुने जाते हैं या इधर उधर संगृहीत मिलते हैं। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त व्रजभूमि के प्रति प्रेम-व्यञ्जना भी अच्छी पायी जाती है—

हे विधना ! तोसों अंचरा पसारि मांगौ
जनम जनम दीजो याही व्रज बसिबो।

यह आप का ही पद है। इनके पदों में सरसता और मधुरता ओत-प्रोत है।

भोर भये नव कुञ्ज-सदन ते आवत लाल गोवर्धन धारी।
लटपटि पाग, मरगजी माला, सिथिल अंग, डगमग गति न्यारी।
बिनु गुन माल विराजति उर पर नखछ्त द्वैज चंद अनुहारी।
छीत स्वामि जब चितये मो तन तब हौं निरखि गये बलिहारी।

गोविंद स्वामी—श्रीगोविंद स्वामी अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये विरक्त होकर महावन में रहने लगे थे। पीछे गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए जिन्होंने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर अष्टछाप में लिया। इनका रचना-काल सं० १६०० से १६२५ तक माना जा सकता है। ये गोवर्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही आपने कदंबों का एक उपवन लगाया था जो आज तक भी 'गोविंद स्वामी की कदंब खंडी' कहलाता है। ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये थे। तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने के लिये भी आया करते थे।

गोविंद स्वामी गोकुल में रहते थे। पर श्रीयमुना जी में पांव नहीं देते थे। वह यमुना जी को साक्षात् श्रीस्वामिनी जी मानते थे। श्रीयमुना जी का दर्शन करते, दंडवत करते, उनका जलपान भी करते परंतु पांव कभी न धोते। एक दिन कई संतों ने मिलकर इन्हें बलात् यमुना जी में नहलाना चाहा। इस पर इन्होंने प्रार्थना की कि यह मलमूत्र से भरा शरीर मां यमुना के योग्य नहीं है। यमुना जी तो साक्षात् श्रीस्वामिनी जी हैं। अतः इस अधम देह को स्पर्श न करायें। श्रीयमुना जी में तो सिर्फ उत्तम सामग्री अर्पण करनी चाहिये। यह सुनकर सब संत चुप हो गये। *

गोविंद स्वामी भक्त तथा उच्च कोटि के कवि होने के अतिरिक्त एक उच्चकोटि के गायक थे। वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने से पहिले भी इनके अनेक शिष्य गानविद्या के अनुशीलन में हो गए थे और इसी आचार्यत्व के कारण ये 'स्वामी' पदवी से विभूषित किये गये थे। वार्ता का कथन है कि अकबरी दरबार का गायक-रत्न तानसेन भी हरिदास स्वामी जी के शिष्य होने पर भी इनसे गाना सीखने आता था। स्वामीजी के सहस्रावधि पद सुने जाते हैं परंतु आजकल केवल २५२ पदों की ही उपलब्धि वैष्णव घरानों में होती है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार गोविद स्वामी विक्रमी १५९२ सं० (=१५३६ ईस्वी) में गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शरण में आये थे। उस समय इनकी काव्यकला तथा गानविद्या की ख्याति पर्याप्त रूप से हो चुकी थी। १६४२ वि० (=१५८६ ई०) में विट्ठलनाथ की मृत्यु के कुछ ही बाद इनका भी निधन संपन्न हुआ। बालकृष्ण की भव्य झाँकी इस पद में देखिए—

प्रात समै उठि जसुमति जननी, गिरिधर सुतको उबटि न्हवावति।
करि श्रृंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि-रचि पाग बनावति।
छुटे बंद बागे अति शोभित बिच-बिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित आजु कि छबि कछु कहति न आवति।
विविध कुसुम की माला उर धरि श्रीकर मुरली बेत गहावति।
लै दरपन देखे श्रीमुख को गोविंद प्रभु चरननि सिर नावति॥

चतुर्भुजदास—अष्टछाप के ही पूर्ववर्णित कुंभनदास जी के सबसे छोटे पुत्र थे। पिता की वैष्णव भक्ति तथा निर्मल आचार का प्रभाव पुत्र के ऊपर पूरी मात्रा में पड़ा था। ये श्रीनाथ जी के ही समक्ष गाया करते थे तथा दूसरे किसी के आगे ये कभी गाते ही न थे। सुनते हैं कि एक बार बड़ी सुंदर रास चल रही थी। गोसाईं जी के पुत्र श्रीगोकुलनाथ जी ने इनसे गाने के लिए कहा, परंतु इन्होंने इस लिए अस्वीकार कर दिया कि अभी तक श्रीनाथ जी का इस स्थान पर प्राकट्य नहीं हुआ है। भक्त की बानी को सिद्ध करने के लिए श्रीनाथजी के आगमन होने पर ही इन्होंने आनंदमग्न चित्त से गाया—

अद्भुत नट भेस धरे जमुना तट स्यामसुंदर
गुननिधान गिरिवरधर रासरंग राचे॥

इनका जन्मकाल तथा शरणागति का संवत् एक ही माना जाता है वि० सं० १५६७ (= १५५१ ई०)। केवल ५४ वर्ष की अवस्था में सं० १६५२ में इनका निधन हुआ। ये गोसाईं विट्ठलनाथ जी के मान्य शिष्यों में थे। चरित था एकदम उदार, हृदय था भक्तिभावना से पूरित तथा काव्य था भगवान् की स्वानुभूत लीला के वर्णन से रसस्निग्ध। अपने पिता के समान ही पुष्टिमार्ग की पुष्टि में निरंतर लगे रहे।

—❀—

(६)

राधावल्लभीय संप्रदाय

(१) आचार्य हितहरिवंश जी
(२) अन्य आचार्यगण
(३) संप्रदाय के सिद्धांत

राधाकरावचित-पल्लव-व्वल्लरीके
राधापदाब्ज-विलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखर-मत्तखगावलीके
राधाविहार-विपिने रमतां मनो मे ।

—हितहरिवंशजी

१—हितहरिवंशजी

राधावल्लभीय संप्रदाय को कुछ लोग निम्बार्क मत की वृंदावनी शाखा मानते हैं और कुछ लोग चैतन्य मत का; परंतु वस्तुतः यह एक स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय है जो ठेठ व्रजमंडल में ही उत्पन्न हुआ और यहीं खूब फूला फला। इसके अनुयायियों का प्रधान अखाड़ा आज भी व्रजमंडल ही है। संप्रदाय की साधना-पद्धति इसे एक स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय मानने के लिए बाध्य करती है। नाभादासजी ने भी इस पंथ की सेवापद्धति या रसचर्या को साधारण मानवों के लिए नितांत दुष्कर तथा कठिन बतलाया है।

इस संप्रदाय को जन्म देनेवाले महात्मा श्रीहितहरिवंशजी थे जो वैष्णवमतानुसार श्रीकृष्णचंद्र की मुरली के अवतार माने जाते हैं। उनकी कविता इतनी सरस तथा स्निग्ध है कि आश्चर्य नहीं भक्तों के कर्णकुहरों में वह वंशीनिनाद के समान ही सुधा-रस बरसाती है। इन महापुरुष के जन्मस्थान तथा आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में अभी तक ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग इन्हें सहारनपुर जिले के देवबंद नामक स्थान का निवासी मानते हैं[१]। परंतु बात यह ठीक नहीं है। इनके पिता देवबंद में रहते जरूर थे, परंतु इनका जन्म हुआ था व्रजमंडल, मथुरा से चार कोस की दूरी पर स्थित 'बाद' नामक ग्राम में; क्योंकि गोसाईं जी के अनन्य शिष्य 'सेवक जी' इसके प्रमाण हैं—

---

१ मिश्रबंधु विनोद पृ० २५० (द्वितीय संस्करण)

धर्मरहित जानी सब दुनी।
जहाँ 'बाद' प्रगटे जगधनी॥

ये गौड़ ब्राह्मण थे और आज भी इनके वंशज देवबन्द तथा वृंदावन दोनों स्थानों पर पाए जाते हैं। इनके पिता का नाम था केशवदास मिश्र, उपनाम व्यासजी तथा माता का तारावती। व्यासजी असल में सहारनपुर के पास देवबंद के निवासी थे। वे बड़े पंडित थे। बादशाह के साथ दौरे में अपनी पत्नी तारावती देवी के साथ घूम रहे थे। इसी समय 'बाद' ग्राम में श्रीहरिवंश जी का प्राकट्य हुआ। थोड़ी अवस्था में ही इन्हें श्रीराधिका जी से स्वप्न में गुरुमंत्र की दीक्षा मिल गई थी। देवबंद में ही पहिले रहते थे। वहाँ इनके घर के पास ही एक कुँआ था जिसके भीतर से इन्होंने श्रीरंगलालजी की मूर्ति को निकाला तथा मंदिर बनाकर उसकी पूजा अर्चा किया करते थे।

इनके जन्म-संवत् के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद पाया जाता है। मिश्र - बंधुओं के अनुसार इनका जन्म १५३० संवत् में हुआ था[१], परंतु इन्हीं के संप्रदायानुसारी भगवत्मुदित नामक भक्त द्वारा निर्मित 'हित हरिवंश चरित्र' ग्रंथ के अनुसार इनका जन्म संवत् १५५६ (१५०२ ई०) में हुआ था। हितहरिवंश जी अपने गाँव देवबंद में रहकर गार्हस्थ्य जीवन में ही भगवान् की अर्चा-पूजा में निमग्न रहते थे। अनंतर श्रीराधिकाजी की आज्ञा से ये घरबार छोड़ वृंदावन के लिए चले पड़े। रास्ते में 'चिड़-थावल' नामक ग्राम के निवासी आत्मदेव नामक ब्राह्मण ने अपनी दो कन्याएँ तथा साथ में श्रीकृष्णचंद्र की एक सुंदर मूर्ति

---

१ वही पृ० २५१ ,, ,,

अर्पित की। यह राधावल्लभ जी का विग्रह था जिसे हरिवंश जी ने वृंदावन में मंदिर बनवा कर स्थापित किया[१]।

उसी की पूजा-अर्चा में ये सदा मस्त बने हुए जीवन यापन करते थे। १५९१ विक्रमी में इस मंदिर का प्रथम 'पट महोत्सव' हुआ था जिसकी सूचना भगवत्मुदित के पूर्वोक्त ग्रंथ से चलती है[२]। ये राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक थे तथा युगल उपासना का उपदेश इनके सिद्धांत का सार अंश था। कृष्ण की अपेक्षा श्रीराधारानी की पूजा तथा भक्ति को इन्होंने अधिक महत्त्वशालिनी तथा शीघ्र फलदायिनी अंगीकार किया है। कहते हैं कि श्रीहरिवंशजी ने स्वप्न में श्रीराधिका जी से मंत्र ग्रहण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। ये गृहस्थ थे। इनके चार पुत्र तथा एक कन्या मानी जाती हैं। परंतु गृहस्थ होकर भी ये विरक्तों में भी विरक्त थे। पचास वर्ष की आयु में संवत् १६०९ विक्रमी की शारदीय पूर्णिमा के दिन आपने अपनी अंतरंगलीला में प्रवेश किया।

मार्ग की विशिष्टता

भगवान् राधावल्लभ जी की उपासना तथा उनकी प्रेमाभक्ति का उपदेश ही हितजी के जीवन का सर्वस्व था और भक्ति-पक्ष राधावल्लभ की मधुर उपासना था।

भक्तवर नाभादास जी की दृष्टि में गोसाईं जी की प्रेमाभक्ति का यह प्रकार नितांत कठिन तथा दुरूह है। उनका कहना है—

---

१ द्रष्टव्य राधा सुधानिधि की भूमिका पृ० ३५—३७

२ पन्द्रह सौ इक्यानवे सुहायो कातिक सुदि तेरस सुख छायो।
पट महोत्सव ता दिन कियो, याचक गुनियन बहु धन दियो॥

श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है।
श्री राधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत षवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्धता के अधिकारी।
विधि निषेध नहिं, दास अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है
श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है[1]।

यह छप्पय इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हितहरिवंश जी की प्रेमाभक्ति का परिचय पाना साधारण जन का नहीं, किसी पुण्यसंपन्न संत का ही अधिकार है। इस भक्ति में न तो विधि के लिए स्थान है और न निषेध का निरोध। राधा के चरणारविंद की अनन्य उपासना ही भक्त के जीवन का लक्ष्य है और राधा-कृष्ण के केलिकुंज की खवासी करना—चाकरी करना ही भक्त का प्रधान कार्य है। माधुर्य रस से स्निग्ध यह उपासना विषयी मानवों की शक्ति तथा समझ के बाहर की बात है और इसी-लिए इसका अधिकारी वही हो सकता है जो गोसाईं जी के पवित्र पंथ का पथिक हो।

प्रियादास जी के अनुसार भी इस मार्ग में कृष्ण की अपेक्षा राधा का ही गौरव, सम्मान तथा भजन अधिक है जिसको लाखों में भी विरला ही मनुष्य समझ सकता है। जिसका हृदय ब्रज-चंद्र की भक्ति- चंद्रिका से स्निग्ध तथा पेशल नहीं हुआ है उसके लिए इस 'परम रस माधुरी' का स्वाद जानना असंभव ही है। प्रियादास जी का यह महत्त्वपूर्ण कथन इस प्रकार है—

---

१ भक्तमाल छप्पय नं० ९०

श्री हित जू की रति कोऊ लाखनि में एक जाने ।
राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइए ॥
निपट विकट भाव होत न सुभाव ऐसो ।
उनहीं की कृपा दृष्टि नेकु क्यों हूँ पाइए ॥
विधि और निषेध छेद डारे, प्रान प्यारे हिए ।
जिये निजदास निस दिन वहै गाइए ॥
सुखद चरित्र सब रसिक विचित्र नीके ।
जानत प्रसिद्ध महा कहि कै सुनाइए ॥

इनके ग्रंथों में अध्यात्मपक्ष का विवरण कम है, प्रत्युत राधा-कृष्ण की कुंज-केलि तथा वनविहार का नितांत ललित तथा शृंगारिक वर्णन भक्तों के मानस को बरबस आकृष्ट करता है। राधावल्लभीय मत शृंगार में संयोग पक्ष का ही पक्षपाती है, वह विरह-पक्ष की वेदना, पीड़ा तथा क्लेश से नितांत अपरिचित है। राधा तथा कृष्ण का मिलन नित्यवृंदावन में संपन्न होने वाली नित्य लीला है—वहाँ वियोग के पैर रखने की भी जगह नहीं। इसीलिए माधुरी भाव की इस भव्य उपासना में वियोग भावना का अस्तित्व नहीं।

ग्रंथ

गोस्वामी हित हरिवंश जी के दो प्रधान ग्रंथ हैं—

(१) राधा सुधानिधि (२७० पद्य)। यह संस्कृत में श्री राधारानी की प्रशस्त प्रशस्ति है। राधा के सौंदर्य, सेवाभाव तथा परिचर्यातत्त्व का मार्मिक वर्णन कर हरिवंश जी ने अपने प्रकृष्ट भक्ति तथा काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है[१]।

---

१ हिंदी अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन बाबा हितदास ने बाद ग्राम (पोष्ट बरारी, जिला मथुरा) से किया है।

(२) हित चौरासी (ब्रजभाषा में निबद्ध चौरासी पद)। इसके ऊपर अनेक प्राचीन टीकायें उपलब्ध होती हैं—(क) हित धरणीधर की टीका १६ वीं शती; (ख) गोस्वामी सुखलाल जी की १७ वीं शती, (ग) लोकनाथ जी की, (घ) श्री जुगल दास की, (ङ) प्रेमदास जी की, (च) केलिदास की १८ वीं शती, (छ) श्री रतनदास जी की आदि। इसमें सिद्धांत के पदों की विशेषता है तथा राधाकृष्ण की रूप-माधुरी तथा सेवा-माधुरी का उत्कृष्ट कवित्वमय वर्णन है।

इसके अतिरिक्त आशास्तव, चतुःश्लोकी, श्री यमुनाष्टक तथा राधातंत्र ग्रंथ भी इनके नाम से प्रसिद्ध हैं।

कविता

श्री हितजी की कविता भावुकता तथा भक्ति की दृष्टियों से नितांत उदात्त, रसपेशल तथा ललित भावमयी है। उसमें मुख्यतया हृदय-पक्ष का ही प्राबल्य है। कला-पक्ष अस्तित्वहीन न होने पर भी हृदयपक्ष का ही पोषक तथा संवर्धक है। श्री राधारानी की सुषमा का निरीक्षण कीजिए—

> ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुट मनि स्यामा आजु बनी।
> नख शिख लौं अँग-अंग-माधुरी मोहे स्याम धनी॥
> यौं राजत कबरी गूथित कच कनक कंजबदनी।
> चिकुर चंद्रकनि बीच अरध बिधु मानौं ग्रसत फनी॥
> (जै श्री) हितहरिबंश प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
> गावत स्रवननि सुनत सुखाकर बिस्वदुरित दवनी॥

स्वामी जी की भक्तिभावना ही उदात्त न थी, प्रत्युत वह स्वयं प्रेमाभक्ति की जीवन्त मूर्ति थे। भक्तवर व्यास जी का यह पद गोसाईं हित जी के सरस व्यक्तित्व की भव्य व्याख्या है—

हुतौ रसरसिकन कौ आधार।
बिन हरिवंसहि सरस रीति कौ, का पै चलिहैं भार ?
को राधा दुलरावै गावै बचन सुनावै चार।
वृंदावन की सहज माधुरी, कहि है कौन उदार॥
पद रचना अब का पै ह्वै है ? निरस भयौ संसार।
बडौ अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगौ ठाठ सिंगार॥
जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत, सहज रूप आगार।
'व्यास' एक कुल-कुमुद-चंद बिनु उडुगन जूठौ थार॥

इनके उपदेश का सारांश इन दोहों में मिल सकता है जिसे हरिवंशी मत की चतुःसूत्री कह सकते हैं—

तनहि राखु सतसंग में, मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश नित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥
सबसों हित निहकाम मन, वृंदावन विश्राम।
राधा वल्लभ लाल को हृदय ध्यान मुख नाम॥

श्री राधारानी के अनन्य उपासक हित जी की कविता माधुर्य तथा सरसता का ज्वलन्त प्रतीक है। श्री राधा जी की नाना अवस्थाओं का भव्य चित्र प्रस्तुत करने में इनकी समता शायदही अन्यत्र मिले। मिलन-कुंज में प्रवेश करने से पूर्व श्री राधिका जी के मधुरदर्शन की एक प्यारी झलक लीजिए—

आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई॥
सील सिंगार गुन सबनि तें आगरी।
कमल दच्छिन भुजा वामभुज अंसु सखि,
गावती सरल मिलि मधुर सुर राग री।
सकल विद्याविदित, रहसि हरिवंस हित,
मिलत नव कुंज वर स्याम बड़ भाग री।

(२)

अन्य आचार्यगण

श्रीव्यास जी

जय जय विशद व्यास की बानी
मूलाधार इष्ट रसमय, उत्कर्ष भक्तिरस सानी।
रस श्रृंगार सरस यमुना सम वर धारा बहरानी
विधि विषेध तरुवर तरु तोरत हरिजस जलधि समानी ॥
जुगल विहार विटप सों लिपटी सुबरन बेलि निवानी
लगे रँगीले सुमन जासु में फल रसमय निर्बानी ॥
—नील सखी

श्रीनीलसखी जी की यह उक्ति वास्तव में यथार्थ है। श्री व्यासजी की कविता युगल रस की माधुरी में सिक्त भक्त हृदय का मधुमय उद्गार है। व्यासजी वृंदावन की भक्तिलीला के यौवनकाल में आविर्भूत हुए। यह वह पावन समय था जिसने हरिदास स्वामी, स्वामी हितहरिवंश, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी जैसे तपस्वी भक्तों की मधुमय साधना को अपनी आँखों से निरखा था। मीराबाई ने अपने भावुक भजनों से उस काल के क्षण क्षण को गुंजारित किया था। सूरदास तथा परमानंद दास ने अपनी भक्तभावना को ललित पदों के द्वारा भक्तमंडली के सामने आविर्भूत किया था। मध्ययुग का यह पवित्र समय भक्ति के इतिहास में एकदम बेजोड़ है। इसी काल में वृंदावन के केलिनिकुंज में अपनी सरस मस्ती में गानेवाले श्रीव्यासजी की बाणी मुखरित हुई थी।

भक्तशिरोमणि व्यास जी का पूरा नाम था हरिराम शुक्ल। 'व्यास' तो उनकी उपाधि थी जिसे काशी के पंडितों ने उनकी कविता से मुग्ध होकर उन्हें प्रदान किया था। सं० १५६७ (=१५१० ई०) मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को हरिरामजी का जन्म ओड़छा के निवासी श्रीसुमोखन शुक्ल के घर उनकी धर्म-पत्नी श्रीपद्मावती देवी के कोख से हुआ था। ओड़छा नरेश के दरबार में इनके पिता का बड़ा आदर सम्मान था। फलतः इनके पिता का घर अतुल संपत्ति तथा विशाल वैभव के लिए नितांत विख्यात था और ओड़छे में 'व्यासपुरा' अपने अतीत गौरव के लिए आज भी प्रसिद्ध है। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता परम वैष्णव थे तथा चैतन्य महाप्रभु के गुरुभाई माधवदास जी के शिष्य थे। हरिराम जी ने अपने पूज्य पिताजी से वैष्णव दीक्षा ग्रहण की थी, इसके पोषक अनेक प्रमाण इनके ग्रंथ में उपलब्ध हैं। इन्होंने अपनी 'व्यासवाणी' के मंगलाचरण में अपने गुरु शुक्लजी का स्पष्ट निर्देश किया है:—

> बन्दौं श्री सुकल पदपंकजन
> सत्त चित् आनंद की निधि, गई हिय की जरन।

अन्यत्र भी 'जय जय श्री गुरु शुकल मोहि सरबस दियौ' आदि पदों के अध्ययन से इनके गुरु के विषय में भ्रम नहीं रहता। ऐसी स्पष्ट परिस्थिति में हितहरिवंशजी से इनका गुरु-शिष्य का नाता जोड़ना एकदम अनुचित है। हितहरिवंश तथा हरिदासजी को तो ये अपना परम प्रेमी सखा मानते थे। ओड़छे में रहते समय भी वृंदावन में निवास करने की लालसा का सूचक यह पद इस तथ्य को स्पष्ट ही प्रकट कर रहा है—

हम कब होहिगे ब्रजवासी ।
ठाकुर नंदकिसोर हमारे ठकुराइन राधा सी ॥
कब मिलि हैं वे सखी सहेली हरिवंसी हरिदासी ।

हरिवंश जी के पीछे हरिव्यास जी इस मत के एक सम्मान्य आचार्य हुए जिनके विषय में ध्रुवदास जी की यह प्रसिद्ध उक्ति है—

वरकिशोर दोउ लाड़िले, नवल प्रिया नव पीय ।
प्रगट देखियत जगत् मैं, रसिक व्यास के हीय ।

हरिव्यास जी के गुरु के विषय में मतभेद दीख पड़ता है। इन्होंने अपने पिता जी को ही अपना गुरु लिखा है, परंतु ध्रुवदास जैसे समकालीन ग्रंथकार के साक्ष्य पर ये हित हरिवंश जी के शिष्य तथा राधावल्लभजी के उपासक माने जाते हैं—

सेवक की सरि को करै भजन सरोवर हंस ।
मन बच कै धरि एक व्रत गाए श्री हरिबंश ॥

—भक्तनामावली दोहा ४४

दोनों में समन्वय किया जा सकता है। पिता जी इनके विद्यागुरु थे तथा हरिवंश जी दीक्षागुरु। ये वृंदावन में आकर गोस्वामी हरिवंश जी के दर्शन से ऐसे मोहित हुये कि उनके शिष्य बन गये। वृंदावन में ही रम गये और पन्नानरेश के स्वयं आकर ले जाने पर भी पन्ना नहीं गये।

गृहस्थी में जीवन बिताते हुए भी ये श्रीयुगलकिशोर की सेवा तथा अलौकिक प्रेम से कभी विचलित नहीं होते थे। तत्कालीन ओड़छानरेश मधुकरशाह इनके मंत्रशिष्य थे। सं० १६१२(=१५५५ ई०) में ये अपना जन्मस्थान छोड़कर सदा के

लिए वृंदावनचंद्र के लिए निकुंज में चले आये। वृंदावन से इन्हें लौटाने के उद्योग में स्वयं मधुकर शाह व्यास जी के पास आये, परंतु व्यास जी अपने निश्चय से तनिक भी नहीं डिगे। वृंदावन में ही अपना अलौकिक जीवन बिता कर भक्ति तथा कविता उभयविध साधना के लिए वे एक अनुपम आदर्श छोड़ गए। व्यास जी के दो ग्रंथ मिलते हैं—

(१) 'नवरत्न'—संस्कृत में रचित, संप्रदाय के सिद्धांतों का निदर्शक ग्रंथ (अप्रकाशित)

(२) व्यासवाणी—ब्रजभाषा में निबद्ध लगभग ७०० पदों का अनुपम ग्रंथ (प्रकाशित)[1]

व्यासवाणी में दो खंड हैं। प्रथम खंड (२६१ पद) में भक्तिसिद्धांत का मनोरम वर्णन है। द्वितीय खंड (४५६ पद) राधाकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन होने से रसखंड के नाम से विख्यात है। व्यास जी चैतन्य-संप्रदाय के वैष्णव थे और उस समय के मान्य गोस्वामी रूप तथा सनातन से इनकी गहरी मैत्री थी। सुनते हैं कि इन गोस्वामियों का दृढ़ आग्रह स्वीकार कर ही वे वृंदावन में रसमय जीवन बिताने के लिए चले आये।

व्यासजी राधाकृष्ण के उच्चकोटि के भावुक भक्त थे। वृंदावन पर उनकी इतनी प्रीति थी कि वहाँ के रजः कण में वे लोटना अन्यत्र प्रासाद के मखमली फर्शपर रहने से अच्छा समझते थे। इस विषय के पदों में उनका प्रेम छलक रहा है।

---

१ इस ग्रंथ को व्यास जी के वंशोद्भव आचार्य राधाकिशोर गोस्वामी ने वृंदावन से प्रकाशित किया है, सं० १९९४।

उच्चकोटि के ब्राह्मण होने पर भी वे नीच जाति के भक्त के हाथ से महाप्रसाद ग्रहण करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। वे तो बड़े मीठे शब्दों में अपना परिचय देते हैं—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानो खेरो ब्रजवासिन सों पाँति॥
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा–सिखँडि हरिमन्दिर भाल
हरि गुन नाम वेद धुनि सुनियत, मूँज पखावज कुस करताल॥

भक्त जाति-पाँति के बंधन में थोड़े ही अपने को बाँधता है। वह तो जीवन्मुक्त होता है। कृष्ण के सकल पियारे उसके परिवार के परिजन होते हैं। वेद की संहिता कर्मकांड के उपासकों के लिए मान्य शास्त्र है। भक्तों के लिए तो हरि के गुण तथा नाम का गायन ही वैदिकी श्रुति है। व्यास जी के पदों में युगल सरकार के प्रति असीम भक्ति, अलौकिक माधुरी तथा विशाल प्रेम की विमल धारा प्रवाहित हो रही है। पद क्या हैं? भक्तिभावना में सराबोर हृदय के मधुमय उद्गार हैं। वे केवल हमारा अनुरञ्जन ही नहीं करते, प्रत्युत हमें उस दिव्य माधुरी की झाँकी दिखला कर हमारा हृदय उदात्त, विशुद्ध तथा विशाल बनाते हैं।

मन की द्विविधा वृंदावन के सेवन से तथा राधाकृष्ण के लीला-गायन से मिटती है—

दुविधा तब जैहै या मन की।
निर्भय ह्वै कै जब सेवहु गे, रज श्रीवृन्दावन की।
कामरि लै करवा जब लैहै, सीतल छाँह कुंजन की।
अति उदार लीला गावहु गे, मोहन-स्याम सुधन की॥

राधावर के ध्यान के सामने अन्य देवता की उपासना निरर्थक है। क्यों ?

श्रीराधावर ध्याइ के और ध्याइए कौन।
व्यासहि देत बने नहीं बरी बरी प्रति लौन ॥

राधा तथा कृष्ण की जोड़ी व्यास जी के कमनीय रासवर्णन में कैसी फबती है—

सुघर (श्री) राधिका प्रवीन विना, वर रास रच्यौ
श्री श्याम संग वर सुधंग तरनि—तनया तीरे ॥ १
आनन्दकन्द वृन्दावन शरद चन्द मन्द मन्द,
पवन कुसुम—पुँज ताप-दवन, धुनित कल कुटीरे ॥ २
रुनित किंकिणी सुचारु, नुपुरु मनि बलय हारु
अंग रत मृदंग ताल तरल तिरप चीरे ॥ ३
गावत अतिरंग रह्यौ, मोपै नहिं जात कह्यौ
'व्यास' रस—प्रवाह बह्यौ, निरखि नैन सीरे ॥ ४

श्री राधिकाजी के मान तोड़ने के लिए सखी के ये वचन कितने मार्मिक हैं—

कबहूँ तौ काहू कौ कह्यौ [illegible]क्यौ।
सुरत बसीठी ते सीठी करि डारी, हठ करि कछु न जियौ ॥
नैननि तोहि कुटलता सिखई, और न हेत बियौ।
कठिन कुचनि की संगति कौ फल, ह्वै गयो कठिन हियौ ॥
बिनु अपराधहिं साधु पियहि तै कबहुँ न चैन दियौ।
सरधा हूँ ते कृपन अधर मधुरस पिय न अघाइ पियौ ॥

व्यास जी की दृष्टि प्रकृति के कमनीय रूप पर मुग्ध होती है। वृजकुंज में पावस की यह बहार निराली ही है—

आज कछु कुंजन मैं बरषा सी।
बादल दल में देखि सखी री चमकति है चपला सी॥
नान्हीं नान्हीं बूँदन कछु धुरवा से पवन बहै सुखरासी।
मन्द मन्द गरजन सी सुनि मनु नाचति मोर सभा सी॥

व्यास जी ने राधाकृष्ण के नाना प्रकार की लीलाओं का बड़े विस्तार से वर्णन किया है जिसके अनुशीलन से समस्त लीलायें पाठकों के सामने सजीव हो उठती हैं। प्रेम-विभोर व्यास की कविता कहीं कहीं कोमल-कान्त-पदावली के रचयिता जयदेव की बरबस सुधि दिलाती हैं—

वृंदावन कुंज कुंज केलि बेलि फूली।
कुन्दकुसुम चन्द नलिन विद्रुम छवि भूली॥

ध्रुवदासजी—व्यासजी के अनंतर ध्रुवदासजी भी राधा-वल्लभीय मत के विशेष प्रचारक तथा विशिष्ट विद्वान् हुए हैं जिन्होंने अपने विविध ग्रंथों के द्वारा श्रीहित जी के मत का विशदीकरण किया है। ध्रुवदास जी के रचित ग्रंथों की संख्या ४० से भी ऊपर है जिनमें वृंदावन-सत, सिंगार-सत, रस-रत्नावली, नेहमंजरी, रहस्यमंजरी, सुख-मंजरी आदि मुख्य ग्रंथ हैं, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्वशाली ग्रंथ भक्तनामावली है जिसमें इन्होंने प्राचीन तथा समकालीन भक्तों का संक्षिप्त परिचय बड़ी सहृदयता के साथ दिया है। इनके ग्रंथों की रचना का समय भी दिया गया है—वृंदावन-सत का रचनाकाल है सं० १६८६, रहस्यमंजरी का १६६८ विक्रमी। भक्तनामावली में १७३५ विक्रमी तक के भक्तों का परिचय मिलता है। अतः इनका समय १६५० वि० से १७४० वि० तक माना जाता है। वृंदावन की सुषमा का वर्णन इनके

काव्यों में खूब है। प्रेमतत्त्व का विश्लेषण भी इन्होंने बड़ी सुंदरता से किया है। ध्रुवदास की भगवान् से यही प्रार्थना है—

> ऐसी करी नव लाल रँगीले जू चित्त न और कहूँ ललचाई।
> जे सुख दुःख रहैं लगि देह, सो ते मिटि जाँहिऽरु लोक बड़ाई।
> सँगति साधु वृँदावन कानन, तो गुन गाननि माँझ बिहाई।
> कंज पगों में तिहारे बसों बस, देहु यहै ध्रुव को ध्रुवताई॥

इस संप्रदाय के अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं जैसे सेवक-बानी, वल्लभरसिक की बार्ता, आदि। इस संप्रदाय के भक्त कवियों की विशेषता है वृंदावन की माधुरी का वर्णन तथा राधा-कृष्ण की दिव्य लीलाओं का रसपेशल तथा मनोमुग्धकारी चारु चित्रण। ब्रजभाषा साहित्य को पुष्ट तथा समृद्ध करने में इस संप्रदायवालों का विशेष हाथ रहा है।

प्रधान गुरु-शिष्य परम्परा इस प्रकार है—

|

श्रीधर

|

हलधर

|

ऋषि पाणिधर

|

गंगाधर

|

विजय भट्ट

|

कुलाजित भट्ट

|

विद्याधर

|

जाल्प मिश्र

|

प्रभाकर मिश्र

|

उमाकर मिश्र

|

जीवदू मिश्र

|

हिमकर मिश्र

|

व्यास मिश्र

|

गोस्वामी रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंशचंद्र

|

गोस्वामी श्रीवनचंद्र (बनमालीदास जी)

|

" श्रीसुन्दरवर जी

गोस्वामी श्रीदामोदरवरजी
गोस्वामी श्रीरासदासजी
श्रीविलासदासजी
श्रीकमलनयन जी
गोस्वामी राधालाल जी
श्रीमुकुन्दलाल जी
घनश्यामलाल जी
माधवलाल जी
माखनलाल जी
छोटेलाल जी
पीतमलाल जी
मुकुंदलाल जी
राधालाल जी
मनमोहनलाल जी
श्रीरसिकलाल जी
श्रीसुखलाल जी
नवनीतलाल जी
कान्तलाल जी
राधालाल जी
मोहनलालजी
लाड़िलीलाल जी
हरिलाल जी
किशोरीलाल जी
रूपलाल जी
सुकुमारी लाल जी (वर्त्तमान अधिकारी जो आचार्य्य गद्दी पर प्रतिष्ठित हैं)

नित्यविहारी, से श्री व्यास मिश्र तक वंशपरंपरा है और श्रीहरिवंशचंद्र से आगे ज्येष्ठ पुत्र और शिष्य परंपरा है जो आचार्य्य गद्दी के अधिकारी हैं। श्री दामोदरवर जो की दो पत्नियों से गद्दी के दो अधिकार हैं। अतः आगे दोनों की पूर्ण परंपरा दी गयी है। इस समय वास्तव में विलास वंश का अधिकार है। यों तो प्रत्येक पुत्र शिष्य है अतः सभी आचार्य हैं किंतु इसमें शिष्य और वंश का बड़ा भारी विस्तार हो जाता है, इसलिये यहाँ संक्षेप से ज्येष्ठ पुत्र और शिष्य का वर्णन किया है। यह परंपरा केवल आचार्य्य-कुल की है। विरक्त शिष्यों की कोई खास परंपरा नहीं, क्योंकि वे गुरु-गद्दी के अधिकारी नहीं होते।

(३)

संप्रदाय के सिद्धांत

श्री हित हरिवंश की साधना प्रणाली बड़ी ही गूढ़ तथा रहस्यमयी है। इसका अधिकारी भी सामान्य साधक न होकर विशेष निष्ठावान् पुरुष ही हो सकता है। इसकी विलक्षणता अन्य संप्रदायों के साथ तुलना करने पर स्पष्ट ही प्रतीत होती है। श्री संप्रदाय में वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु को इष्ट मान कर दास्य-भाव से उनका कैंकर्य करना ही जीव का परम धर्म होता है। वल्लभ संप्रदाय में श्री बाल-गोपाल को इष्ट मान कर वात्सल्य भाव से उनमें रति करना ही भक्ति का मुख्य लक्ष्य है। निंबार्क मत में तथा माध्व गौडीय संप्रदाय में किशोर श्री कृष्ण को क्रमशः स्वकीया भाव तथा परकीया भाव से उपासना उचित मानी गई है। परंतु इस राधावल्लभीय मत में उपासना का तत्त्व इनसे विलक्षण है। हरिवंश महाप्रभु का कहना है कि परकीया

तथा स्वकीया दोनों भाव अपूर्ण हैं। स्वकीया में मिलन है, पर विरह नहीं। उधर परकीया में विरह है, मिलन का पूर्ण सुख नहीं। इसीलिए प्रेम साम्राज्य में स्वकीया-परकीया की भावना केवल एकदेशीय तथा एकांगी भावनायें हैं। प्रेम की पूर्णता वहाँ है जहाँ स्वकीया तथा परकीया दोनों का बोध नहीं; तथा जहाँ नित्य मिलन में भी विरह का सुख या ललक नित्य स्थित रहता है। हरिवंश जी ने चकई तथा सारसके संवाद रूप में इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है। प्रिय के विरह में भी चकई का जीवित रहना सारसकी दृष्टि में प्रेम की परम न्यूनता है—

> चकई प्रान जु घट रहैं पिय बिछुरंत निकज्ज।
> सर अंतर अरु काल निसि तरफ तेज घन गज्ज॥
> तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुव बदन न आवै।
> जल बिहून करि नैन भोर किहिं भाव बतावै॥
> हित हरिवंश विचारि वादि अस कौन जु चकई।
> सारस यह संदेह प्रान घट रहै जु चकई॥

परंतु चकई की रागभरी दृष्टि में सारस का प्रेम एकांगी है, क्योंकि वह अपने नित्य मिलन के सुख में विरह-सुख का अनुभव नहीं करता। सारस का प्रेमानुभव भी अपूर्ण और अधूरा है—

> सारस सर बिछुरंत कौं जौ पलु सहै सरीर।
> अगिनि अनंग जु तिय भखै तौ जानै पर पीर॥

ऐसी विषम स्थिति में हरिवंश महाप्रभु का प्रेममार्ग एक निराली चीज है। वे अपने सिद्धांत का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जै श्री हितहरिवंश विचारि 'प्रेम विरहा' बिनु वा रस।
निकट कन्त नित रहत मरम कहा जानै सारस ॥

•

यह "प्रेमविरहा" ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलने में भी विरह जैसी उत्कण्ठा इसका प्राण है। युगल किशोर श्री राधा-वल्लभलाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नहीं है, परंतु इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नहीं, प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है, चाह तथा चटपटी है। प्रेमासव का अनवरत पान करने पर भी अतृप्तिरूपी महान् विरह की छाया सदा बनी रहती है, प्रतीत होता है—

"मिलेहि रहत मानौं कबहुँ मिलै ना"

इस प्रकार स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेद रहित नित्य विहाररस ही श्री हितमहाप्रभु का इष्ट तत्त्व है।

हरिवंश जी इस प्रकार न अवतार श्रीकृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं और न युगल किशोर श्रीनंदनंदन तथा श्रीवृषभानुलली को। वे नित्यविहारिणी श्रीराधा को ही अपना इष्ट मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है कि राधा स्वतंत्र पराशक्तिरूपा है। वह महासुख रूपा है। वह मेरी सेव्या-आराध्या है, अन्य कोई नहीं:—

ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा।
श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम ॥
—राधासुधानिधि श्लो० ७८

प्रसिद्ध है कि श्रीराधारानी ने ही स्वप्न में श्रीहितहरिवंश प्रभु को अपना इष्टमंत्र देकर शिष्य बनाया था। इसका उल्लेख

सांप्रदायिक ग्रंथो में बहुशः किया गया है। इनका यहाँ तक कहना है कि जो लोग श्रीराधा के चरणों का सेवन छोड़ कर गोविंद के संगलाभ की चेष्टा करते हैं वे मानो पूर्णिमा तिथि के बिना ही पूर्ण सुधाकर का परिचय पाना चाहते हैं। वे अज्ञ यह नहीं जानते कि श्यामसुंदर के रतिप्रवाह की लहरियों की बीज यही श्रीराधा ही हैं—

> राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया
> सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना वाञ्छति।
> किंच श्याम–रति–प्रवाह–लहरी–बीजं न ये तां विदु–
> स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः।
>
> —राधासुधानिधि ७९

राधावल्लभीय भक्त की कामना बड़ी रहस्यमयी होती है। वह अपनी कामना की अभिव्यक्ति इस पद्य में चित्रित करता है—

> सान्द्रानन्दोन्मदरसघन प्रेमपीयूषमूर्तेः
> श्री राधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुञ्जतल्पे।
> कुर्वाणाहं मृदुमृदु–पदाम्भोजसम्वाहनानि
> शय्यान्ते किं किमपि पतिता प्राप्ततन्द्रा भवेयम्॥
>
> —रा० सु० श्लोक २१२

निविड आनंदोत्सवरस के घनत्व मे प्रकट प्रेमामृतमूर्ति श्री राधा तथा मधुपति जब कुञ्जशय्या पर निद्रित हो जाँय, तब उनके अति कोमल पदकमलों का संवाहन करते-करते मैं तंद्रा प्राप्त होने पर उस सेज के समीप ही क्या कभी लुढ़क रहूँगी? इसी कामना की ओर लक्ष्य करके नाभादास जी भी कहते हैं—

श्री राधा चरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दंपती तहाँ की करत खवासी॥

हरिवंशी संप्रदाय वस्तुतः रससंप्रदाय है जिसमें प्रेमामृत-मूर्ति श्री राधा तथा लालजी के नित्य मिलन के अवसर पर साधन तन्मयभाव से उनकी सुचारु सेवा में लगा रहता है। इस सेवा भाव को ही वह अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। हरिवंश जी की सम्मति में जिस प्रकार जल से तरंग का पृथक्-करण असंभव है उसी प्रकार राधा से कृष्ण का, सांवरे से गोरे का, पृथक् करना एकदम असंभव है। दोनों मिल कर एक ही तत्त्व के प्रतीक हैं। वे दोनों अभिन्न हैं तथा अनन्य हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उनका यह सुंदर पद्य कर रहा है—

जोई जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई, सोई सोई करैं प्यारे।
मोको तो भावतो ठौर, प्यारे के नैनन में,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे।
मेरे तो तन मन प्राण हूँ में प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे।
जै श्री हित हरिवंश हँस हँसिनी साँवर गौर,
कहौ कौन करे जल तरंगनि न्यारे।

—:※:—

प्रेम-साधना में जीव का भावमय स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने अपनी दो प्रकृतियाँ बतायी हैं; एक आठ भेदोंवाली जड़ प्रकृति और दूसरी जीवरूपा परा प्रकृति। बस इन्हीं दो प्रकृतियों से समस्त चराचर जगत्

का निर्माण हुआ है। (देखिये गीता अध्याय ७ श्लोक ५, ६, ७) इस विचार से समस्त चराचर जगत भगवान् की प्रकृति है और वे भगवान् ही एकमात्र परमपुरुष हैं। यह विश्व-विलास उसी प्रकृति और पुरुष का विलास है।

रसिकाचार्य्यों ने इस प्रकृति-पुरुष विलास की भावना को अधिक उज्ज्वल रूप देकर स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण नित्य-विहारी ही एकमात्र पुरुष हैं और उनकी चिद्-अचिद्-विशिष्ट आह्लादिनी एवं निजरूपा प्रेमशक्ति श्रीराधा ही परम प्रकृति हैं। इन सनातन युगलकिशोर का ही सारा जगत् प्रतिबिंब है। श्रीराधा प्रकृतिरूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। वे समस्त सखियों के रूप में हैं और वही गोपियों के रूप में। गोपियाँ क्या हैं? प्रेम की साकार प्रतिमा। प्रत्येक जीव प्रेम-रूपा गोपी है क्योंकि वह सनातन प्रकृति है। उसमें वे सब दिव्य गुण गण हैं जो गोपियों में हैं—श्रीकृष्ण की सखियों में हैं।

जीव अपने निज स्वरूप—प्रेमरूपा सखीभाव—को भूल जाने के ही कारण इस आवागमन-रूप दुर्गति को प्राप्त हो गया है। यदि जीव अपने निज स्वरूप की स्मृति करे तो वह आनंद रूप को शीघ्र पा सकता है। आवश्यकता है अपनी अंतर्दृष्टि को फेरने की।

जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीव का निज एवं सनातन स्वरूप प्रभु की प्रकृति या सखी है तो फिर साधक को अपने स्वरूप का स्मरण किस प्रकार करना चाहिये? यह जानना आवश्यक हो जाता है।

रसिकाचार्य्यों की इस ऐकान्तिक रस-पूर्ण भावना अर्थात् जीव के सखी-स्वरूप के बोधपूर्वक भावना करने के पहले यह

अवश्य ज्ञातव्य है कि यह भावना न तो गुड़ियों का खेल है, न उपहास का विषय। यह है सन्त शिरोमणि, मोक्ष-संन्यासी रसिकों का हृदय। अतः साधक अपने चित्त की सच्ची जाँच करके इन लोहे के चनों को चबाने का कठिन प्रयास प्रारंभ करे।

रस की साधना में साधक के दो देह कहे जाते हैं; एक साधन देह और दूसरा सिद्ध देह।

(क) साधन देह—इस स्थूल शरीर से स्थूल भोग भी भोगे जाते और उनके बंधन भी भविष्य के लिये तैयार होते हैं। इस स्थूल शरीर से अन्य जगत् का भी निर्माण किया जाता है। तब यदि साधक पुरुष अपने मन, इन्द्रिय एवं चित्तपुञ्ज साधन देह को इस प्रेमरस के साधन में लगावे तो इसे अपने सिद्ध देह को स्फुरणा होने लगेगी। इसे रससाधना में लगाने का केवल इतना ही अर्थ है कि अपने मन के द्वारा अपने किसी दिव्य देह की भावना करे।

(ख) सिद्ध (दिव्य) देह

किसी दिव्य वस्तु की भावना या कल्पना करने के लिये संसारी व्यक्ति को अपने आस-पास के वातावरण के आधार पर ही पहले उस दिव्य वस्तु की कल्पना करनी पड़ती है। जहाँ यह कहा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण का सौंदर्य्य कोटि काम-लावण्यहारी है, वहाँ साधारण लोग जो एक कामदेव के सौंदर्य्य की कल्पना नहीं कर सकते, कोटि काम-लावण्यहारी की कल्पना कैसे कर सकेंगे? ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि वे कोटि काम-लावण्य विनिंदक श्रीकृष्ण के सौंदर्य्य की वही रूपरेखा तैयार कर लेते हैं जो सौंदर्य्य उन्होंने देखा है, उसी के जैसा या उससे कुछ विशेष।

श्रीयुगलकिशोर की नित्य सखी की स्वरूप-भावना वस्तुतः न तो कही जा सकती है, न समझी ही जा सकती है, पर वह तो अनुभव-गम्य है। युगल-किशोर श्रीराधावल्लभलाल सौंदर्य्य-माधुर्य्य की निधि हैं। उनका समस्त परिकर परम सौंदर्य्यमय है। श्रीधाम वृंदावन श्री और सुषमा का आगार है और वहाँ के निवासी खग, मृग, कीर, कपोत, मयूर, मराल सभी दिव्य चिदानंदमय और अपार सौंदर्य्य-माधुर्य के निधान हैं। कहना न होगा कि युगल किशोर की सखियाँ भी अतीव रूप-लावण्यमयी हैं। जिनकी चरण-नखच्छटा पर कोटि-कोटि उमा-रमा बलिहारी जाती हैं, उनके रूप-लावण्य का क्या पारावार ?

हम पहले कह चुके हैं कि रस-क्षेत्र में साधक का भी स्वरूप वही है जो वहाँ की नित्य सहचरियों का है। अतः साधक अपने वास्तविक रूप सखी-स्वरूप का स्मरण इस प्रकार करे:—

युगल नवल किशोर अनेक किशोरी-प्रमदागणों से घिरे हैं। उन किशोरी गणों में से एक मैं भी हूँ। मेरा दिव्य देह रूप-यौवन-संपन्न एवं ललित किशोर अवस्था से पूर्ण है। सुडौल अंग प्रत्यंग, मनोहर मुखाकृति, आकर्षक और रमणीय वर्ण, ललित-गति मंद हास, सहज चपलता, यौवन का भार और लज्जा-भरी चितवन है। सबके साथ-साथ हृदय दिव्य प्रेम के भावों से ओत-प्रोत है। मन, प्राण, इंद्रियाँ सबके सब प्रेम से आकुल हैं।

नख से शिख तक दिव्य एवं मनोहर वस्त्राभरणों से मैं सुसज्जिता हूँ। चरणों में जावक की लाली है और गुल्फों में झनकारते हुए मणिमय नूपुर। कटि पर सारी है और उस पर शोभा की वृद्धि करती हुई करधनी मुखरित है। कंचुकी से कसे हुए पीनोन्नत पयोधरों पर हारों की शोभा, शंख सी ग्रीवा पर

मणि-पोत और .दुलरी, तिलरी की छटा, विलक्षण है; अपूर्व है। मृणाल-नाल सी भुजाएँ और उन पर फब रहे हैं यथा-स्थान बाजू बंद, कंकण चूड़ियाँ और मुद्रिकाएँ।

मुख है या चंद्र ? भ्रांति होती है। इस चंद्र के दो कलङ्क हैं कपोल पर गिरि हुई काली काली अलक और ललाट-पटल शोभित तिलक। काम-धनुष सी हैं भृकुटियाँ और उस पर चढ़े हैं अनियारे, विशाल और कजरारे नयनों के बाण। पैनी-नासिका, बिंवाफल से अधर और ललित कपोल। तिन पर झिलमिलाते हुए तरल ताटंकों की शोभा अवर्णनीय है। काले-काले घुँघराले. केशों की लंबमान वेणी पुष्ट नितम्बों तक चली आयी है पीठ पर लहराती हुई। वेणी पर गुँथे हुए हैं, महकती हुई मालती के फूल और वेणी का छोर गुच्छ मणि-माणिकों से गुंफित है। सिर में सिंदूर की सौभाग्य रेखा जगमगा रही है और सिर को ढाँके हुए है एक झीनी-झीनी रेशमी ओढ़नी।

यह है संक्षेपतः सांकेतिक रूप से साधक के दिव्य देह का चिंतन। इसी के संबंध में अन्यत्र रस शास्त्रों में कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूप—यौवन—सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

अर्थात् "उस वृंदावन में साधक अपने आपको उन मनोरमा सखियों के बीच में इस प्रकार चिंतन करे—मैं रूप-यौवन-संपन्न, विशेष उन्मादकारिणि आकृतिमयी किशोरी हूँ।"

तक रस मार्ग के साधक के चित्त में अपने किशोरी स्वरूप का भान नहीं होता, तब तक उसके हृदय में युगल किशोर की रस-भावना तो होगी कहाँ से साधारण स्वरूप स्मृति भी नहीं

हो पाती। अतएव यह प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि साधक अपना स्वरूपानुसंधान करे। इसी स्वरूपानुसंधान की बात का स्पष्ट वर्णन आचार्य्यचरण श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु ने याचना के रूप में इस प्रकार किया है—

> दुकूलं बिभ्रायामथ कुचतटे कञ्चुकपटं,
> प्रसादं स्वामिन्याः स्वकर–तल–दत्तं प्रणयतः।
> स्थितां नित्यं पार्श्वे विविध–परिचर्य्यैक–चतुरां,
> किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये॥
>
> —श्रीराधा सुधानिधि श्लो० ५२;

अर्थात् "अहो! मैं अपनी स्वामिनीजी के निज करकमलों के स्नेहपूर्वक दिये हुए प्रसादरूप दुकूल और कञ्चुकी-पट को अपनी कुच-तटी में धारण करूँगी और सदा अपनी स्वामिनी के बगल में स्थित रहकर विविध प्रकार की सेवा-परिचर्य्याओं में चतुर सुकुमारी किशोरी के रूप में अपने आपको क्या यहाँ देखूँगी?"

यहाँ जिस सिद्धदेह का स्वरूपानुसंधान कराया गया है, उसका युगल-किशोर श्रीराधा-वल्लभलाल की रस-लीला से पूर्ण साधर्म्य है। अत; उसका ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि बिना अपने स्वरूप का स्फुरण युगल के स्वरूप की रसस्फुरणा नहीं हो सकती। उस जीव और प्रभु के साधर्म्य को नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।

प्रेमोपासना की दृष्टि से जीव एवं युगलकिशोर का साधर्म्य

वेदांतवादी आचार्य्यों ने अनेकों श्रुतियों के अर्थ जीव और विभु की एकता में ही लगाए हैं। "तत्त्वमसि—तुम वही हो"

महावाक्य स्पष्ट रूप से जीव की ब्रह्मरूपता सिद्ध करता है; इसी प्रकार सोऽहम् और शिवोऽहम् भी। और विचार की दृष्टि से है भी बात ऐसी ही कुछ है कि एक अचिन्त्य और अखंड सत्ता ही सर्वत्र व्याप्त है। यह नानात्व कुछ है नहीं। फिर उस एक अखंड सत्ता को चाहे कोई ब्रह्म कह ले, कोई राम और कोई कृष्ण। उसके लिए जितने भी नाम और रूपों की कल्पनाएँ की जायँगी सब उसमें एक अंग में प्रवेश पा जावेंगी।

योगी जिसे परमात्मा कहते हैं, उसे ज्ञानी लोग ब्रह्म और उसे हो तो भक्त भगवान् कहते हैं। तब ऐसी दशा में एक ही वस्तु के तो तीन नाम हुए; वस्तुएँ तीन नहीं हुईं। तीन ही क्यों, उसके तो अनंत नाम हो सकते हैं।

वह एक ही वस्तु है और उसी में यह नानात्व की भ्रांति हो रही है जैसे स्वर्ण में कंकण और कुंडल आदि अनेक आकारों की। माया, ब्रह्म और जीव की यह त्रिपुटी कितनी भ्रमपूर्ण है इसे अधिक स्पष्ट न करना होगा जिन्होंने स्वर्ण और आभूषण के सिद्धांत को समझ लिया होगा उनके लिए—

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।
वारि वीचि इमि गावहिं वेदा॥

है ही। जीव और प्रभु के बीच मिथ्या माया आ बैठी है कैसा आश्चर्य है?

सो दासी रघुवीर कै समुझें मिथ्या सोऽपि।

और वह समझ लेने पर झूठी है?

तब उस मिथ्या की क्या कथा? अब रहा जीव और विभु की एकरूपता—तादात्म्य का प्रश्न। शांकर वेदांती और भक्ति

वादियों में इतना ही अंतर है कि वेदांती कहते हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् 'यह सब (चराचर) ब्रह्म ही है।' और भक्त कहते हैं—'जीव अनेक एक श्रीकंता।' जीव और विभु दो नित्य तत्त्व हैं; एक अणु है और दूसरा महान्। यह अणु और महान का द्वैत भक्तों की दृष्टि में सिद्ध है।

किंतु रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु अपने रस-सिद्धांत की दृष्टि से कहते हैं—

यत्किञ्चिद् दृश्यते सृष्टौ सर्वं हितमयं विदुः।

अर्थात् "स्थावर-जंगम जो कुछ विश्व-विलास है, वह सब एक ही वस्तु 'हित'—प्रेम है; ऐसा जानो।"

रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंश की दृष्टि में जीव और विभु का द्वैत समाता ही नहीं। समावे भी कैसे? उनकी दृष्टि तो एक प्रेम-रस से सिक्त हो चुकी है न? उसमें तो एक रंग चढ़ चुका है, तब दूसरे रंग की गुंजाइश ही कहाँ रही?

जिन आँखिन में वह रूप बस्यौ,
उन आँखिन सौं अब देखिये का?

उनको तो सर्वत्र अपनी आराध्या का ही दर्शन हो रहा है—

सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमस्वाराध्यबुद्धिर्मम।

—श्रीराधा सुधानिधि

अर्थात् "सबको वस्तु बुद्धि से अवलोकन करके उन [नाना नाम रूपों] के प्रति मेरी स्वाराध्य बुद्धि है।"

इनकी सर्वत्र स्वाराध्य बुद्धि हो चुकी है और सर्वत्र एक प्रेम तत्त्व ही सिद्ध हो चुका है इनके लिए। परंतु जिनके लिए ऐसा नहीं हो पाया उनके लिए क्या कर्तव्य है, वे क्या करें?

करें क्या ? उनके लिए भी रसिक आचार्य्यगण विधान करते हैं कि वे भी सर्वत्र अपनी बुद्धि को एक वस्तुमय बना दें। यह नानात्व की माया मिटा दें। जब सर्वत्र एक प्रेमतत्त्व ही ओत-प्रोत है, तब क्या आवश्यकया है यह द्वैत के भार किए फिरने की ? श्री प्रबोधानंद सरस्वती-पाद क्या कहते हैं, सुनिए—

स्वान्तर्भाव–विरोधिनी–व्यवहृतिः सर्वा शनैस्त्यज्यतां,
स्वान्तश्चिन्तित–तत्त्वमेव सततं सर्वत्र संधीयताम्।
तद्भावेक्षणतः सदा स्थिरचरेऽन्या दृग् तिरोभाव्यतां,
वृन्दारण्य–विलासिनो निशि दिवा दास्योत्सवे स्थीयताम् ॥

धीरे-धीरे उन सारे व्यवहारों को त्याग दे जो अपने अंतर्भाव (सिद्ध भावना) के विरोधी हों और सर्वत्र, सर्वकाल खोजता रहे अपने अंतःकरण के चिंतनीय तत्त्व को ही। उसी चिंतनीय तत्त्व का सदा सब में भाव-दृष्टि से दर्शन करता हुआ स्थिर-चर प्राणियों में जो भेद दृष्टि—द्वैत बुद्धि है उसका तिरोभाव कर दे और दिन रात श्रीवृंदावन-विलासी राधा - मुरलीधर के दास्य - सुख में भी सुख, शांति और स्थिरता प्राप्त करे।

जब द्वैत की सृष्टि मिट जायगी तब एक ही वस्तु रह जायगी रस, केवल प्रेमरस। यह रस चराचर-व्यापी है और ऐकांतिक भी। चराचर व्यापी रस - विलास का पर्यवसान है ऐकांतिक रस-विलास श्रीवृंदावन - विहार में। जहाँ वृंदावन, श्रीराधा, श्रीकृष्ण और सहचरिवर्ग ये चार उपकरण होकर भी सब एक रूप हैं, वहीं कुंडल कंकण और स्वर्ण की भाँति श्रीराधा भी प्रेम है, श्रीकृष्ण भी प्रेम, श्रीवृंदावन और सखियाँ भी प्रेम ही हैं, 'सर्वं हितमयं विदुः' सिद्धांत पूर्णतया सिद्ध है। तब यह कह कर प्रकट करने की आवश्यकता तो रह ही नहीं जाती कि हितरूप जीव और युगल की एकधर्मता—एकरूपता क्या है ?

एक वस्तु के ही दो रूप हैं; रस समुद्र में उठी हुई लहरियों का यह विलास है जो श्रीराधा, श्रीकृष्ण सहचरी श्रीवन आदि चार और फिर अनंत रूपों में विस्तीर्ण हो जाता है। जीवरूपा सखी और श्रीराधावल्लभ-विभु दोनों एक ही तत्व हैं। केवल लीला एवं रस विलास के लिये इन्होंने अपने नाना रूप निर्माण कर लिये हैं। संक्षेप में यों समझना चाहिए कि वे रसिक-नरेश ही जीवरूप अपनी छाया से खेल रहे हैं। यही रस-क्षेत्र में जीव और विभु का साधर्म्य है।

शास्त्रोक्त-शैली से इस रस-तत्त्व का अनुभव और साक्षात्कार करने के लिये राधावल्लभ युगल किशोर का तात्त्विक एवं रसमय स्वरूप जानना आवश्यक है। अतः अब इसके आगे पर-ब्रह्म-स्वरूप का यथामति निरूपण किया जाता है।

पर-(ब्रह्म) स्वरूप

ब्रह्म अव्यक्त है। और जो अव्यक्त है उसे फिर व्यक्त कैसे किया जाय? इसीलिये श्रुति उसके लिये अतर्क्य, अचिन्त्य और अवाङ्मनसगोचर आदि विशेषण देकर उस तत्त्व का लक्ष्य कराती है। यह सब ठीक है फिर भी उसे जानना तो होगा ही, चाहे जितने और जैसे रूप में वह जाना जाय; क्योंकि उसके जाने बिना जीव को अपने स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। इसी न्याय से शास्त्रों एवं आचार्यों ने उस अव्यक्त तत्त्व के अनेकों नाम एवं रूप प्रकट कर डाले हैं। इनमें मुख्यतया ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—(१) निर्गुण निराकार और (२) सगुण साकार।

जिसे निर्गुण निराकार कहा जाता है वही सगुण साकार है। जो लोग इन दो रूपों में तारतम्य बुद्धि करते हैं, वे अज्ञ

हैं। जो भगवान् निर्गुण निराकार है; वही भक्त और प्रेमियों के लिये नित्य सगुण साकार भी है; वह विष्णु होकर विश्व ब्रह्माण्ड का पालन करता और नारायण बनकर सबका निरीक्षण करता है। वही साकेतवासी राम बनकर अपने दासों को दास्य सुख प्रदान करता है और अनेक रूपों से विचित्र-विचित्र लीलाएँ करता रहता है। सब रूपों में एक वही निर्गुण-सगुण निराकार-साकार और इनसे भी परे—अलक्ष्य, योगीन्द्र-दुर्गम-गति श्रीकृष्ण ही तो क्रीड़ा कर रहे हैं। वे स्वयं गीता के दशम अध्याय मे अपनी विभूतियों का वर्णन करते समय स्पष्ट कर रहे हैं—"अर्जुन। मैं शस्त्रधारियों में राम, सिद्धों में कपिल, वृष्णि-वंशियों में वासुदेव और मुनियों में वेद-व्यास हूँ। अधिक क्या, यह चराचर जगत् मुझमें है। तुम्हें अब अधिक जानने से क्या प्रयोजन? इतना ही जानना पर्याप्त है कि इस संपूर्ण जगत् को मैंने अपने एक अंश में धारण कर रखा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

—गीता १०।४२।

भगवान् श्रीकृष्ण के उक्त कथन का यह आशय है कि समस्त सात्विक असात्विक विभूतियाँ मेरी अंश-भूता हैं। मैं ही एक-मात्र सबका आधार, निधान और अव्यय बीज हूँ। और तो क्या, मैं निर्गुण निराकार और सगुण साकार ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा हूँ, जिससे कि उसकी स्थिति है। मेरे बिना ब्रह्म की भी कोई सत्ता नहीं है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

—गीता १४।२७।

"मैं श्रीकृष्ण ही अविनाशी परब्रह्म, नित्य धर्म, अमृत और अखण्ड एकरस आनंद का भी एकमात्र आश्रय हूँ।"

इसी प्रकार और भी गीता के पंद्रहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अपने भक्त अर्जुन से कहते हैं—"अर्जुन! मैं क्षर (जगत्) और अविनाशी जीव तत्त्व (अक्षर) से भी परे उत्तम परम पुरुष—पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूँ। (देखिये गीता १५। १६।१७।१८।)

इन वाक्यों से सिद्ध है कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के भी आदिकारण और ईश्वरों के भी ईश्वर—सर्वेश्वर हैं। ये सब अंशांश अवतारों के बीज और अंशी हैं—इसीलिये इनके संबंध में भगवान् वेद-व्यास ने कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

—श्रीमद्भागवत

"भगवान् के अन्य अन्य अवतार तो अंश और कला-मात्र ही हैं किंतु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं परिपूर्णतम भगवान् हैं।"

ये भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष और नारायण के भी कारण हैं। महाविष्णु अर्थात् नारायण भी उनकी एक कला हैं।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।

ये गोविंद आदिपुरुष किस रूप में और किस धाम में नित्य क्रीड़ा करते हैं? इसका भी परिचय में हमें मिलता है—

आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभावितामि—
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

अर्थात् "जो नित्य निरंतर अपने आनंद चिन्मय रस से सराबोर हुए अपने समस्त तेज और प्रभा से पूर्ण एवं समग्र रूप और कलाओं से पूर्ण होकर दिव्य गोलोक धाम में अपनी आत्म-रूपा श्रीराधा एवं समस्त सखीजनों के साथ मिले निवास एवं विहार करते हैं-मैं उन आदिपुरुष श्रीकृष्ण का भजन करता हूँ।"

सारांश यह कि ये वृंदावनविहारी श्रीकृष्ण ही निर्गुण, सगुण वामन, वाराह, मीन, राम आदि अवतारों के मूल हैं। इन्हीं के लिये श्रुति—"रसो वै सः" 'वह ब्रह्म रसरूप है', ऐसा लक्ष्य कराती है। बहुत स्पष्ट है कि सिवाय वृंदावनविहारी स्वरूप के और कोई अवतार रसरूप नहीं है। यही एक स्वरूप है जो मूर्तिमान् शृंगार कहा जाता है। जिस प्रकार भोजन के छः रसों में मधुर श्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त भगवद्रूपों में शृंगार और माधुर्य्य की मूर्ति श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं। इनके रस की उपासना भी तो शृंगार और मधुर रस को लेकर चलती है।

रसोपासक साधक का ध्येय रूप शृंगार-माधुर्य्य-निधान श्रीकृष्ण रूप ही हैं।

सौंदर्य्य-माधुर्य्य की चरम सीमा युगल-किशोर

भगवत्तत्व एक है किंतु लीला एवं क्रियाओं के अनुसार उसके नाम-रूप-भेद अनेक हैं। भक्तों की भावना और भगवान् की लीला के अनुसार एक ही भगवान् श्री कृष्ण तीन रूपों में विभक्त हो जाते हैं—

(१) श्री वृंदावन विहारी श्रीकृष्ण;
(२) मथुरा-वासी श्रीकृष्ण;

(३) द्वारका-वासी श्रीकृष्ण ।

तीनों एक ही हैं; फिर भी मथुरा और द्वारका के चरित्र, ऐश्वर्य्य, वैभव, लोकोद्धार आदि के भावों से पूर्ण हैं। उन चरित्रों में श्रीकृष्ण कर्त्तव्य-परायण एक आदर्श क्षत्रिय राजपुरुष, सनातन - धर्मी और वेदांतनिष्ठ महापुरुष हैं। वे वेदांत-ज्ञान के पंडित और उपदेशक भी हैं; साथ ही मानापमान-रहित, निःस्पृह, निर्द्वंद्व, इंद्रियजित् , काम-क्रोध-रहित शांत योगेश्वर भी। वे लोक-कल्याण के समस्त नियम और धर्मों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं और उनका पूरा-पूरा पालन भी करते हैं। वे वहाँ भगवान् भी हैं और भक्त भी। कहने का आशय यह है कि मथुरा और द्वारका में भगवान् का स्वरूप कुछ और है और श्रीवृंदावन में कुछ और , जो एक दूसरे से एकदम विपरीत सा है।

वही श्रीकृष्ण वृंदावन में रासविहारी, कुंजबिहारी, राधा-पति, निकुंज-विलासी, चित्तचोर, नवल किशोर, रस-विवर्द्धक, नवल-नायक, राधा रमण, हैं।

अधिक तो क्या, उज्ज्वल रस (शृंगार-रस) के उपासक के लिये श्रीकृष्ण की बाल्य, कौमार, पौगण्ड आदि अवस्थाएँ और तत्कालीन लीलाएं भी उतनी प्रिय नहीं होतीं जितनी कैशोर लीलाएँ। उन्हें केवल नवल-किशोर निकुंजविहारी स्वरूप ही प्रिय है क्योंकि है भी यह रूप अनंत मधुर और रसमय। यह रसमय स्वरूप रसिक-जनों का जीवन प्राण है। यह वृंदावन-रस या श्रीकृष्ण का कैशोर रस दो प्रकार का है— एक व्रज-रस और दूसरा निकुंज-रस।

(क) व्रजविहारी श्रीकृष्ण और व्रज-रस

व्रज-रस के क्षेत्र में क्रीड़ा करनेवाले श्रीकृष्ण गोपी-पति गोपियों के प्रेमी (जार) हैं; गोपियाँ उनका सेवन उपपति के

रूप में करती हैं जिसे परकीया-भाव भी कहते हैं। वे जीवरूपा गोपियों के साथ शृंगार-रस की क्रीडाएँ किया करते हैं। यह वृज-रस क्रीड़ा श्रीकृष्ण अवतार की लीला है, अवतारी की लीला नहीं। यह किसी समय-विशेष (द्वापर आदि) में ही प्रकट होती और फिर लोप भी हो जाती है। यह लोक में नित्य नहीं है। इस अवतारतत्त्व की रसोपासना का सिद्धांत माध्व-गौडेश्वर संप्रदाय में इस प्रकार से दिया गया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनं।
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं पुराणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो ना: पर: ॥

अर्थात् "हमारे आराध्यदेव हैं व्रजेन्द्रनंदन भगवान् श्रीकृष्ण जिनका धाम है श्रीवृंदावन। हमारी उपासना का भी वही कोई रमणीय सिद्धांत है जिसको पूर्वकालमें गोपी-जनों ने कल्पित किया था। हमारा शास्त्र है श्रीमद्भागवत जैसा निर्मल पुराण और लक्ष्य है पंचम पुरुषार्थ प्रेमा-भक्ति। बस, श्रीचैतन्य महाप्रभु का इतना ही मत है और यही ग्रहणीय है, अन्य नहीं।"

इस श्लोक से बहुत स्पष्ट है कि नंदनंदन श्रीकृष्ण आराध्य हैं और आराधना की शैली गोपी-भाव है।

(ख) नित्य-विहारी श्रीकृष्ण और निकुंज रस

परकीयात्व और औपपत्य व्रज-रस के निज अंग हैं। ये दोनों नंदनंदन अवतार में ही संभव है, नित्यविहारी श्रीकृष्ण में नहीं, क्योंकि नित्य तत्व अवतार नहीं अवतारी है। उसका विहार भी काल-व्यवधान-रहित अखंड एकरस और नित्य है।

उसका समस्त परिकर भी नित्य और उसका 'स्व' है 'पर' नहीं। इस नित्य तत्व का ही प्रकाश करते हुए श्रीहित हरिवंश रसिकाचार्य्य चरण ने कहा है—

> यद् वृंदावनमात्रगोचरमहो यन्न श्रुतीनां शिरोऽ-
> प्यारोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनां तु यद्ध्यानगम् ।
> यत्प्रेमामृतमाधुरी–रस–मयं यन्नित्यकैशोरकं
> तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ॥
>
> —श्रीराधा-सुधानिधि, श्लोक ७६

अर्थात् "अहो! जो केवल श्रीवृंदावन में ही दृष्टिगोचर होता है अन्यत्र नहीं, जिसका वर्णन करने में श्रुति-शिरोभाग उपनिषद् भी समर्थ नहीं है, जो शिव और शुक आदि के भी ध्यान में नहीं आता, जो प्रेमामृत माधुरी से परिपूर्ण है और जो नित्य-किशोर है उस रूप को देखने के लिये मेरे नेत्र चंचल हो रहे हैं।"

रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु ने बताया है कि यह नित्यबिहारी तत्त्व समस्त वेद, उपनिषद्, पुराण एवं शास्त्रों से अलक्षित और अगोचर है। सब वेदादि जिसकी ओर "रसो वै सः" वह रस रूप है, कह कर संकेत मात्र करते हैं, वह श्रुति-अलक्षित तत्त्व श्रीराधावल्लभ लाल है। यह तत्त्व नित्य, सत्य और सच्चिदानंदघन है। यह प्रेम, रूप-माधुर्य्य, सौंदर्य, रस, सुख, आनंद और भाव की परावधि है। यह समस्त अवतारों का निधान और मूल है। इसी से सारे अवतार होते रहते हैं, जैसे अग्नि से चिनगारियाँ। श्रीराधावल्लभ-लाल सर्व-तंत्र-स्वतंत्र ब्रह्म के भी ब्रह्म हैं। इन्हें सृष्टि, पालन एवं प्रलय की व्यवस्थाओं से

न कोई प्रयोजन है और न उनकी स्मृति की ही। ये अपने नित्य-रस में मग्न हुए अपनी निजरूपा स्वामिनी श्रीराधा के साथ आनंद विहार ही करते रहते हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दो नहीं एक ही तत्त्व हैं। ये दो ही क्यों ? सारा नित्य विहार-परिकर ही एक तत्त्व रूप है।

नित्य-विहार परिकर के मुख्य चार अंग हैं:—श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृंदावन और सखियाँ। किंतु ये चारों एक ही तत्त्वप्रेम की चार आकृतियाँमात्र हैं जो परस्पर ओत-प्रोत हैं। प्रेमरूप युगल किशोर जो निरंतर प्रेम-क्रीड़ा किया करते हैं उसी को नित्य-विहार या निकुंज-क्रीड़ा कहते हैं। इस नित्य-विहार के परिकर में वियोग-भ्रम या विरह की कोई कल्पना तक नहीं है। यहाँ नित्य मिलन की ही एकरस क्रीड़ा है। यहाँ सखियाँ युगल किशोर की आत्म-भूता हैं। अतः 'स्व-पर' भेद से रहित हैं।

यह विहार नित्य-निरंतर अनादि अनंत रूप से दिव्य धाम श्रीवृंदावन में होता रहता है। वृंदावन का स्वरूप स्थूल से तो परे है ही; सूक्ष्म और कारण से भी परे अतर्क्य और अवाङ्मनस-गोचर है। नित्यविहार की कल्पना की झाँकी श्रीहित ध्रुवदास जी ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत की है:—
क्या है ?

न आदि न अंत बिहार करैं दोउ,
लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई नई भाँति नई नई काँति,
नई नवला नव नेह बिहारी॥
दियैं चित आहि, रहे सुख चाहि,
रहे तन प्रान सु सर्वसु हारी।

रहैं इक पास करैं मृदु हाँस,
सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कथा री ॥

और—

वृंदावन रस सबकौ सारा।
नित सर्वोपरि जुगल विहारा ॥
नित्य किसोर रूप की रासी।
नित्य विनोद मंद मृदु हासी ॥
सुख की अवधि प्रेम कौ ऐंना।
सेवत मैंननि की सत सैंना ॥
विहरत तहाँ परम सुकुमारा।
रूप माधुरी कौ नहिं पारा ॥
नित्य विहार अखंडित धारा।
एक वैस रस विवि सुकुमारा ॥
नित्य किसोर रूप निधि सींवा।
विलसत सहज मेलि भुज ग्रीवा ॥
तिन बिच अंतर पलकौ नाहीं।
तऊ तृषित प्रीतम मन माँहीं ॥
अद्‌भुत सहज रंग सुखदाई।
तहाँ प्रेम की एक दुहाई ॥
तिनकौ प्रेम और ही भाँति।
अद्‌भुत रीति कही नहिं जाति ॥
सूछम प्रेम 'विरह सुखदाई।
दिन संजोग में रहत हैं माई ॥
छिन छिन दसा और की औरै।
थाँभे रहति सखी सिरमौरै ॥

विरह सँजोग दिनहिं दिन माँहीं ।
जद्दपि ग्रीवनि मेलैं बाँहीं ॥
इहि विधि खेलत कलप विहाने ।
परम रसिक कबहूँ न अघाने ॥
प्रेम तरंग कहे नहिं जाँहीं ।
छिन-छिन जे उपजत मन माँही ॥
देखिवौ जहाँ विरह सम होई ।
तहाँ कौ प्रेम कहा कहै कोई ॥

× × ×

या सुख पर नाँहिन सुख औरै ।
जेहि उर रचे रसिक सिरमौरै ॥
श्रीहरिवंश–चरन उर धारै ।
सो या रस में मन अनुसारै ॥

नित्यहिं नित्य बिहार दोऊ करत लाड़िली लाल ।
वृंदावन आनंद जल बरसत है सब काल ॥
रूप रँगीली सभा सो प्रेम रंगीलौ राज ।
सखी सहेली संग रँग अद्भुत सहज समाज ॥

यह नित्य-विहारी तत्त्व रूप, लावण्य, चातुर्य्य-केलि और प्रेम रस का सिंधु है—

वैदग्ध्य - सिन्धुरनुराग–रसैक–सिन्धु–
वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः ।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः,
श्रीराधिका स्फुरतु में हृदि केलिसिन्धुः ॥
——श्रीराधा सुधानिधि १७

"जो चातुर्य्य की सिंधु, प्रेम रस की सिंधु, वात्सल्य भाव की सिंधु, अति कृपा की सिंधु, लावण्य की सिंधु और छवि रूप अमृत की अपार सिन्धु हैं वे केलि-सिन्धुरूपा श्रीराधा मेरे हृदय में स्फुरित हों।"

ये श्रीराधा या श्रीकृष्ण केवल इन सबके सिन्धु ही नहीं सार भी हैं—

> लावण्यसार—रससार—सुखैकसारे,
> कारुण्यसार—मधुरच्छवि—रूपसारे।
> वैदग्ध्य-सार - रतिकेलि-विलास - सारे,
> राधाभिधे मम मनोऽखिलसारसारे ॥
>
> —श्रीराधासुधानिधि २५

अर्थात् "वे राधा नामक कोई अखिल सारों की भी सार-रूपा सर्वेश्वरी लावण्य की सार, सुख की एकमात्र सार, करुणा की सार, मधुर रूप छवि की सार, रति-विदग्धता की सार एवं रति-केलि विलास की भी सार हैं।"

सारांश यह है कि नित्य विहारी लाल सौंदर्य्य माधुर्य की चरम सीमा और परात्पर तत्त्व हैं। यही युगल किशोर रूप अखिल सौंदर्य्य माधुर्य्य-निधि रस-तत्त्व रसिक जनों का लक्ष्य और उपास्य है। ये श्रीराधावल्लभ प्रेम और रस की अपूर्व निधि हैं—पराकाष्ठा हैं—

> एकै प्रेमी एक रस श्रीराधावल्लभ आहि।
> भूलि कहै जो और ठौं झूठौं जानौं ताहि ॥
>
> —ध्रुवदास जी।

इन कमनीय युगल किशोर की प्रेम-केलि का वर्णन करते हुए श्रीहिताचार्य्य-पाद ने कहा है—

मिथो भङ्गी–कोटि–प्रवहदनुरागामृतरस–
स्तरङ्ग–भ्रूभङ्गक्षुभितबहिरभ्यन्तरमहो।
मदाघूर्णन्नेत्रं रचयति विचित्रं रतिकला–
विलासं तत्कुञ्जे जयति नवकैशोरमिथुनम् ॥

अर्थात् "युगल किशोर के पारस्परिक हाव-भाव के विस्तार से आज प्रेमामृत रस का प्रवाह सा बह चला है। उस प्रवाह में दोनों की कुटिल भृकुटियों के नर्त्तन ही मानों तरंगें हैं। युगल किशोर के नयन रस के मद से घूर्णायमान हो रहे हैं। दोनों नव-निकुंज भवन में रतिकला के विचित्र विलास की रचना करते हैं और इस प्रकार सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो रहे हैं।"

इस तरह सिद्ध है कि नित्य-विहार सिवाय प्रेम-केलि के और कुछ है ही नहीं। युगल किशोर एक प्रेम के ही दो रूप हैं। प्रेम ही विविध रूपों में विलास कर रहा है। अतः नित्य-विहार केवल हित-प्रेम का ही विलास है।

युगल सरकार और हिततत्त्व

'जीव का भावमय स्वरूप' इस शीर्षक से हम पहले बता आये हैं कि जीव और विभु नामक दो अलग अलग तत्त्व नहीं है वरं एक प्रेम-तत्त्व ही अनेक रूपों में विद्यमान है। वही जीव रूप है और वही विभु रूप है। 'हित' ही 'ब्रह्म' है। प्रेम ही परमात्मा है। वही व्यापक प्रेम नित्य-विहार-केलि में चाररूपों में व्याप्त है, अर्थात् युगल, श्रीवन और सहचरी-गण। यावन्-मात्र स्थिर-जंगम सब प्रम के ही स्थूल रूप हैं या प्रेम चर-अचर रूप में जडतासंचारीभाव को प्राप्त हो गया है। चराचर व्यापक इस प्रेम का सर्वत्र दर्शन करते हुए श्रीलाड़िलीदास जी ने

कहा—सबै चित्र हित मित्र के जहँ लौं धामी धाम। अर्थात् "जहाँ तक धाम है और उनके वामी धामी हैं सब उसी एक 'हित-मित्र (प्रेम देवता) के चित्र हैं।

यह प्रेम किन किन रूपों में और किस प्रकार व्याप्त है इसका संकेत करते हुए चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी ने भी कहा है—

> बन्दौं प्रेम खिलारी दंपति उर जो है।
> मुनि जन मन मोहै॥
> कौतुक रचै जु भारी वारी अति रस रूप छकावै।
> सदा सदेह रहै वृंदावन पिय प्यारी दुलरावै॥
> याके खेल रसिक जन परचैं थिरचर सब मन भावै।
> वृंदावन हित रूप सहेलिनु चित जु चोज उपजावै॥

जो प्रेम दंपति (युगल-किशोर) के हृदय में है वही मुनियों का मन मोहित करता और स्थिर-चर सब में व्याप्त है। वही प्रेमतत्त्व मूर्तिमान् होकर श्रीहित हरिवंश के रूप में श्रीवन में विराज कर युगल किशोर को दुलराता है। किं बहुना? वही सखियों के हृदय में बैठ कर रसानुभव भी कराता है।

प्रेम अनिर्वचनीय तत्त्व है। वह एक होकर भी अनेक है। वह प्रिया है, वह प्रियतम है, वह सखी है, वह श्रीवन है और वह इनसे परे भी है। ये सब मिलकर उसका रसास्वादन करते हैं, उसे जानना चाहते हैं पर जान नहीं पाते। उसने सबके चित्त को हरण कर रखा है। उस प्रेम ने उन्हें किस प्रकार वशीभूत कर रखा है, वे स्वयं सर्वज्ञ होकर भी नहीं जान पाये हैं। उस दिव्यातिदिव्य प्रेम के परिचय में कोई क्या कहे?

यह प्रेम अमृतरूप है; मूक के आस्वादन की भाँति अव्यक्त है। और एक रहस्य है जो श्रीकृष्ण और श्रीराधा-प्रेम प्रतिमाओं के भी चित्त को हरण किये बैठा है। श्रीहिताचार्य्यचरण कहते हैं—

> यन्नारदाजेश–शुकैरगम्यं
> वृन्दावने वञ्जुल–मञ्जु–कुञ्जे।
> तत्कृष्णचेतो–हरणैकविज्ञ—
> मत्रास्ति किञ्चित् परमं रहस्यम्॥

अर्थात् "यहाँ श्रीवृंदावन की वेतस कुंजों में एक रहस्य है, रहस्य! औरों की तो बात ही क्या जो ब्रह्मा, नारद, शंकर, शुकदेव आदि के लिये भी अगम्य है। ये बड़े-बड़े महा-भागवतगण भी उसे नहीं जान पाये हैं। उसकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि वह उन श्रीराधा और श्रीकृष्ण का भी चित्त चुराने में बहुत चतुर है।

(१०)

पूर्वी भारत में भक्ति आंदोलन

(१) सहजिया वैष्णव-संप्रदाय
(२) चैतन्य संप्रदाय
(३) उत्कल वैष्णव-धर्म
(४) महापुरुषिया-धर्म

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम् ।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु नः शचीनन्दनः ॥
—श्रीरूपगोस्वामी

सहजिया वैष्णव संप्रदाय

बंगाल में वैष्णव धर्म का शंखनाद श्री चैतन्य महाप्रभु ने १६वीं शती में बजाया, परंतु उनके उदय से पहिले भी वहाँ एक वैष्णव संप्रदाय प्रचलित था जो आज भी नाना उपभेदों के द्वारा अपनी सत्ता जमाये हुए है। इस संप्रदाय का नाम है—**सहजिया वैष्णव संप्रदाय**। बंगाल तांत्रिक बुद्धधर्म के जन्म तथा विलास का लीला-स्थल है जहाँ महायान धर्म ने कालांतर में 'वज्रयान' के नाम से महनीय तांत्रिक धर्म के रूप में अपना अड्डा जमाया और यहीं से यह नेपाल, तिब्बत आदि देशों में फैल कर आज भी अपना महत्त्व तथा गौरव बनाये हुए है। मंत्रतंत्र-बहुल 'वज्रयान' ही 'सहजयान' के नाम से भी विख्यात है। इस धर्म के अपने माननीय सिद्धांत हैं जिनका प्रभाव सहजिया वैष्णव धर्म के ऊपर भी कुछ अंशों में पड़ा है। अतः इस वैष्णव धर्म के स्वरूप जानने से पहिले 'सहजयान' के तत्त्वों से परिचय रखना नितांत आवश्यक है।

(१)

सहजावस्था

वज्रयान का ही दूसरा नाम सहजयान है। सहजिया संप्रदाय के योगियों के मतानुसार 'सहजावस्था' को प्राप्त करना सिद्धि की पूर्णता है। इसी अवस्था का नामन्तर निर्वाण,

महासुख, सुखराज,[1] महामुद्रा-साक्षात्कार आदि हैं। इसी अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान—ग्राहक, ग्राह्य तथा ग्रहण इस लोक-प्रसिद्ध त्रिपुटी का उस समय सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अवस्था का वर्णन सरहपा (८०० ई० के आसपास) ने इस प्रसिद्ध दोहे में किया है:—

'जह मन पवन न सञ्चरइ रवि ससि नाह पवेश।
तहिं बट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ॥'

अर्थात् सहजावस्था में मन और प्राण का संचार नहीं होता। सूर्य और चंद्र का वहाँ प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। चंद्र और सूर्य इडा-पिंगलामय आवर्तशील काल-चक्र का ही नामांतर है। निर्वाण-पद काल से अतीत होता है इसीलिये वहाँ चंद्र और सूर्य के प्रवेश न होने की बात का सरहपा ने वर्णन किया है। इसी अवस्था का नाम है 'उन्मनीभाव'। इसी अवस्था में मन का लय स्वाभाविक व्यापार है। उस समय वायु का भी निरोध संपन्न होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि यही निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति का निज-स्वभाव (अपना सच्चा रूप) है। इस समय जो आनंद होता है उसी को 'महासुख' कहते हैं। इसी का नाम 'सहज' है। वह एक, कारणहीन परमार्थ है। महासुख के विषय में सरहपाद की यह उक्ति नितांत सत्य है—

"घोरे न्धारे चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुख एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ ॥

---

१ जयति सुखराज एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः ॥
—सरहपाद का वचन; सेकोद्देशटीका पृ० ६३

अर्थात् घोर अंधकार को जिस प्रकार चंद्रकांत मणि दूर कर अपने निर्मल प्रकाश से उद्भासित होता है उसी प्रकार इस अवस्था में महासुख समस्त पापों को दूर कर प्रकाशित होता है। इस महासुख की उपलब्धि वज्रयानी सिद्धों के लिये परमपद की प्राप्ति है[1]।

इसी महासुख के प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है गुरु का उपदेश। तंत्र साधन-मार्ग है। पुस्तकावलोकन से इस मार्ग का रहस्य नहीं जाना जा सकता। इसीलिये साधक को किसी योग्य गुरु की शिक्षा नितांत आवश्यक होती है[2]। परंतु गुरु का स्वरूप क्या है?

यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। सहजिया लोग कहते हैं कि गुरु युगनद्धरूप है अर्थात् मिथुनाकार है। वह शून्यता और करुणा की युगलमूर्ति है; उपाय तथा प्रज्ञा का समरस विग्रह है। शून्यता सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान का वाचक है। करुणा का अर्थ जीवों के उद्धार करने के लिये महती दया दिखलाना है। गुरु को शून्यता और करुणा की मिश्रित मूर्ति बतलाने का अभिप्राय यह है कि वह परम ज्ञानी होता है; परंतु साथ ही साथ जगत् के नाना प्रपंच के आर्त प्राणियों के उद्धार के लिये उसके हृदय में

---

१ हेवज्रतन्त्र में महासुख को उस अवस्था का आनंद बतलाया है जिसमें न तो संसार (भव) है, न निर्वाण, न अपनापन रहता है, न परायापन। आदि-अंत-मध्य का अभाव रहता है:—

आइ ण अनंत मज्झ णहि, नउ भव नउ निव्वाण।
एहु सो परम महासुहऊ, नउ पर नउ अप्पाण॥

—सेकोद्देश टीका (पृ० ६३) में उद्धृत हेवज्रतन्त्र का वचन।

२. ज्ञान-सिद्धि का १३वाँ परिच्छेद-द्रष्टव्य।

महती दया विद्यमान रहती है। व्रज्रवान में प्रज्ञा और उपाय के एकीकरण के ऊपर जोर दिया गया है। क्योंकि प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है[1]।

बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये केवल प्रज्ञा से काम नहीं चलता और न उपाय से ही काम चलता है।[2] उसके लिये दोनों का संयोग नितांत आवश्यक है। इन्हीं दोनों की मिलित मूर्ति होने से गुरु को 'मिथुनाकार' बतलाया गया है। बज्रयानी सिद्धों के मत में मौन मुद्रा ही गुरु का उपदेश है। शब्द के द्वारा सहज तत्त्व का परिचय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि मन और वाणी के गोचर पदार्थ विकल्प के अंतर्गत हैं। निर्विकल्प तत्त्व शब्दातीत है। इसी को महायानी ग्रंथों में 'अनक्षर तत्त्व' कहा गया है।

सच्चा गुरु वह है जो आनंद या रति के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करे[3]। केवल मौखिक उपदेश देना गुरु का काम नहीं है। गुरु का काम हृदय के अंधकार को

---

१. न प्रज्ञाकेवलमात्रेण बुद्धत्वं भवति, नाप्युपायमात्रेण। किंतु यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ समतास्वभावौ भवतः, एतौ द्वौ अभिन्नरूपौ भवतः तदा भुक्तिमुक्तिर्भवति।

२ उभयोर्मिलनं यच्च, सलिल - क्षीरयोरिव।
अद्वयाकारयोगेन प्रज्ञोपायं तदुच्यते॥
चिन्तामणिरिवाशेषजगतः सर्वदा स्थितम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपायस्वभावतः॥

३ सद्गुरुः शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति।

दूर कर प्रकाश तथा आनंद का उल्लास करना है। तंत्र-शास्त्र में इसीलिये उपयुक्त गुरु की खोज के लिए इतना आग्रह है[1]।

महासुख की उपलब्धि के स्थान तथा उपाय का वर्णन वज्रयानी ग्रंथों में विस्तार के साथ मिलता है। सिद्धों का कहना है कि 'उष्णीष कमल' में महासुख की अभिव्यक्ति होती है। तंत्रशास्त्र और हठयोग के ग्रंथों में इस कमल को 'सहस्रदल' (हजार पत्तों वाला) कहा गया है। वज्रगुरु का आसन इसी कमल की कर्णिका के मध्य में है। इस स्थान की प्राप्ति मध्यममार्ग के अवलंबन करने से ही हो सकती है। जीव सांसारिक दशा में दक्षिण और वाम मार्ग में इतना भ्रमण करता है कि उसे मध्यम मार्ग में जाने के लिये तनिक भी सामर्थ्य नहीं होती। यह मार्ग गुरु की कृपा से ही प्राप्य है। सहजिया लोग वाम शक्ति को 'ललना' और दक्षिण शक्ति को 'रसना' कहते हैं। तांत्रिक भाषा में ललना, चंद्र तथा प्रज्ञा वाम शक्ति के द्योतक होने से समानार्थक हैं। रसना, सूर्य और उपाय दक्षिण शक्ति के बोधक होने से पर्यायवाची हैं। इन दोनों के बीच में चलने वाली शक्ति का पारिभाषिक नाम है "अवधूती"[2]। अवधूती शब्द की व्युत्पत्ति है—

अवधूती-मार्ग

---

१ या सा संसारचक्रं विरचयति मनः सन्नियोगात्महेतोः;
सा धीर्यस्य प्रसादाद्विशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपंचम्।
तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तं;
कुर्यात्तस्याङ्घ्रियुग्मं शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकालम्॥
—चर्याचर्यविनिश्चय—पृ० ३

२ द्रष्टव्य 'वीणापाद' का यह गायन—
सु ज लाउ ससि लागेलि तान्ती।
अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती॥

"अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि पापान् धुनोति।

अर्थात् वह शक्ति जो अनायास ही क्लेशादि पापों को दूर कर देती है। अवधूतीमार्ग ही अद्वयमार्ग, शून्यपथ, आनंदस्थान आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। ललना और रसना इसी अवधूती के ही अविशुद्ध रूप हैं। जब ये शक्तियाँ विशुद्ध होकर एकाकार हो जाती हैं तो इन्हें "अवधूती" कहते हैं। तब चंद्र का चांद्रत्व नहीं रहता और न सूर्य का सूर्यत्व रहता है। क्योंकि इन दोनों के आलिंगन से ही 'अवधूती' का उदय होता है। वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना के शोधन करने से तात्पर्य, नाड़ी की शुद्धि से है। शोधन होने पर दोनों नाड़ियाँ मिलकर एकरस या एकाकार हो जाती हैं। इसी निःस्वभाव या नैरात्म्य अवस्था को ही शून्यावस्था कहते हैं। जो इस शून्यमय अद्वैतभाव में अधिष्ठान कर आत्मप्रकाश करता है वही सच्चा वज्रगुरु है

रागमार्ग—

महासुख कमल में जाने के लिये यथार्थ सामरस्य प्राप्त करने के लिये मध्यपथ का अवलंबन करना तथा द्वंद्व का मिलन कराना ही होगा। दो को बिना एक किये हुये सृष्टि और संहार से अतीत निरंजन पद की प्राप्ति असंभव है। इसलिये मिलन ही अद्वय-शून्यावस्था तथा परमानंद लाभ का एकमात्र उपाय है। सह-जिया लोगों का कहना है कि बुरे कर्मों के परिहार से तथा इंद्रिय-

---

बाजइ अलो सहि हेरुअ बीणा।
सुन तांति धनि विलसइ रुणा॥
—बौद्धगान ओ दोहा पृ० ३०

निरोध से निर्विकल्पक दशा उत्पन्न नहीं की जा सकती। युगल अवस्था की प्राप्ति न होने से विराग तथा विषय का त्याग एकदम निष्फल है। इसके लिये एक ही मार्ग—सहजमार्ग—रागमार्ग है, वैराग्यमार्ग नहीं। इस मार्ग के लिये कठिन तपस्या आदि का विधान निष्फल है। श्रीसमाजतंत्र का कथन है कि दुष्कर नियमों के करने से शरीर केवल दुःख पाकर सूखता है; चित्त दुःख के समुद्र में गिर पड़ता है। इस प्रकार विक्षेप होने से सिद्धि नहीं मिलती—

> दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, मूर्तिः शुष्यति दुःखिता।
> दुःखाब्धौ क्षिप्यते चित्तं, विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा॥

इसलिये पंच प्रकारों के कामों का त्यागकर तपस्या द्वारा अपने को पीड़ित न करे। योगतंत्रानुसार सुखपूर्वक बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति के लिये सदा उद्यत रहे—

> पञ्चकामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत्।
> सुखेन साधयेत् बोधिं योगतन्त्रानुसारतः॥

इसलिये वज्रयान का यह सिद्धांत है कि देहरूपी वृक्ष के चित्त-रूपी अंकुर को विशुद्ध विषय-रस के द्वारा सिक्त करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है और आकाश के समान निरंजन फल फलता है। महासुख की तभी प्राप्ति होती है:—

> तनुतरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
> गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते[1]

---

१ 'चर्याचर्यविनिश्चय' के लुईपाद कृत प्रथम पाद की टीका में उद्धृत सरहपाद का वचन।

राग से ही बंधन होता है अतः मुक्ति भी राग से ही उत्पन्न होती है। इसलिये मुक्ति का सहज साधन महाराग या अनन्य-राग है, वैराग्य नहीं। इस बात के ऊपर 'हेवज्रतंत्र' आदि अनेक तंत्रों की उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है:—"**रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते।**" इसलिये अनंगवज्र ने चित्त को ही संसार और निर्वाण दोनों बतलाया है। जिस समय चित्त बहुल-संकल्प-रूपी अंधकार से अभिभूत रहता है, बिजुली के समान चंचल होता है और राग, द्वेष आदि मलों से लिप्त रहता है, तब वही संसार-रूप है[1]।

अनल्प-संकल्प-तमोभिभूतं ,
प्रभञ्जनोन्मत्त-तडिच्चलञ्च ।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं ;
चित्तं विसंसारमुवाच वज्री ॥

वही चित्त जब प्रकाशमान होकर कल्पना से विमुक्त होता है, रागादि मलों के लेप से विरहित होता है, ग्राह्य, ग्राहक भाव की दशा को अतीत कर जाता है तब वही चित्त निर्वाण कहलाता है[2]। वैराग्य को दमन करनेवाले पुरुष को 'वीर' कहते हैं।

---

१ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ४।२२

२ प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं, प्रहीणरागादिमलप्रलेपम् ॥
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्वं, तदेव निर्वाणपदं जगाद ॥
—प्र० वि० सि० ४।२४

नागार्जुन के निम्नांकित वचन से इसकी तुलना कीजिये।

निर्वाणस्य या कोटिः, कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किञ्चित्, सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥

ऊपर ललना और रसना के एकत्र मिलन की बात कही गयी है। विशुद्ध होने पर ये दोनों 'अवधूती' के रूप में परिणत हो जाती हैं। उस समय एकमात्र अवधूतिका ही प्रज्वलित रहती है। 'अवधूतिका' के विशुद्ध रूप के लिए 'डोम्बी' शब्द का व्यवहार किया जाता है। वामशक्ति और दक्षिणशक्ति के मिलन से जो अग्नि या तेज उत्पन्न होता है उसकी प्रथम अभिव्यक्ति नाभिचक्र में होती है। इस अवस्था में वह शक्ति अच्छी तरह विशुद्ध नहीं रहती। इसका सहजिया भाषा में सांकेतिक नाम 'चाण्डाली' है। जब चाण्डाली विशुद्ध हो जाती है तब उसे 'डोम्बी' या 'बगाली' कहते हैं[1]। अवधूती, चाण्डाली और बंगाली (या डोम्बी) एक ही शक्ति की त्रिविध अवस्था के नामांतर हैं। अवधूती अवस्था मे द्वैत का निवास रहता है क्योंकि उसमें इड़ा और पिङ्गला पृथक् रूप में अपना काय अलग-अलग निर्वाह करती हैं। चाण्डाली अवस्था में द्वैताद्वैत का निवास है तथा बंगाली अद्वैतभाव की सूचिका है। तंत्र में शक्ति के जो तीन भेद—अपरा, परापरा तथा परा—किये गये हैं उनका लक्ष्य इन्हीं तीनों भेदों से है। अवधूती अवस्था में वायु का संचार तथा निर्गम होता है, इसी का नाम संसार है। शक्ति को सरलमार्ग में ले आना अर्थात् वक्र गति को दूरकर

'डोम्बी' तथा 'चाण्डाली'

---

१ तुलनीय भुसुकुपाद की यह प्रसिद्ध गीति—

आज भुसुक् बंगाली भइली।
णिअ घरिणीं चण्डाली लेली॥
डहि जो पंचघाट णइ दिविसंज्ञा णठा।
न जानमि चिअ मोर कहिं गइ पइठा॥

सरलपथ में ले चलना साधक का प्रधान कार्य है। सिद्धाचार्यों का उजू बाट[1] (ऋजुवर्त्म—सीधा मार्ग) यही है। वाम और दक्षिण की गति जब तक है तब तक हमारा मार्ग टेढ़ा (सिद्धों की भाषा में बाँक=वक्र) ही रहता है। इस मार्ग को छोड़कर सीधे मार्ग में आने के लिये सिद्धाचार्यों ने अनेक सुंदर दृष्टांत दिये हैं। इस मार्ग के अवलंबन करने से वज्रयानी साधक को अपनी अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। अंतिम क्षणमें रागाग्नि आपसे आप शांतहो जाती है जिसका नाम है निर्वाण (या आगका बुझ जाना)। रागाग्नि के निवृत्त होने से जिस आनंद का प्रकाश होता

---

१ मध्यमार्ग ही सरल मार्ग, ऋजु मार्ग या ऊजू बाट है। सरहपाद की युक्ति है:—

"उजू रे उजू छाडि ना लेओ रे वँक।"
निअहि बोहिया जाहु रे लाँक॥

अर्थात् ऋजुमार्ग को पकड़ो, टेढ़े रास्ते को छोड दो।

सिद्धाचार्य शांतिपाद (प्रसिद्ध नाम भुसुक) की यह उक्ति भी मननीय है—

वाम दहिन दो बाटा छाड़ी।
शांति बुगथेउ सकेलिउ॥

अर्थात् वाम और दक्षिण मार्ग को छोड़कर मध्यमार्ग का ग्रहण आवश्यक है। यही विशुद्ध 'अवधूतीमार्ग' या वज्रमार्ग है। बिना इसका आश्रय लिये बुद्धत्व, तथागतभाव या महासुख की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है—एतद् विरमानन्दोपायमार्गं विहाय नान्यमार्गसद्भावोऽभिमुखोऽस्ति। इसी का द्योतक यह तंत्र-वचन है—

एष मार्गवरः श्रेष्ठो महायानमहोदयः।
येन यूयं गमिष्यन्तो भविष्यथ तथागताः॥

है उसे कहते हैं–विरमानंद। उस समय चंद्र स्वभावस्थित होता है, मन स्थिर होता है तथा वायु की गति स्तम्भित होती है। जिसके हृदय में विरमानंद का प्रकाश उत्पन्न हो गया है, वही यथार्थ में योगीन्द्र, योगिराट् है तथा सहजिया भाषा में वही 'वज्रधर' पदवाच्य सद्गुरु कहलाता है।

महामुद्रा

सहजिया लोगों में महामुद्रा का साक्षात्कार ही सिद्धि गिना जाता है। शून्यता तथा करुणा के अभेद को ही 'महामुद्रा' कहते हैं[1]। जिसने अभेद ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, उससे अज्ञात कोई भी पदार्थ नहीं रहता। उसके लिए समग्र विश्व के पदार्थ अपने विशुद्धरूप को प्रकट कर देते हैं। 'धर्मकरण्डक', 'बुद्धरत्नकरण्डक' तथा 'जिनरत्न'—इसी महामुद्रा के पर्याय हैं। तंत्रशास्त्र में शिव और शक्ति का जो तात्पर्य तथा स्थान है वही रहस्य तथा स्थान वज्र-यान में शून्यता तथा करुणा अथवा वज्र और कमल का है। शिव-शक्ति के सामरस्य को दिखलाने के लिए तंत्र में एक यंत्रविशेष का उपयोग किया जाता है। यंत्र में दो समकेंद्र त्रिकोण हैं—एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण रहता है और दूसरा अधोमुख त्रिकोण। ये पृथक् रूप से शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व के द्योतक हैं—इनका एकीकरण दोनों के परस्पर आलिंगन या मिलन का यांत्रिक निदर्शन है। शून्यता तथा करुणा के परस्पर मिलन—वज्र और कमल का परस्पर योग—दोनों का रहस्य एक ही है—शक्तिद्वय का परस्पर मिलन या सामरस्य या समरसता।

इन्द्रियसुख में आसक्त पुरुष धर्मतत्त्व का ज्ञाता कभी नहीं हो

---

१ द्रष्टव्य ज्ञानसिद्धि १।५६–५७।

सकता। वज्र-कमल के संयोग से जिस साधक ने बोधिचित्त को वज्रमार्ग में अच्युत रखने की योग्यता प्राप्त कर ली है अथवा जिसने शिव-शक्ति के मिलन से ब्रह्मनाड़ी में बिन्दु को चालित कर स्थिर तथा दृढ़ करने की सामर्थ्य सिद्ध कर ली है, वही महायोगी है। धर्म का तत्त्व उसकी ज्ञानदृष्टि के सामने स्वयं उन्मिषित हो जाता है। समस्त साधन का उद्देश्य बोधिचित्त या बिंदु की रक्षा करना है। बोधिचित्त से अभिप्राय बोधिमार्ग पर आरूढ़चित्त से है[1]। ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे चित्त उस मार्ग से पतित न हो जाय। नाना प्रकार की साधना का फल काय, वाक् तथा चित्त की दृढ़ता संपादन करना होता है। देवता के संयोग से काय की दृढ़ता, वज्रजाप के द्वारा चन्द्र-सूर्य की गति के खंडन होने पर वाक् की दृढ़ता और सुमेरुशिखर पर श्वास को ले जाने से चित्त की दृढ़ता संपादित होती है। बिना इनकी दृढ़ता हुए साधक में परम चैतन्य की शक्ति का आविर्भाव हो नहीं सकता। यदि आविर्भाव संभवतः हो भी जाय, तो उसे सहन या धारण करने की क्षमता साधक में नहीं रहती। इसी लिए गुरु इस दृढ़ता की प्राप्ति के लिए विशेष आग्रह दिखलाता है। इस दृढ़ता की अभिव्यक्ति 'वज्र' शब्द के द्वारा की जाती है। इस प्रकार द्वैतभाव के परित्याग से अद्वैतभाव की अनुभूति वज्रयान का चरम लक्ष्य है। 'वज्र' शून्यता का ही भौतिक

---

१ अनादिनिधनं शान्तं भावाभावक्षयं विभुम्।
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्॥

—श्रीसमाजतन्त्र पृ० १५३।

इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य—ज्ञानसिद्धि पृ० ७५।

प्रतीक है क्योंकि दोनों ही दृढ़, अखंडनीय, अछेद्य, अभेद्य तथा अविनाशी हैं—

> दृढ़ं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
> अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥
>
> —वज्रशेखर पृ० २३

सहजयान में परमार्थ की प्राप्ति 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' के परस्पर योग का परिणत फल है। शून्यता का ही अपर नाम है 'प्रज्ञा' तथा अशेष प्राणियों पर अनुकंपा का ही अभिधान है 'उपाय'। जो मनुष्य प्रज्ञा तथा उपाय से युक्त रहता है तथा संसार के पदार्थों से आसक्तिहीन रहता है। वह इसी जन्म में सिद्ध हो जाता है; इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है। ऊपर कहा गया है कि सहजयान रागमार्ग है, वैराग्यमार्ग नहीं अर्थात् जो राग अशुद्ध तथा मलिन होने पर संसार में बंधन का कारण बनता है वही राग कालुष्य तथा कामना से विरहित होने पर अपने परिशोधित रूप में जगत् में मोक्ष का साधन बनता है। इस राग के परिशोधन के निमित्त सहजयान का साधन मुद्रा का साधन करता है अर्थात् किसी पर-स्त्री के संग अनेक विशिष्ट तांत्रिक क्रियाओं का अनुष्ठान करता हुआ अपने 'काम' को 'राग' के रूप में परिणत करता है और इसी जन्म में 'महासुख' का अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्ति लाभ करता है।

—:o:—

(१)

सहजिया वैष्णव संप्रदाय

सहजिया वैष्णव लोग रागानुगा प्रेमाभक्ति के अनुयायी हैं, इसलिए वे लोग वैधी भक्ति को विशेष महत्त्व नहीं देते। 'सहज' शब्द की संप्रदायगत व्याख्या ठीक ठीक जान लेने पर इस मत के सिद्धांतों से पूरा परिचय प्राप्त हो सकता है। मनुष्य परमात्मा का ही रूप है और प्रेम ही परमात्मा का सहज धर्म है जिसे मनुष्य भगवान् की विभूति होने के कारण से स्वतः धारण करता है। मनुष्य भगवदंश होने से सहज रूप से प्रेम को धारण करता है[1]। इसी प्रेम के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का इतना प्रसार कर लेता है कि वह प्रत्येक जीव के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर लेता है और तद्-द्वारा भगवान् के साथ भी अपनी पूर्ण एकता स्थापित कर लेता है। तब वह सिद्ध बन जाता है और परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लेता है।

सहजिया लोग इसीलिए मनुष्य के रूप-विश्लेषण को ज्यादा महत्त्व देते हैं। प्रत्येक मानव केभीतर 'स्वरूप' और 'रूप' नामक दो भिन्न भिन्न कोटियों के स्वभाव विद्यमान रहते हैं। यह केवल धार्मिक विचार-धारा में ही महत्व नहीं रखता, प्रत्युत यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन

[illegible] आत्मा। प्रेम आत्मार सहज धर्म। ये धर्म ये वस्तुर सहित एकत्रे उत्पन्न हय ताहा ताहार सहज।

—रूपानुग-भजनदर्पण

लोगों का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य के अंतर्गत श्री कृष्ण का आध्यात्मिक तत्त्व वर्तमान है जिसको 'स्वरूप' कह सकते हैं और इसके साथ ही साथ उसमें एक निम्नस्तर का भौतिक-तत्त्व भी वर्तमान है जिसे 'रूप' कह सकते हैं। इन साधकों के अनुसार प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री को अपने रूप के ऊपर स्वरूप का आरोप कर लेना चाहिए और उसी की सहायता से साधक को अपने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव रूप में परिणत कर देना चाहिए। मनुष्य जब तक रूप की ही अभिव्यक्ति में लगा रहता है, तब तक उसका प्रेम विशुद्ध न होकर केवल मलिन बना रहता है। परंतु जब साधक रूप के ऊपर स्वरूप का आरोप कर अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है, तब उसका प्रेम भी अपनी मलिनता को छोड़ कर विशुद्ध रूप में प्रकाशित हो उठता है। बिना रूप की सहायता के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। इसी लिए ये लोग अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिए किसी परकीया के साथ प्रेम की साधना भी नितांत आवश्यक मानते हैं।

(२)

सहज मानुष

सहजिया लोग मनुष्य को ही अधिक महत्त्व देते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य यदि अपने सच्चे स्वरूप को पहचान ले तो उसके हृदय में प्रेमाभक्ति के उदय में विलंब नहीं होता। इस मार्ग के अनुसार 'सहज-मानव' ही मानव समाज के लिए

आदर्श है[1]। सहज-मानव में न रजोगुण का प्राधान्य रहता है, न तमोगुण का अतिरेक। उसमें शुद्ध सत्त्व की ही प्रतिष्ठा रहती है। वह अपने में और संसार के इतर प्राणियों में किसी प्रकार का भेद नहीं देखता। यह सांसारिक वस्तुओं में किसी प्रकार का राग नहीं रखता। न तो किसी से वह द्वेष करता है और न भला-बुरे के विवेचन में ही अपना समय गवाँता है। शुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित ऐसा मनुष्य ही सहजिया-पंथ में आदर्श मानव गिना जाता है। ऐसा मनुष्य बड़ा दुर्लभ होता है। ऐसे मनुष्य का परिचय 'चण्डीदास' ने अपने एक प्रसिद्ध पद में दिया है—

मानुष मानुष सबाइ कहये, मानुष के मन जन।
मानुष रतन मानुष जीवन, मानुष पराण धन॥
भरमें भुलये अनेक जन, मरम नाहिक जाने।
मानुषेर प्रेम नाहि जीवलोके, मानुष से प्रेम जाने॥
मानुष यारा जीवन्ते मरा, सेई से मानुष सार।
मानुष लक्षण महाभावगण, मानुष भावेर पार॥
मानुष नाम बिरल धाम, बिरल ताहार रीति।
चंडीदास कहे सकलि बिरल, के जाने ताहार रीति॥

चंडीदास का कहना है कि मनुष्य के विषय में सब चर्चा

---

१ शुद्ध सत्व जीव एई सदा निष्ठाशील।
सहजे अभेद भावे देखे ये अखिल॥
विषयेर दास्ये येई ना काटाय काल।
नयनेर दृष्टि यार चित्ते चिरकाल॥
भालमंद नाहि जाने, नाहि करे द्वेष।
अन्तरे नियत हेरे आपन महेश॥ —रसरत्न सार

करते हैं परंतु उसके शुद्ध सच्चे रूप को कोई नहीं जानता। मनुष्य रत्न है। वह सृष्टि का मूल प्राण है। वह हमारे प्राणों को आकृष्ट करने वाले पदार्थों की निर्मिति है। मानुष के बाहरी रूप को देखने वाले भ्रम म पड़े रहते हैं, क्योंकि वे उसके भीतरी रूप को जान नहीं सकते। प्रेम से मनुष्य गढ़ा जाता है—उस प्रेम से, जो इस जगत् का न होकर दिव्य लोक का है। बिना इस प्रेम को जाने कोई भी व्यक्ति सच्चा मानव नहीं हो सकता। मनुष्य प्रेम का अक्षुण्ण बहनेवाला निर्झर है। वह महाभाव-समूहों का पात्र होता है।

मनुष्य को जीवित होकर भी मृतक के समान रहना चाहिए। इस लक्षण के द्वारा सहजिया लोग मानव के एक अन्य वैशिष्ट्य की ओर संकेत करते हैं। साधना-साम्राज्य में सहजिया लोगों की यह दृढ़ मान्यता है कि पुरुष को अपनेको स्त्री समझ कर उपासना करनी चाहिए। इस विशिष्ट सिद्धांत का एक गूढ़ तात्पर्य है। इसका अभिप्राय है कि पुरुष को अपनी कामना तथा वासना को अपने काबू में रखना चाहिए और उसे यौन संबंध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए[1]। पुरुष के स्त्रीभाव धारण करने का यही आशय है सहजिया मत में। आकारतः वह पुरुष होता है परंतु वृत्तितः वह स्त्री होता है—कोमल प्रेम

---

१ शुद्धसत्त्व मानुष एई स्वभाव विनम्रति
स्त्रीमूर्ति आश्रित तार भजन पीरिति।
आपनारि नारी दिया आपनि सेवारि।
ताहा ते पुरुषत्व किंवा जाति कुल दिया।
नाममात्र पुरुष तार आकार पाइआ॥
—रत्नसार

तुलना तांत्रिक चक्रों के साथ करने पर अनेकत्र भिन्नता दृष्टि-गोचर होती है। नाभि-प्रदेश में दो सरोवरों की कल्पना, उदर-प्रदेश में नवीन सरोवर की स्थिति तथा भ्रूमध्यस्थित आज्ञा चक्र के स्थान पर किसी सरोवर का एकदम अभाव स्पष्ट ही लक्षित हो रहा है। कमलों के दलों की संख्या में तो पर्याप्त भेद है। चंडीदास ने सहजिया होने पर भी तांत्रिक चक्रों का ही अनुगमन अपने रागात्मक पदों में किया है। इस 'सप्तसरोवर' वाली कल्पना का विशद वर्णन 'निगूढ़ार्थ प्रकाशावली' में किया गया है।

नाडियों के विषय में भी दोनों मतों में मत-वैषम्य है। तांत्रिकों की तीन नाडियाँ—इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना—में सुषुम्ना को ही प्राधान्य दिया जाता है, परंतु 'निगूढ़ार्थ प्रकाशा-वली' के अनुसार मानवशरीर में ३२ नाड़ियाँ मुख्य हैं जिनमें चार नाडियाँ सर्वतोभावेन महत्त्वशालिनी हैं। अरुणवर्ण नाड़ी मूत्रनाड़ी है जिससे पशुलोग अपना जन्म ग्रहण करते हैं। 'गर्भोदकशायी' नाड़ी मन की नाड़ी है जिससे स्वकीया उपासक लोग उत्पन्न होते हैं। 'क्षीरोदशायी' नाड़ी सब नाड़ियों में श्रेष्ठ तथा उत्तम है और यहीं से कृष्ण के भक्त लोगों की उत्पत्ति होती है। और अंतिम सर्वोत्तम नाड़ी-चंद्रशायी नाड़ी-से सहजिया भक्तों का जन्म हुआ करता है[1]। इस प्रकार सहजिया लोग नाड़ियों तथा सरोवरों की उपादेयता अपनी रसमयी साधना पद्धति में विशेष रूप से मानते हैं।

सहजिया साधना में माधुर्य-भाव ही एकमात्र उपासना है। गौडीय वैष्णव गण मानवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार सख्य, दास्य तथा वात्सल्य भावों को भी उपासना में उपादेय

---

१ बोस—पोस्टचैतन्य सहजिया कल्ट पृ० १२५—१३०

मानते हैं तथा किसी किसी भाग्यशाली योग्यतम साधक के लिए माधुर्य भाव की उपासना का भी निर्देश करते हैं, परंतु सहजिया वैष्णवों में केवल एक ही भाव की उपासना मान्य तथा ग्राह्य है और वह है माधुर्य भाव की। इस उपासना में साधक भगवान् को पुरुष मानता है और अपने को स्त्री। पतिपत्नी भाव को आध्यात्मिक भाव-जगत में प्रतिष्ठित करनेवाली यही उपासना 'माधुर्य-भाव' के नाम से प्रसिद्ध है। सहजिया लोग इसी भाव के उपासक अवश्य हैं, परंतु वे ही इस भाव के आद्य प्रतिष्ठापक नहीं हैं। इस भाव का प्रतिष्ठापक स्वयं श्रीमद्भागवत ही है जिसने गोपियों के प्रेम को सर्वश्रेष्ठ, विशुद्ध, कामनाविरहित तथा स्वार्थविहीन बतलाया है। उद्धव जैसे ज्ञानी भक्त को भी गोपियों की विशुद्ध भक्तिभावनाके सामने श्रद्धासे अपना मस्तक नत करना पड़ा था और वे भी व्रज की लताओं में जन्म ग्रहण के इच्छुक इसीलिए थे कि गोपियों के पादरज के कण उनके देह पर पड़ उन्हें विशुद्ध कर देंगे। नारदजी ने इसीलिए गोपिकाओं को आदर्श भक्तों की श्रेणी में रखा है। साधक जब अपने को गोपीस्थानीय मानकर प्रियतमस्थानीय श्री कृष्ण की उपासना एकनिष्ठ चित्त से करता है, तभी माधुर्य-भावमयी उपासना का जन्म होता है।

भक्ति संप्रदाय के इतिहास में सहजिया लोगों तथा गौडीय भक्तों से भी पहिले आळवार भक्तों की उपासना में माधुर्य भाव को स्थान दिया गया हम पाते हैं। नम्म आलवार ने उपास्य-देव के मिलन को 'आध्यात्मिक सहवास' की संज्ञा दी है और इसके लिए माधुर्य भाव की ही प्रधानता दी है और प्रसिद्धि है कि इस भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कभी कभी वे स्त्री का

भी वेष धारण कर लिया करते थे[1]। वे अपने पदों में इस आंतरिक भाव के प्रकाशन से भी पराङ्मुख नहीं हैं। वे कहते हैं—"विरहिणी अपने प्रियतम के प्रति संदेश भेजने की उत्सुकता में किसी दूत को न पाकर हंस को ही भेजना चाहती है; परंतु ये दुष्ट पक्षी अपनी हंसिनी के साथ उड़ भागते हैं और उसके शब्दों को ध्यान तक में नहीं लाते। क्या उस नीलोत्पल देहधारी विष्णु के विस्तृत लोक में पहुँचने के लिए हम विरहिणियों के संदेशों का कोई अधिकार नहीं है[2]?" स्त्री आड़वार आंडाल की भक्ति तो निःसंदेह गोपीभाव की थी। वह इस भाव में इतनी पग जाती थी कि उसने अपने गाँव को ही गोकुल मान लिया था; वहाँ की लड़कियों को गोपियाँ, भगवान् के मंदिर को नंद का घर, मूर्ति को श्री कृष्ण का विग्रह मानकर प्रेम-विह्वल हो जाती थी। अंडाल अपनी रचनाओं के पाँचवें दशक में एक विरहिणी की भाँति प्रियतम के पास अपने संदेश को ले जाने के लिए कोयल से आग्रह करती है।

फलतः माधुर्य भाव की उपासना प्राचीनकाल से इस भारतवर्ष में प्रचलित थी। सहजिया लोगों ने इस उपासना को खूब ही महत्त्व दिया। इसकी पूर्णता के निमित्त वे लोग परकीया के माध्यम द्वारा प्रेम साधना में व्यावहारिक रूप से अग्रसर रहते थे। गौडीय वैष्णवों के यहाँ परकीया-तत्त्व सिद्धांतरूपेण स्थापित होने पर भी केवल एक वादमात्र था, परंतु सहजिया लोगों ने इसे अपनी साधना का प्रधान पीठ-स्थल बनाया था और इसको अपने व्यावहारिक जीवन में

१ चतुर्थ प्राच्यसम्मेलन प्रयाग का कार्यविवरण, १९२६।

२ हूपर—हिम्स आफ दी आडवार्स पृ० ६६।

भी वे प्रयोग करते थे। परकीया तत्त्व वैष्णवशास्त्र का एक निगूढ़ गुरु-मुखैकगम्य सिद्धांत है[1]। यहाँ केवल स्थूल बातों के वर्णन से ही हमें संतोष करना होगा।

परकीयातत्त्व

परकीया के दो पक्ष हैं—समाजपक्ष तथा अध्यात्मपक्ष। सामाजिक दृष्टि से परकीया नितांत गर्हणीय तथा त्याज्य सिद्धांत है, परंतु आत्म-साधना की दृष्टि से वह एकांत उपादेय तथा ग्रहणीय आदर्श है। उज्ज्वल नीलमणि के शब्दों में परकीयादि विषयों की जो निंदा शास्त्रों में दृष्टिगोचर होती है, वह लौकिक नायक को ही दृष्टि में रखकर की गयी है, परंतु रस के आस्वादन के निमित्त अवतीर्ण लीला धारण करनेवाले अलौकिक नायक-भूत कृष्ण के विषय में वह निंद्य न होकर ग्राह्य है[2]। मानव को आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने के लिए अपनी काम-वासना के परिशोधन की नितांत आवश्यकता होती है। काम स्वतः एक पुरुषार्थ है जिसकी उपयोगिता का परिचय मानव-समाज के कल्याण के लिए सब किसी को है। परंतु स्वार्थभावना से युक्त यह काम काल-सर्प के समान मनुष्य को सदा डसा करता है

---

१ इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए
बोस—पोस्टचैतन्य सहजिया कल्ट पृ० २६—६६।

२ बहु वार्यते यतः खलु, यत्र प्रच्छन्नकामुका।
या च मिथो दुर्लभता सा मन्मथस्य परमा रतिः॥
लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत—नायके।
न कृष्णे रसनिर्यास—स्वादार्थमवतारिणि॥
—१।१५,१६।

और मनुष्य उसके बुरे प्रभावों से बचने के लिए कथमपि कृतकार्य नहीं होता। इस 'काम' वृत्ति के विषदंश को दूर करने के लिए अध्यात्म-पथ में दो उपाय मान्य माने जाते हैं। निवृत्ति-प्रधान आचार्य लोग काम-वृत्ति के दबाने का उपदेश देते हैं, परंतु दुर्बल मानव काम की कारा में निबद्ध एक लाचार जीव है और वह अपनी नैसर्गिक वृत्तियों के दबाने में, अपनयन में, कथमपि समर्थ नहीं होता। इसीलिए सहजिया लोगों ने दूसरे मार्ग को अपनाया है। वे स्त्रियों को छोड़ देने की शिक्षा नहीं देते, अपितु उनके संग में ऐसी कतिपय क्रियाओं तथा अनुष्ठानों का आश्रय लेते हैं जिससे साधक का मन इस प्रलोभन के द्वारा कथमपि आकृष्ट तथा आसक्त न हो सके। "साधक का प्रथम कर्तव्य स्त्रियों की संगति में रति की साधना है जिसके द्वारा उसके विकार स्वतः दूर हो जाते हैं। नियमन से उसकी उच्छृंखल अभिलाषायें विघटित हो जाती हैं और स्वार्थ-पारायण वृत्ति के स्थान पर विशुद्ध प्रेम-रति का उदय होता है[1]।" इसी प्रेम-साधना की पूर्णता के लिए ही सहजिया मत में परकीया की उपादेयता अंगीकृत की गई है।

स्वकीया की अपेक्षा परकीया में उदात्त प्रेम के संचार का साधन विशेष-रूप से निवास करता है। सहजिया साधकों की मान्य धारणा के अनुसार प्रेम के द्वारा ही आध्यात्मिक मुक्ति की

---

१ प्रथम साधन रति संभोग शृंगार।
साधिवे संभोग रति पालिवे विकार॥
जीव रति दूरे यावे करिले साधन।
तार पर प्रेमरति करि निवेदन॥
—अमृत रत्नावली, पृ० ६–७।

उपलब्धि हो सकती है और इसीलिए अपने हृदय में प्रेम के संचरण करने की नितांत आवश्यकता है। इसी 'प्रेम के प्रथम प्रभात' के निमित्त परकीया का आश्रयण समुचित माना जाता है। रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा महाभाव—प्रेम साधना का यही अष्टांगिक मार्ग है[1] जिससे होकर प्रत्येक साधक को जाना पड़ता है। इसमें आदर्श तो है महाभाव की प्राप्ति, परंतु इसका निदान 'रति' ही है और इसी रति के उदय के निमित्त इस विशिष्ट मार्ग का अवलंबन न्याय्य माना जाता है।

सहजिया शास्त्र का उपदेश है कि साधक को स्वयं स्त्री भाव से ही भगवान् की आराधना करनी चाहिए। माधुर्य-भाव का साधन साधना-साम्राज्य में मुक्ति-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। पुरुष को बिना प्रकृति हुए प्रेमतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। और इस प्रकृतिभाव को पाने के लिए साधक को परकीया की संगति नितांत उचित है[2]। स्त्री-संगति के अभाव में स्त्रीभावापत्ति की पूर्णता कहाँ से उत्पन्न हो सकती है ?

विरह के ताप में संतप्त होने पर ही साधक की चित्तवृत्ति विशुद्ध होती है, क्योंकि उसकी वासनाओं का कालुष्य जलकर अंतर्हित हो जाता है और हृदय खरे सोने के समान चमकने लगता है। संयोग से तृप्त मानव हृदय में संतोष की भावना प्रेम के अतिरेक का अभाव ही उत्पन्न करती है, परंतु विरह से दग्ध विदग्ध हृदय में प्रेम की भावना संतत जागरूक रहती है। विरही

---

१ द्रष्टव्य भक्तिरसामृतसिंधु १।३—११ तथा
चैतन्य चरितामृत २।२३.।

२ प्रकृति आचार पुरुष वेभार। ये जना जानिते पारे।
—अमृतरसावली।

अपनी प्रियतमा को आगे-पीछे, यहाँ-वहाँ सर्वत्र समभावेन देखता हुआ जिस प्रेमाद्वैत का अनुभव करता है वह संयोगी के भाग्य में कहाँ ? रास में गोपियों की विरह की भावना की वृद्धि के लिए भगवान् शृंगार-शिरोमणि कृष्णके अंतर्धान का यही आध्यात्मिक तात्पर्य है (भागवत १०।२६) जिसे 'विवर्तविलास' में सहजिया-तथ्य की पुष्टि के निमित्त निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार रति की उदात्तता, प्रेम की पूर्णता, विरह की संपन्नता तथा काम की विशुद्धता के निमित्त रसमार्गी सहजिया लोगों ने अपनी विशिष्ट तांत्रिक साधना में 'परकीया'का आश्रय न्याय्य माना है। बौद्ध सहजयानियों के 'महामुद्रा' ग्रहण का भी यही रहस्य है।

परकीया के दो प्रकार माने जाते हैं—बाह्य तथा अंतर। 'बाह्य परकीया' प्रेमभाव के विकाश के लिए शारीरिक संपर्क में रखी जाती है और इसलिए वह गौण अथवा प्राकृत भी कही जाती है। मुख्य या **मर्म परकीया** की केवल मानसिक भावना करके ही साधक अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करता है। बाह्य परकीया की अष्टविध पूजा का वर्णन सहजिया ग्रंथों में विस्तार से उपलब्ध होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि इस प्रकार की विधिवत् पूजा करने से सुषुम्ना नाडी के द्वारा क्रमशः शक्ति का उत्थान हो जाता है। मर्म परकीया में केवल परकीया की मानसिक भावना ही विद्यमान रहती है। इस भावना का फल साधक को प्रेमिका के रूप में परिणत करने में समर्थ होता है। इस प्रकार सहजिया लोगों की साधना में परकीया का आश्रयण एक विशिष्ट आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया जाता है। 'बाह्यपरकीया' की साधना से सूफी मत में निर्दिष्ट प्रेम-साधना का बड़ा ही घनिष्ठ साम्य है। बाउल लोग भी सहजिया के ही एक उपभेद माने जाते हैं, यद्यपि साधना प्रणाली में किंचित

अंतर भी उपलब्ध होता है। जहाँ सहजिया लोगों का प्रेम राधा और कृष्ण रूपी दो व्यक्तियों के स्वरूपाश्रित प्रेम की अपेक्षा रखता था, वहाँ बाउलों का प्रेम 'मनेर मानुस' के प्रति ही रहता है अर्थात् वह अपना प्रेम प्रत्येक व्यक्ति के भीतर वर्तमान किसी अलौकिक प्रेमपात्र के प्रति ही प्रदर्शित करता है[1]।

ऊपर वर्णित बौद्ध सहज-यान के सिद्धांतों के साथ सहजिया वैष्णवों के सिद्धांतों का साम्य बहुत घनिष्ठ है। प्रसिद्ध सहजिया वैष्णव चण्डीदास की आराध्य 'वाशुली' देवी वज्रयानियों की 'वज्रधात्वीश्वरी' का ही रूपांतर मानी जाती है। यह प्रसिद्ध है कि चैतन्य मत की सार्वजनिक उन्नति के समय में बौद्धधर्म की भिक्षु तथा भिक्षुणी 'नेडा-नेडी' के रूप में वैष्णव समाज में गृहीत कर ली गईं और इस प्रसंग में नित्यानंद महाप्रभु के पुत्र वीरभद्र के प्रयत्न की महती प्रशंसा सुनी जाती है जिन्होंने 'नेड़ा नेड़ी' लोगों का उद्धार किया था। यह सहजिया मत गौडीय वैष्णव धर्म के उदय से भी प्राचीन है और चैतन्य तथा उनके पीछे भी उनके सिद्धांतो से प्रभावित हुआ है। यह आज कल भी विद्यमान है। वैष्णव सहजिया के अतिरिक्त बंगाल प्रांत के आउल-बाउल, साईं, दरबेश और कर्ताभजा भी कुछ ऐसे संप्रदाय हैं जो प्रायः 'सहजिया' कहलाते हैं। सहजिया लोगों के वैष्णव साहित्य के भी अनेक सिद्धांत–प्रतिपादक ग्रंथ हैं जिसे संप्रदाय वाले गुप्त ही रखते हैं। तथापि कतिपय ग्रंथ प्रकाशित भी किये गये हैं जिनमें अकिंचनदासका 'विवर्त विलास', गौरीदास का 'निगूढार्थ

---

१ ऊपर के उद्धरण बोस के पोस्ट-चैतन्य सहजिया कल्ट (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १९३०) ग्रन्थ से लिये गये हैं।

प्रकाशावली' (हस्तलिखित), घनश्यामदासका 'गोविंद रतिमंजरी' नरोत्तमदास का 'प्रेमभक्ति चंद्रिका'; 'रससार', रसरत्नसार—; मुकुंददास के 'अमृत रत्नावली', 'आद्य-सारस्वत-कारिका'; रसिकदास का 'रतिविलास पद्धति' तथा 'रसतत्त्वसार' मुख्य तथा सिद्धांत-ज्ञान के लिए नितांत उपयोगी हैं।

बाउल के इस गीत में जीव तथा भगवान् के परस्पर प्रेम बंधन का बड़ा ही सुंदर कोमल वर्णन है। भगवान् तथा भक्त का हृदय प्रेम की भावना से इतना संबद्ध है कि उससे मुक्ति कभी नहीं हो सकती। जीव की स्वतंत्रता की कल्पना भी व्यर्थता की सूचिका है। यह गीत प्रेमतत्त्व के एक वैशिष्ट्य का वर्णन कर रहा है जो सहजिया वैष्णवों को भी सर्वथा मान्य है—

हृदय कमल चल्‌ते छे फुटे कतो युग धरि।
तातें तुमिओ बाँधा
आमिओ बाँधा, उपाय की करी॥ १
फुटे फुटे कमल फुटार न हय शेष।
एइ कमलेर ये एक मधु ये ताय विशेष॥ २
छेडे येते लोभी भ्रमर पारो ना ये ताई।
ताते तुमिओ बाँधा
आमिओ बाँधा मुक्ति कोथाय नाई॥ ३

इस गीत का आशय है कि कितने युगों से यह हमारा हृदय रूपी कमल खिलता चला आ रहा है। उसमें तुम भी बँधे हो और मैं भी बँधा हूँ। मुक्ति का उपाय कहाँ है? कमल निरंतर खिलता जाता है। उसके विकसित होने का कभी अंत नहीं है। इस कमल के भीतर विद्यमान मधु की अपनी

निजी विशेषता है। भ्रमर बेचारा उसे छोड़ने के लिए तैयार है, परंतु मधु की माधुरी इतनी प्रबल है कि वह उसे छोड़ने में कथमपि समर्थ नहीं होता। उससे मैं भी बंधा हूँ और तुम भी बँधे हो। हमारे-तुम्हारे लिए मुक्ति कहीं भी नहीं है। जीव और शिव के परस्पर प्रेम-भाव और आकर्षण का भाव कितनी स्वाभाविकता से इस गीति में अभिव्यक्त किया गया है।

—o—

२

चैतन्यमत

समस्त बंगाल तथा उड़िसा को भक्तिरस से आप्लावित करनेवाले महाप्रभु चैतन्य के धार्मिक सिद्धांतों का तथा आध्यात्मिक तथ्यों का शास्त्रीय विवेचन वृंदावन की पवित्र तीर्थस्थली में संपन्न हुआ था। चैतन्यमत माध्वमत की ही गौडीय शाखा है, परंतु दोनों के दार्शनिक सिद्धांतों में पर्याप्त अंतर है। माध्वमत द्वैतवाद का पक्षपाती है, चैतन्यमत अचिंत्य-भेदाभेद-सिद्धांत का अनुयायी है। निंबार्कमत के अनंतर यह दूसरा वैष्णव संप्रदाय है जो वृंदावन से श्लाघनीय संबंध रखता है। चैतन्य बंगाल के ही निवासी थे, । परंतु उनके अनुयायी गोस्वामियों ने वृंदावन को ही अपनी उपासना तथा शास्त्र-चिंतन का निकेतन बनाया। इस परिच्छेद में चैतन्य संप्रदाय, उत्कलीन वैष्णव धर्म तथा असम प्रांत में पनपने वाले महापुरुषधर्म का प्रामाणिक, परतु संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

माधवेंद्रपुरी

माध्वमतानुयायी आचार्यों में (१६) माधवेन्द्रपुरी ही प्रथम आचार्य हैं जिनका नाम बंगाल के वैष्णव ग्रंथों में बड़े आदर तथा सम्मान के साथ उल्लिखित किया गया है। इनका जन्म १४५७ वि० (१४०० ईस्वी) के आसपास हुआ था और ये अपनी भक्ति तथा निष्ठा के कारण 'भक्तिचंद्रोदय' की उपाधि से सम्मानित किये गये थे। 'चैतन्य चरितामृत' में उल्लिखित एक घटना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये बंगाली थे। कहा जाता है कि माधवेंद्रपुरी ने वृंदावन में गोपाल की मूर्ति की स्थापना की और इसकी पूजा

के निमित्त उन्होंने बंगाल से दो ब्राह्मणों को बुलवाया। 'चैतन्य चरितामृत' का यह उल्लेख महत्त्व का है। बंगाल वैदिक कर्म-कांड का स्थान कभी भी नहीं माना जाता था, विशेषतः अन्य प्रांत वासियों की दृष्टि में। ऐसी दशा में बंगाल से ब्राह्मणों को पूजा के निमित्त बुलाना स्पष्टतः बुलानेवाले के बंगाल का पक्षपाती होना बतला रहा है। माधवेंद्रपुरी ही गौडीय वैष्णव संप्रदाय के आद्य आचार्य के रूप में गृहीत किये जाते हैं, क्योंकि इन्हींके पट्टशिष्य ईश्वरपुरी के शिष्य महाप्रभु चैतन्य थे जिन्होंने अपने भजनों तथा कीर्तनों से बंगाल में ही नहीं, प्रत्युत समस्त उत्तरी भारत में, विशेषतः ब्रजमंडल में, कृष्ण-भक्ति की विमल सरिता बहाई।

माधवेंद्रपुरी उच्चकोटि के विष्णु-भक्त थे, इसमें तनिक भी संदेह नही है। वे घनश्याम के इतने बड़े भक्त थे कि बंगाल की श्याम-प्रस्तर की बनी कृष्ण मूर्तियों को देखकर वे ध्यान-मग्न हो जाया करते थे। उनके जीवनचरित के विषय में 'चैतन्य चरितामृत' में दो विशिष्ट घटनाओं का निर्देश किया गया है। पहिली घटना गोपाल की मूर्ति की प्राप्ति के विषय में है। माधवेंद्रजी उन वैष्णवों में थे जिन्होंने वृंदावन को अपनी उपासना का प्रधान स्थल बनाया। श्रीचैतन्य के उद्योग तथा उपदेश से वृंदावन वैष्णवों का अखाड़ा कैसे बना, इसका वर्णन आगे किया जायगा। चैतन्यपूर्व युग के वैष्णवों में माधवेंद्रपुरी ने वृंदावन की आध्यात्मिक महिमा जागृत करने में अश्रांत परिश्रम किया।

सुनते हैं कि माधवेंद्र जी एक बार अन्नकूट पर्वत के पास बैठ कर श्रीकृष्ण के ध्यान में निमग्न थे। उन्हें अपने शरीर की

सुध न थी, भोजन की भी स्पृहा न थी। वे निराहार तथा निर्जल बैठे हुए भगवान् के ध्यान में निरत थे। उनका नियम था अयाचित भिक्षा; बिना माँगे हुए जो भिक्षा मिल जाय उसी से उदर-पूर्ति करना। इतने मे एक श्यामल बालक आया और उसने फल और दूध भोजन करने के लिए दिया[1]। माधवेंद्र जी ने उन द्रव्यों को ग्रहण कर भोजन किया और उनके आश्चर्य की सीमा न रही जब रात के समय सपने में वही बालक दिखलाई पड़ा और उनसे कहने लगा—'माधव, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में इतने दिनों तक भूगर्भ के भीतर पड़ा हुआ हूँ। तुम मेरे विशेष प्रेमी हो, परंतु तुम नहीं जानते कि मुसलमानों के डर से एक ब्राह्मण ने मुझे इस जंगल के भीतर तालाब में डाल दिया था। तालाब मिट्टी से भर गया है और मैं उसी के भीतर गड़ा हुआ अपना दिन गिन रहा हूँ। खोद कर मुझे निकालो और प्रतिष्ठित करो'। माधवेंद्र जी आनंद से गद्गद हो गए और आसपास के ग्रामनिवासियों के सहयोग से उन्होंने उस मूर्ति को खोद निकाला और उसकी विधिवत् प्रतिष्ठा तथा पूजा की व्यवस्था की। यही इनके आराध्य देवता थे—गोपाल जी।

इनके विषय में एक अन्य आख्यान भी प्रसिद्ध है। गोपाल जी ने माधवेंद्रपुरी को स्वप्न दिया कि उड़ीसा जाकर वहाँ का सुगंधित चंदन लाइए। ये उड़ीसे के रेमुना नामक स्थान पर गये।

---

१ बालक कहे गोप आमि एइ ग्रामे वसि।
आमार ग्रामेते केह ना रहे उपवासी॥
केह अन्न मागि खाय केह दुग्धाहार।
अयाचक जने आमि दिये आहार॥
—चैतन्य चरितामृत, मध्य खण्ड, अ० ४।

वहाँ गोपीनाथ जी की विशिष्ट पूजा होती और उन्हें खीर का भोग लगाया जाता था। माधवेंद्र ने खीर बनाने की कला सीख कर अपने गोपाल जी को भोग लगाना चाहा, परंतु पंडों के कारण उनकी इच्छा-पूर्ति नहीं हुई। तब स्वयं गोपीनाथ जी ने अपने वस्त्र में थोड़ा सा खीर चुरा कर रख लिया और पंडों को इसका सपना दिया। माधवद्र जी को उन्होंने खोज निकाला और उन्हें खीर का प्रसाद दिया। इस प्रकार भक्तवर माधवेंद्र के लिए गोपीनाथ ने 'खीर चोर' बनना स्वीकार किया!

ईश्वरपुरी

आचार्य ईश्वरपुरी का वर्णन 'प्रेमविलास' आदि अनेक वैष्णव ग्रंथों में दिया गया है। इनका जन्म १४३६ ई० में हुआ था। इनके पिता श्यामसुंदरजी राढ़ी ब्राह्मण थे तथा कुमारहट्ट के आचार्य थे। इन्होंने वेदशास्त्र का यथावत् अध्ययन किया था और माधवेंद्रपुरी के द्वारा वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर प्रसिद्ध भक्त हुए। इन्हीं के प्रभाव में आकर चैतन्य महाप्रभु के ऊपर भक्ति का इतना रंग चढ़ा। चैतन्य के जीवन में युगांतरकारिणी घटना है—उनकी गया-यात्रा। इस यात्रा से पहिले ही उनका चित्त संसार के मायिक प्रपंचों से हटकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविंदों में निमग्न होने लगा था। उन्होंने कुमारहट्ट जाकर ईश्वरपुरी का दर्शन किया तथा अपने साथ वहाँ की मिट्टी बाँध कर लाये। उन्होंने कहा था—

> प्रभु कहे ईश्वर पुरीर जन्मस्थान।
> ए मृत्तिका आमार जीवन धन प्राण॥
>
> —(चैतन्य भागवत)

गया जी में भी चैतन्य को ईश्वरपुरी का दर्शन हुआ और उन्होंने इस भक्तवर के दर्शन से अपनी यात्रा सफल मानी। इस प्रकार ईश्वरपुरी की निष्ठा तथा उपदेश का प्रभाव चैतन्य के जीवन में पूर्णतः प्रतिफलित हुआ।

केशव भारती

परंतु चैतन्य को संन्यास की दीक्षा देनेवाले आचार्य इनसे भिन्न थे और उनका नाम केशव भारती था। दीक्षा लेने से पहिले इनका नाम कालिनाथ आचार्य था और ये नवद्वीप में कुलिया गाँव के निवासी थे। ये भी माधवेंद्रपुरी के ही शिष्य थे और काटवा गाँव में अधिकतर रहते थे। यहीं पर चैतन्य का संन्यास हुआ था। इस प्रकार चैतन्य महाप्रभु को वैष्णव धर्म में दीक्षित करने का श्रेय इन्हीं दोनों आचार्यों को है। ईश्वरपुरी चैतन्य के दीक्षा-गुरु थे जिन्होंने उन्हें वैष्णव मत में दीक्षित किया और केशव भारती उनके संन्यास-गुरु थे जिन्होंने उन्हें संन्यास मार्ग में दीक्षित किया। चैतन्य महाप्रभु ने अपने भजन, कीर्तन तथा प्रेम-विह्वल चरित्र से जिस वैष्णव धर्म की सरिता बंगाल में बहाई उसका नाम है—गौडीय वैष्णव धर्म या चैतन्य मत। इस प्रकार यह मत माध्व मत की ही एक प्रमुख शाखा है। उत्पन्न हुआ यह बंगाल में परंतु इसका व्यापक प्रभाव पड़ा व्रज-मण्डल पर।

(१) महाप्रभु चैतन्य

समग्र उत्तरी भारत को, विशेषतः बंगाल को भक्ति से आप्लावित करने का श्रेय महाप्रभु चैतन्य को है। आप थे भक्तिरस की जीवित-मूर्ति, उदात्त मधुर-भाव का जाज्वल्यमान प्रतीक। नदिया के एक पवित्र ब्राह्मणकुल में आपका जन्म सं० १५४२ (१४८५ ई०) में हुआ था। बालकाल का नाम था विश्वंभर मिश्र।

नदिया के प्रख्यात पंडित गंगादास से आपने विद्याध्ययन किया था। बुद्धि बड़ी तीव्र थी। आपने समस्त शास्त्रों में, विशेषतः तर्कशास्त्र में बड़ी विचक्षणता प्राप्त की थी। दुर्दांत पंडितों को शास्त्रार्थ में हराया भी था। अपनी पाठशाला खोलकर छात्रों को विद्याभ्यास भी कराते थे। इनके जीवन-प्रवाह को बदलने वाली घटना है इनकी गया यात्रा। वि० सं० १५४६ (=१५०७ ई०) में अपने पिता के श्राद्ध करने के लिए ये गया धाम गए और वहाँ ईश्वरपुरी से साक्षात्कार हुआ। पुरी जी से इनकी भेंट पहिले ही हो चुकी थी। वे उनकी भक्तिभावना तथा वैराग्य के नितांत पक्ष-पाती थे, परंतु इस गयायात्रा ने विश्वंभर को प्रपंच से हटाकर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की ओर स्वतः अग्रसर किया। पुरी जी इनकी वैष्णव दीक्षा के गुरु हुए। वि० सं० १५६६ = (१५०८ ई०) में इन्होंने पुरी जी के गुरुभाई केशव भारती से संन्यास दीक्षा ग्रहण की। और तभी से वे कृष्ण चैतन्य के नाम से विख्यात हुए। वृद्धा माता तथा तरुणपत्नी के स्नेह तथा ममत्व को तिलांजलि देकर चैतन्य भगवान् की भक्ति के प्रचार में जुट गए।

इन्होंने भारतवर्ष के विख्यात तीर्थों की यात्रा की। इन्होंने वि० सं० १५५७—५८=(१५१०—११ ई०) में दक्षिण भारत की यात्रा की तथा वहाँ के प्रसिद्ध तीर्थों का दर्शन करते हुए भक्ति प्रचार किया। इसी समय इनकी दृष्टि वृंदावन के उद्धार की ओर झुकी और इन्होंने अपने सहपाठी लोकनाथ गोस्वामी को इस पवित्र कार्य के लिए भेजा। ये स्वयं भी काशी, प्रयाग होते हुए वृंदावन गये और कुछ महीनों तक वहाँ भी निवास किया, परंतु इनकी लीला-स्थली बनी जगन्नाथ पुरी जहाँ रथयात्रा के अवसर पर दर्शन के लिए बंगाल से भक्तों की अपार भीड़ जुटती थी।

भजन और संकीर्तन को इन्होंने भक्ति के प्रचार का सर्वसुलभ साधन बनाया। वैष्णवधर्म के प्रचार में इन्हें नित्यानंद से खूब सहायता मिली। सच तो यह है कि बंगाल में कृष्ण-भक्ति के प्रचार का श्रेय निमाई (चैतन्य) तथा निताई (नित्यानंद) दोनों महापुरुषों को है। इनकी कीर्ति इनके जीवित-काल में ही खूब फैली। उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्रदेव (राज्यकाल १५०३=१५३० ई०) तथा उनके विद्वान् मंत्री राय रामानंद इनके पट्ट शिष्य बन गये। बंगाल के नवाब के अधिकारी होने पर भी रूप और सनातन ने इनकी शिष्यता स्वीकार की और इन लोगों ने इनही के उपदेश से वृंदावन का उद्धार किया। वहीं रहकर भक्ति-शास्त्र का प्रणयन ही नहीं किया; प्रत्युत भक्तों के सामने सच्चे भक्त का आदर्श उपस्थित किया। भक्त लोग इन्हें भगवान् श्री कृष्ण का अवतार मानते हैं। भक्तवर नाभाजी ने इनके विषय में बहुत ही ठीक लिखा है—

> गौड देश पाखंड मेटि कियो भजन परायन।
> करुणासिंधु कृतज्ञ भये अगनित गतिदायन।
> दशधा रस आक्रांति महत जन चरन उपासे।
> नाम लेत निहपाप दुरित तिहि नरके नासे।
> अवतार विदित पूरब मही, उभै महत देही परी।
> श्री नित्यानंद कृष्णचैतन्य की भक्ति दसो दिसि बिस्तरी ॥
>
> —भक्तमाल, छप्पय नं० ७२

चैतन्य का भक्ति-आन्दोलन

भक्ति का उत्कृष्ट आदर्श श्री चैतन्यदेव ने स्वयं अपने जीवन में प्रदर्शित किया। भगवान् के नाम का संकीर्तन चैतन्य का अत्यंत लोकप्रिय आध्यात्मिक साधन था जिसके द्वारा जन साधा-

रण को अपने आंदोलन के प्रति आकृष्ट करने में सर्वथा कृतकार्य हुए। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर तत्कालीन अनेक आदरणीय संतों तथा विद्वानों ने मिलकर उनके आंदोलन को अत्यंत लोकप्रिय बनाया तथा उनके भक्ति-संदेश को जनता के हृदय पर पहुँचाया। ऐसे संतों में दो मुख्य थे—अद्वैताचार्य तथा नित्यानंद। जब चैतन्यदेव जगन्नाथपुरी में नियमित रूप से निवास करने लगे, तब उन्होंने इन्हीं के ऊपर बंगाल में इस आंदोलन की देख-रेख का उत्तरदायित्व रखा। अद्वैत भक्त ही न थे, उस समय के महनीय शास्त्रवेत्ता भी थे। उन्होंने इस मत में दीक्षा देने का कार्य योग्य व्यक्तियों तक ही सीमित रखने पर आग्रह किया, परंतु नित्यानंद ने सब किसी के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। इनके पुत्र वीरभद्र ने तो बंगाल के बौद्धधर्म के अवशिष्ट अनुयायियों को भी, जो समाज में नितांत निम्न स्तर के थे, वैष्णव धर्म की दीक्षा देने का साहसपूर्ण कार्य कर दिखलाया। इस विषय में अद्वैताचार्य के द्वारा समथन न पाने पर भी नित्यानंद ने अपने असामान्य व्यक्तित्व के बल पर निम्नश्रेणी के लोगों को भी वैष्णवधर्म के अंतर्भुक्त करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। नित्यानंद के बारह शिष्यों ने भी, जो द्वादश गोपाल के नाम से विख्यात हैं, इस कार्य में गुरु की पर्याप्त सहायता दी और इस प्रकार यह पंथ धीरे धीरे बढ़ता हुआ समग्र बंगाल में व्याप्त हो गया।

चैतन्य के जीवित काल में ही बहुत से लोगों को उनके अवतार होने में विश्वास हो गया था। परंतु उनकी मूर्ति की पूजा सम्प्रदाय में कब आरंभ हुई? इसका निर्णय करना कठिन है। इस कार्य में वंशीदास और नरहरि सरकार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय माना जाता है। 'वंशी शिक्षा' के अनुसार वंशी-

दास ने चैतन्य की मूर्ति-पूजा का प्रचार किया। उन्होंने चैतन्य की धर्मपत्नी-श्रीविष्णुप्रिया देवी के लिये चैतन्य की काष्ठ-मूर्ति बनाई। और नरहरि सरकार ने चैतन्य के विषय में बहुत से पदों को बनाया तथा चैतन्य-पूजा के विधि विधानों को भी व्यवस्थित किया। चैतन्य के अनंतर तीन व्यक्तियों का इस धर्म के प्रचार में विशेष हाथ है—(१) श्रीनिवास आचार्य (२) श्री नरोत्तमदत्त, (३) श्यामानंद दास। इन व्यक्तियों ने चैतन्य-मत का प्रचार १७ वें शतक में विशेष रूप से प्रचार किया। श्यामानंद का कार्य उड़ीसा में चैतन्य-मत का प्रचार करना था परंतु अन्य दोनों आचार्यों ने बंगाल में इस मत का प्रचुर प्रसार किया।

परंतु चैतन्य मत का शास्त्रीय रूप, विधि-विधानों की व्यवस्था, भक्ति शास्त्र के सिद्धांतों का निर्णय बंगाल में न होकर सुदूर वृंदावन में विद्वान् गोस्वामियों के द्वारा किया गया। ये ही लोग चैतन्य मत के प्रतिष्ठा तथा सिद्धांतों की व्यवस्था में नितांत प्रयत्नशील तथा कृतकार्य थे। उनकी मान्यता इतनी अधिक थी कि जब तक इन लोगों की स्वीकृति नहीं मिल जाती, बंगाल में लिखे हुए किसी भी ग्रंथ को संप्रदाय की ओर से प्रामाणिकता नहीं मिलती थी। इसी कार्य का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

मथुरा वृंदावन के तीर्थोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य के आरंभ करने का श्रेय माधवेंद्रपुरी को दिया जाना चाहिए क्योंकि वृंदावन में गोपाल की गड़ी मूर्ति को खोज निकालने तथा प्रतिष्ठित करनेका गौरव प्रथमतः उन्हीं को प्राप्त है। उसके अनंतर चैतन्यका काल आरंभ होता है। इन्होंने सर्वप्रथम इस कार्य को सुचारुरूप से चलाने के लिए अपने दो भक्तों को भेजा जिनके नाम हैं—(१) लोकनाथ गोस्वामी तथा (२) भूगर्भ आचार्य। कहना न होगा कि ये दोनों भक्त बंगाली थे और अनेक क्लेशों

को सहकर अपने महनीय कार्य में कृतकार्य हुए थे। लोकनाथ चैतन्य के सहाध्यायी थे, क्योंकि दोनों ही गंगादासपंडित के टोल में साथ साथ विद्याभ्यास करते थे। १६१० ई० में चैतन्य ने लोकनाथ को वृंदावन जाकर कृष्ण की लीला से संबद्ध स्थानों को खोज निकालने का आदेश दिया। अपने मित्र भूगर्भ आचार्य के साथ लोकनाथ मथुरा आये तथा अश्रांत परिश्रम कर प्राचीन स्थानों का उद्धार किया, परंतु चैतन्य के लीलावलोकनसे वंचित रहने की पीड़ा इन्हें सदा क्लेश पहुँचाती थी[1]। चैतन्य का दर्शन इन्हे फिर मिला ही होगा। इन्होंने सुना कि चैतन्य दक्षिण भारत में यात्रा करने के लिए निकल पड़े हैं। ये भी मिलने की उत्सुकता से पराभूत होकर निकल पड़े। परंतु हताश होकर लौट आये। भेंट न हुई। वृंदावन भी तब पहुँचे जब चैतन्य वहाँ आकार चले गये थे। इस प्रकार चैतन्य के मिलने की आशा को अपने हृदय के कोने में लिए हुए ही यह भक्तवर वृंदावन की सेवा में डटा रहा और अंततः परमधाम में लीन हो गया।

(२) षट् गोस्वामी

चैतन्यमत के प्रधान थे स्वयं महाप्रभु चैतन्य, नित्यानंद और अद्वैताचार्य। इनसे उतर कर प्रामाणिकता मानी जाती है छः गोस्वामियों की (षट् गोस्वामी) जिनका कार्य इस मत के

---

१ आर न देखिव गोरा तोमार चरण
रहिलाम आज्ञामात्र करिया धारण।
भक्तगण संगे प्रभु ये करिला लीला
वंचित करिया मोरे हेथा पाठाइला ॥
—प्रेमविलास

इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इन आचार्यों के नाम हैं—**रूप, सनातन, रघुनाथदास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट, और जीव गोस्वामी**। ये सब गोस्वामी लोग वृंदावन में ही रहते थे और भगवद्भजन के अनंतर ग्रथरचना में निरत रहते थे। इनके लिखित ग्रंथ बंगाल में भेजे जाते थे जहाँ उनकी अनेक प्रतियाँ लिखकर भिन्न भिन्न स्थानों में जनता के कल्याण के लिए रखी जाती थीं। इन आचार्यों की सम्मति ही किसी वैष्णव ग्रंथ की प्रामाणिकता की अंतिम मुहर थी। बंगाल में लिखा गया कोई भी ग्रंथ तब तक प्रामाणिक नहीं माना जाता था, जबतक उसके विषय में इन गोस्वामियों में से किसी की अनुकूल सम्मति नहीं मिल जाती थी। इन्हीं आचार्यों की प्रतिष्ठा के कारण वृंदावन को इतना अधिक गौरव वैष्णव समाज में प्राप्त हुआ है।

(१) श्री रूप गोस्वामी

श्री रूप गोस्वामी (१४९२ ई०—१५९१ ई०)—भक्ति तथा विद्वत्ता के जाज्वल्यमान प्रतीक थे। उनके जीवन की घटनायें सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। एक धनाढ्य ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। बंगाल के नवाब हुसेनशाह के प्रधान मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित होने से ही इनकी योग्यता का पर्याप्त परिचय मिल सकता है। चैतन्य की विपुल ख्याति तथा भगवन्निष्ठा की कथा इनके कानों पड़ी। फलतः इन्होंने अपने ऊँचे पद को लात मार कर संन्यास ले लिया। चैतन्य से इनकी भेंट त्रिवेणी के पवित्र तट पर हुई। उन्हीं के उपदेश से इन्होंने वृंदावन को अपना निवासस्थल बनाया। वहीं रहकर ये वैष्णव भक्तमण्डली के सामने आदर्श वैष्णव का जीवन बिताते थे। वृंदावन में ये कभी ब्रह्मकुंड के

पास निवास करते थे और कभी नंदग्राम के पास। सुनते हैं कि श्री गोविंददेव जी ने इन्हें स्वप्न दिया कि मैं अमुक स्थान पर जमीन में गड़ा पड़ा हूँ। एक गौ रोज मुझे अपने स्तनों में से दूध पिला जाती है। तुम उस गौ को ही लक्ष्य करके मुझे बाहर निकालो और मेरी पूजा करो। गोस्वामी जीने भगवान की मूर्ति निकाली। कालांतर में जयपुर के महाराज मानसिंह ने गोविंद-देवजी का लाल पत्थरों का बड़ा ही विशाल तथा भव्य मंदिर बनवाया। यह मंदिर आज भी वृंदावन की शोभा बढ़ाते हुए खड़ा है।

रूप गोस्वामी जी सनातन गोस्वामी के अनुज थे, परंतु महा-प्रभु के प्रथम कृपापात्र होने के कारण ये वैष्णव समाज में उनके जेठे भाई समझे जाते हैं। उस समय की भक्त-मंडली के ये शिरोमणि थे। ये कवि और विद्वान् दोनों थे। इन्होंने रुचिर नाटकों की रचना कर भगवान् श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का बड़ा ही भव्य तथा मधुर वर्णन प्रस्तुत किया है। इनके सुप्रसिद्ध नाटक हैं—'ललित माधव' और 'विदग्ध माधव'। भक्तिशास्त्र के गूढ़ सिद्धांतों का प्रतिपादन इनके जीवन का प्रधान कार्य रहा है। 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'भक्तिरसामृतसिंधु' में इन्होंने 'भक्ति' का रसरूप से शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। 'लघु भाग-वतामृत' को हम श्रीमद्भागवत का निःस्यंद कह सकते हैं। 'हंस-दूत' तथा 'उद्धवदूत' काव्य की दृष्टि से अत्यंत मधुर काव्य हैं जिनमें गोस्वामी जी का भक्तिमय हृदय सर्वत्र झलकता है। कहा जाता है कि मीराबाई ने इन्हीं से दीक्षा ली थी। १६ वीं शतक के वृंदावन में रूप गोस्वामी जी भक्तमण्डली के अग्रणी नेता थे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

—:o:—

(२) सनातन गोस्वामी

सनातन गोस्वामी जी (१४६० ई०—१५६१ ई०)—रूप जी के जेठे भाई थे, परंतु चैतन्य महाप्रभु का शिष्यत्व इन्होंने अपने छोटे भाई के शिष्य हो जाने पर ग्रहण किया। ये भी बंगाल के नवाब के बड़े ही ऊँचे अधिकारी थे। चैतन्य का प्रभाव इनके ऊपर इतना जमा कि इन्होंने अपने उच्च-पद का तिरस्कार कर भगवद्भक्ति को ही अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य बनाया। महाप्रभु की आज्ञा से ये वृंदावन में ही रहते थे। परंतु एक बार ये इतने विषण्ण हो गये थे कि श्री जगन्नाथ जी के रथ के नीचे प्राण त्यागने का निश्चय किया, परंतु चैतन्य के समझाने पर ये वृंदावन लौट आवे और भजन तथा श्रीकृष्ण की पूजा-अर्चा में सदा संलग्न रहते थे। सुनते हैं कि इनके पास प्रसिद्ध पारसमणि था जिसे इन्होंने किसी दरिद्र ब्राह्मण की याचना करने पर उसे दे दिया था। इनके भक्तिमय जीवन की अनेक विलक्षण बातें भक्तों में प्रसिद्ध हैं।

रूप-सनातन चैतन्यमत के शास्त्रकर्ता माने जाते हैं। रूप ने इस मत के लिए भक्तिशास्त्र के गूढ़ सिद्धांतों की विवेचना की और सनातन ने इस मत के आदरणीय नियमों तथा आचारों का विस्तृत विवरण उपन्यस्त किया। इस प्रकार इन दोनों भ्राताओं ने चैतन्यमत के प्रकृष्ट प्रतिष्ठाता का श्लाघनीय कार्य प्रस्तुत किया। दोनों ने मिलकर भक्ति के अंतस्तत्त्व—अध्यात्म तथा व्यवहार, सिद्धांत तथा कर्मकांड, का नितांत प्रामाणिक रूप प्रस्तुत किया। इन्होंने चैतन्यमत के प्रासाद की नींव ही नहीं डाली, प्रत्युत उसके ऊपर कमनीय कलश की रचना कर उसे शोभित तथा सुसज्जित भी किया। सनातन इस प्रकार चैतन्य मत के कर्मकाण्ड के

निर्माता हैं। इन्हीं के नियमानुसार चैतन्य के मंदिरों में आज भी पूजा-अर्चा का विधान किया जाता है तथा मठ के साधुओं के जीवन की व्यवस्था निर्धारित की जाती है।

इनका एतद्विषयक सर्वमान्य ग्रंथ है—हरिभक्ति-विलास जिसमें मूर्तियों के निर्माण, प्रतिष्ठा तथा पूजा का विधान है तथा वैष्णवों की जीवन-चर्या का मनोरंजक वर्णन है। तुलनात्मक दृष्टिसे भी इस ग्रंथरत्न का विशेष महत्त्व है। महाप्रभु के उपदेशों को सुनकर ही सनातन ने इस ग्रंथ का प्रणयन किया तथा पीछे गोपाल भट्ट ने उदाहरणों के द्वारा पुष्ट कर इसको उपबृंहित किया। इस प्रकार इस पुस्तक के प्रणयन का श्रेय सनातन तथा गोपाल भट्ट दोनों गोस्वामियों को दिया जाता है। इनके अन्य ग्रंथों में 'वैष्णव तोषिणी है जिसमें भागवतकी मार्मिक व्याख्या है। इसका समाप्तिकाल १५५४ ई० है। इसी ग्रंथ का सारअंश जीव गोस्वामी ने सनातन के जीवनकाल में ही किया जिसका नाम है—लघु-तोषिणी। इन्होंने अपने भागवतामृत में भागवत के सिद्धांतों का सुंदर विवरण दिया है। इनकी भक्ति तथा विद्वत्ता से आकृष्ट होकर बड़े बड़े राजा और महाराजा इन गोस्वामी-बंधुओं के दर्शन के लिए वृंदावन पधारते थे। १५७३ ई० में अकबर भी इनके साक्षात्कार के लिए वृंदावन गया था और इनकी निष्ठा से विशेष प्रभावान्वित हुआ था।

इन दोनों बंधुओं के मृत्यु संवत् के विषय में मतभेद दीख पड़ता है। बंगाली वैष्णव ग्रंथों में सनातन का मृत्यु साल १५५६ ई० तथा रूप का १५६५ ई० बतलाया गया है, परंतु यह उचित नहीं प्रतीत होता। इतिहास इसकी साक्षी नहीं देता। मानसिंह के द्वारा निर्मित गोविंदजी के मंदिर के शिलालेख से प्रतीत होता

है कि इसका निर्माण मानसिंह के गुरुओं रूप तथा सनातन के आदेश से १५६० ई० में हुआ था। १५६२ में भक्तवर श्रीनिवासाचार्य ने वृंदावन की जब यात्रा की, तब इस मंदिर का निर्माण हो चुका था। इन गोस्वामी-बंधुओं से उनकी भेंट न हो सकी, क्योंकि सनातन के मृत्यु हुए चार महीने बीत गये थे और रूप की मृत्यु केवल चार दिनों पूर्व हो चुकी थी। श्रीजीव गोस्वामी ने लघुतोषिणी की रचना १५८३ ई० में की, तब सनातन जी जीवित थे। इन प्रमाणों के आधार पर यही निश्चित होता है कि इन बंधुओं का अवसान-काल १५६१ ई० ही है। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों ने सौ वर्ष की दीर्घ आयु प्राप्त की थी। पूरे सौ वर्षों तक ये जीवित रहे[1]।

(३) रघुनाथदास गोस्वामी

लक्ष्मी का वरद पुत्र किस प्रकार भक्ति तथा शांति की उपासना में निमग्न हो सकता है ? इसका सब से सुंदर उदाहरण हमें मिलता है गोस्वामी रघुनाथदास जी के जीवन में। ये जात्या कायस्थ थे, परंतु अपनी उत्कृष्ट भक्ति तथा दिव्य चरित्र के कारण ब्राह्मण वंशी गोस्वामियों में भी अग्रगण्य माने जाते थे। ये बंगाल के प्रसिद्ध नगर सप्तग्राम के जमींदार गोवर्धन दास मजूमदार के एकमात्र पुत्र थे। पिता ने इनका लालन पालन अपनी विशाल समृद्धि के अनुरूप किया, परंतु बाल्य काल से ही इनके हृदय में वैराग्य की मात्रा समधिक रूप से विद्यमान थी। फलतः

---

१ विशेष द्रष्टव्य डा० डी. सी. सेन—The Vaishnawa Literature of Medieval Bengal pp 39–40

अपनी संपत्तिका त्याग करने के लिए उसी समय उद्यत थे, परंतु चैतन्य महाप्रभु के समझाने बुझाने पर इन्होंने अपना मर्कट-वैराग्य कम कर जमींदारी के देख-रेख करने का कार्य भार अपने ऊपर लिया। बहुत दिनों तक इस काम में लगे रहे, परंतु पद्म-पत्र की ही तरह अपने को राजसिक भावना से सदा दूर रखा। पुरी में महाप्रभु के दर्शन को गये और अतुल संपत्ति पर लात मार दी। महाप्रभु के तिरोधान के अनंतर ये वृंदावन पधारे और राधाकुण्ड के पास सदा निवास करते थे। कहते हैं कि चौबीस घंटे में केवल एक बार थोड़ा सा मट्ठा पीकर ही रहते थे। वे सदा प्रेम में बिभोर होकर 'राधे राधे' चिल्लाते रहते। इनका त्याग-वैराग्य बड़ा ही विलक्षण था। इतने बड़े संपत्ति-शाली घर में उत्पन्न होकर इतना वैराग्य रखना नितांत दुर्लभ घटना है। इन्हीं के द्वारा उत्साहित किये जाने पर कृष्णदास कविराज ने अपनी वृद्धावस्था में चैतन्य चरितामृत का निर्माण किया। इनकी रचनायें स्तोत्ररूप में ही अधिक हैं—जिनमें विलाप कुसुमांजलि, राधाष्टक, नामाष्टक, उत्कण्ठ दशक, अभीष्ट-प्रार्थनाष्टक, अभीष्ट सूचना, शचीनंदन शतक आदि मुख्य हैं। ये ८६ वर्षों तक जीवित थे। स्थितिकाल १४९८ ई०–१५८४ ई० है।

(४) रघुनाथभट्ट

रघुनाथ भट्ट काशी के सुप्रसिद्ध भक्त तपन मिश्र जी के सुपुत्र थे। इन्हीं तपन मिश्र के घर पर महाप्रभु ने काशी में निवास किया था। मिश्रजी उच्चकोटि के भक्त थे—चैतन्य के समधिक भक्त अनुयायी थे। रघुनाथभट्ट का भी हृदय अपने पिता के समान ही नवनीतकोमल था। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। एक बार ये पुरी में महाप्रभु जी के दर्शन के लिए गये और घर

छोड़ने की आज्ञा माँगी। पर चैतन्य ने माता पिता के जीवित काल में संन्यास का नितान्त प्रतिषेध किया। ये काशी लौट आये और अपने जननी-जनक के देहावसान के अनंतर महाप्रभु की आज्ञा से गृहद्वार का त्यागकर वृंदावन पधारे। ये भागवत के बड़े भारी पंडित थे। इनका स्वर बड़ा कोमल था। ये रूप गोस्वामी की सभा में श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे। भागवत के श्लोकों को इतने लय से कहते थे कि श्रोतागण मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। एक ही श्लोक को कई प्रकार से कहते थे। इस प्रकार साधुमण्डली में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के साथ भगवद्भजन करते हुए भट्ट जी ने अपना जीवन यापन किया।

(५) गोपाल भट्ट

ये श्रीरंगम् क्षेत्र के निवासी वेङ्कट भट्ट के पुत्र तथा श्री प्रबोधानंद सरस्वती के भतीजे थे। गोपाल भटट का जन्म १५०३ ई० में हुआ था। कुछ लोग कहते हैं कि चैतन्य महाप्रभु ने दक्षिण भारत में इनके पिता के घर में चातुर्मास्य बिताया था। इसका उल्लेख प्रामाणिक ग्रंथों में न होने से विद्वान् लोग इस पर आस्था नहीं रखते। कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु ने पत्र लिखकर रूप-सनातन को आदेश किया था कि इन्हें अपना भाई समझना। महाप्रभुने इनके बैठनेके लिए अपना आसन और डोरी भेजी थी। ध्यान के समय प्रभुजी के इन प्रसादों को ग्रहण कर ये भजन किया करते थे। इनके उपास्य देव श्रीराधारमण जी थे। नाभादास जी ने इनकी विलक्षण भक्ति का परिचय देते हुए इस विचित्र घटना का उल्लेख किया है कि इनकी उत्कट इच्छा होते ही शालग्राम जी की मूर्ति में हाथ पैर निकल आये और वे मुरलीधारी राधारमण जी बन गये।

गोपाल भट्ट जी वैष्णव शास्त्रों के उत्कट विद्वान् थे। इन्हीं के विख्यात शिष्य थे—श्रीनिवासाचार्य जो पीछे बड़े भारी भक्त तथा विद्वान् हुए। सनातन गोस्वामी जी के 'हरिभक्ति विलास' का उपबृंहण गोपाल भट्ट ने ही किया था। इनके परलोकगमन के अनंतर इनके मंदिर के पुजारी तथा शिष्य श्रीगोपालनाथ दास उस गद्दी के अधिकारी हुए। इनके शिष्य श्रीगोपीनाथदास जी ने अपने छोटे भाई दामोदर दास जी को शिष्य बनाकर उनसे विवाह करने क लिए कहा। वर्तमान श्रीराधारमणजी के गोस्वामी-गण इन्हीं दामोदर दास जी के वंशज हैं। यह मंदिर अपनी समृद्धि तथा पूजा अर्चा के लिए वृंदावन में आज भी सुवि-ख्यात है।

(६) जीव गोस्वामी

ये रूप—सनातन के अनुज वल्लभ (या अनूप) के पुत्र थे। 'दुर्गम संगमनी' टीका के आरंभ में इन्होंने अपने पितृव्यों का निर्देश किया है—

> सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः।
> श्रीवल्लभोऽनुजो योऽसौ श्रीरूपो जीवसद्‌गतिः॥

बाल्यकाल में ही पिता का देहांत हो गया था। अतः माता की देखरेख में इनकी शिक्षा हुई। अपने भक्त पितृव्यों की भक्ति तथा वैराग्य का उज्ज्वल आदर्श इनके सामने इतना जागरूक था कि कम उम्र में ही ये घरद्वार छोड़ कर परम विरक्त बन गए। काशी में मधुसूदन वाचस्पति से वेदांत-शास्त्र का पूर्ण अध्ययन किया। अनंतर वृंदावन में अपने चाचा लोगों की संगतिमें आकर रहने लगे। अपने समय के प्रकाण्ड पंडित के रूप में इनकी

ख्याति सर्वत्र व्याप्त थी। सुनते हैं कि इन्होंने आसाम के रूप-नारायण नामक किसी उद्धत संन्यासी को शास्त्रार्थ में परास्त कर उनका मद चूर्ण किया था, परंतु इनके पितृव्य सनातन जी इनसे इस वैष्णव-विरुद्ध कार्य से नितांत रुष्ट हुए थे, परंतु रूप गोस्वामी ने बड़ी युक्ति से इन्हें क्षमा प्रदान कराया था। अकबर के आग्रह करने पर ये एक दिन आगरे भी आये थे।

इन्होंने अपने पूज्य पितृव्यों के जीवन को अपने लिए आदर्श बनाया। भजन और भक्ति-ग्रंथ-प्रणयन ही इनके जीवनका महान् व्रत था। इनके ग्रंथ गौडीय वैष्णव संप्रदाय के सिद्धांतों के प्रकाश-स्तंभ हैं जिनमें इनकी दार्शनिक विद्वत्ता पाठकों को पद-पद पर आश्चर्यचकित करती है। इनके ग्रंथों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(१) षट्संदर्भ—भक्ति-शास्त्र के मौलिक तत्त्वों का प्रति-पादक उत्कट कोटिका यह ग्रंथ है। भागवत विषयक छ प्रौढ निबंधों का यह उत्कृष्ट समुच्चय है। इसके ऊपर ग्रंथकार ने ही सर्वसंवादिनी नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्या लिखी है।

(२) क्रमसंदर्भ—भागवत पुराण की पाण्डित्यपूर्ण टीका।

(३) दुर्गमसंगमनी—रूप गोस्वामी के 'भक्ति रसामृत-सिंधु' की टीका।

(४)—ब्रह्मसंहिता }
(५)—कृष्णकर्णामृत } की टीकायें। चैतन्य महाप्रभु अपनी दक्षिणयात्रा में इन दोनों ग्रंथों को अपने साथ लाये थे। दक्षिण की पयोष्णी नदी के तीर पर मल्लहार नामक स्थान से वे ब्रह्मसंहिता लाये थे। यह अध्यात्म-परक ग्रंथ है। 'कृष्णकर्णामृत' विल्वमंगल की कमनीय

रचना है जिसमें सरस शब्दों में कृष्ण की स्तुति गाई गई है। इन्हीं दोनों की टीका जीव गोस्वामी ने की है।

(६) हरिनामामृत व्याकरण—इसमें व्याकरण के पारिभाषिक शब्द कृष्ण के नामों से संबद्ध नये गढ़े गये हैं।

(७) कृष्णार्चन दीपिका - कृष्ण-पूजा की विधि विस्तार से लिखी गई है।

इनके अतिरिक्त इनकी अन्य रचनायें भी मिलती हैं। जीव गोस्वामी जी इन छहों गोस्वामियों में निःसंदेह प्रौढतम विद्वान थे। चैतन्यमत के इतिहास में इन षट् गोस्वामियों का वही स्थान और सम्मान है जो वल्लभमत में 'अष्टछाप' का। अंतर इतना ही है कि अष्टछाप के कवियों की रचनायें देश भाषा में ही हैं, गोस्वामियों की संस्कृत में। अष्टछाप में कवि-जनों की ही गणना है, पर गोस्वामियों में कवि तथा दार्शनिक दोनों की। परतु प्रामाणिकता दोनों की एक समान है। इनमें एक ही कुटुंब के तीन गोस्वामी थे—रूप, सनातन तथा जीव तथा ये ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। इनका अलौकिक कार्य किस विवेचक को आश्चय में नहीं डालता?

कृष्णदास कविराज

इन गोस्वामियों के अतिरिक्त अनेक चैतन्यमतानुयायी विद्वान् भक्त वृंदावन में इस काल में निवास करते थे तथा अपने ग्रंथ तथा आचरण से भक्ति की प्रभा चारों ओर छिटकाते थे। ऐसे भक्तों में कृष्णदास कविराज की ख्याति सबसे अधिक है। ये बंगाल के बर्दवान जिले के निवासी थे। इनका जन्म १४९६ ई० में हुआ था। जाति से ये कायस्थ थे। इनके माता

पिता बाल्यकाल में ही मर गये—पिता का नाम था भागीरथ तथा माता का सुनन्दा देवी। श्यामादास नामक इनके भाई भी थे जिनके नास्तिक विचारों के कारण ये बड़े ही दुःखित रहते। बालकपन में घर छोड़कर बैरागी बन गये। वृंदावन में नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर भजन तथा ग्रंथ-रचना में जीवन बिताने लगे। इनके ग्रंथ अधिकतर संस्कृत में ही हैं—(१) गोविंद लीलामृत—कमनीय काव्य है जिसमें राधाकृष्ण की वृंदावन लीला का सुचारु वर्णन किया गया है। इसका बंगभाषा में अनुवाद यदुनंदनदास ने १६१० ई० में किया। (२) कृष्णकर्णामृत की टीका, (३) प्रेमरत्नावली, (४) वैष्णवाष्टक, (५) रागमाल आदि अन्य संस्कृत ग्रंथ भी उपलब्ध हैं।

परंतु इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है—चैतन्यचरितामृत जो इनकी विपुल उज्ज्वल कीर्ति का सर्वप्रधान आधारपीठ है। ग्रंथ बंगभाषा में है, परतु उसमें ब्रजभाषा का भी पर्याप्त मिश्रण है। इसी मिश्रित भाषा को 'ब्रजबुली' (ब्रजबोली) के नाम से पुकारते हैं। वैष्णव साहित्य का यह रत्न है। बंगला में इसको वही नाम और सम्मान प्राप्त है जो हिंदी में तुलसीदास के रामचरित-मानस को। जिस प्रकार तुलसीदास का ग्रंथ हिंदी जनता के लिए सकल शास्त्रों का सार तथा निःस्यन्द है, उसी प्रकार चैतन्य चरितामृत बंगाल की धार्मिक जनता के गले का हार है। है भी यह बड़ी प्रौढ़ रचना। सुगम भाषा में दुर्गम तत्त्वों का विशदीकरण इस ग्रंथरत्न की विशेषता है। कविराज महोदय की नितांत वृद्धावस्था की यह कृति है। ७६ वर्ष की अवस्था में भक्तों की प्रार्थना पर इन्होंने महाप्रभु चैतन्य की जीवन लीला लिखने का उपक्रम किया। पूरे सात वर्षों में

इसकी रचना की गई। १५०३ शाके (=१५८२ ई०) में ८६ वर्ष की उम्र में यह ग्रंथ समाप्त हुआ[1]।

इस ग्रंथ मे चैतन्य के जीवन चरित का विस्तृत वर्णन है। ग्रंथ में तीन खंड हैं—(१) आदिलीला (१७ सर्ग) में चैतन्य के अवतार की पूर्वपीठिका तथा भक्तिमार्ग का मुख्यतः विवरण है। (२) मध्यलीला (२५ सर्ग) में चैतन्य के जन्म, लीला तथा यात्राओं का वर्णन है। प्रसंगतः उनके उपदेशों का बड़ा ही विशद विवेचन उपलब्ध होता है। (३) अंतलीला (२० सर्ग) में चैतन्य के अंतिम जीवन की घटनायें वर्णित हैं। साथ ही साथ उनके कीर्तनों की प्रक्रिया तथा तज्जन्य दिव्योन्माद का कमनीय वर्णन है। इस प्रकार यह ग्रंथ काव्य तथा शास्त्र दोनों की दृष्टि से उपादेय है। चैतन्य चरित का विस्तृत वर्णन तो है ही, साथ ही साथ वैष्णव मत के दार्शनिक रहस्यों का विशद तथा सांगोपांग विवेचन है। ग्रंथकार के समकालीन नित्यानंददास के विख्यात ग्रंथ प्रेमविलास में इनके अवसान की विचित्र घटना उल्लिखित है। कविराज जी ने जब सुना कि उनके ग्रंथ की एकमात्र हस्तलिखित प्रति को डाकुओं ने लूट लिया, तब उनकी मृत्यु उसी समय हो गई। यह घटना १५९८ ई० की है। अतः इनकी मृत्यु पूरे १०२ वर्ष में हुई थी।

इस प्रकार १६ वीं शताब्दी में वृंदावन चैतन्य मत के प्रचार तथा प्रसार का केंद्रबिंदु था। चैतन्य मतानुयायी गौडीय वैष्णवों के सिद्धांत का परिष्कार यहीं किया गया। छहों गोस्वामियों ने यहीं रहकर अपने संप्रदाय के सिद्धांतों तथा

---

१ शाकेऽग्निबिन्दुबाणेन्दौ ज्येष्ठे वृन्दावनान्तरे।
सूर्याहे ह्यसितपञ्चम्यां ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः॥

आचारों का पर्याप्त रूपेण उपबृंहण किया। वर्तमान वृंदावन इन गौडीय वैष्णवों की घोर तपस्या, अश्रांत अध्यवसाय, दृढ भगवन्निष्ठा तथा व्यापक प्रभाव का जाज्वल्यमान प्रतिनिधि है।

(३)

दार्शनिक सिद्धांत

माध्वमत की शाखा होने पर भी चैतन्यमत का दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वथा स्वतंत्र तथा पृथक् है। माध्वमत की मूल दृष्टि द्वैतवाद की है जिससे भिन्न चैतन्य मत का नाम है— अचिन्त्य भेदाभेद। भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं। उनकी अनंत शक्तियाँ हैं। शक्ति और शक्तिमान् में न तो परस्पर भेद ही सिद्ध होता है और न अभेद, इन दोनों का संबंध तर्क के द्वारा अचिन्त्य है। इसीलिए इस मत की प्रसिद्धि 'अचिन्त्यभेदाभेद' नाम से की जाती है। इस विषय में रूप गोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' में स्पष्ट ही लिखा है—

एकत्वं च पृथक्त्वं च तथांशत्वमुतांशिता।
तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानन्तशक्तितः। —१।५०

अचिन्त्य अनंत शक्तियों के कारण उस एक ही पुरुषोत्तम में एकत्व और पृथक्त्व, अंशत्व तथा अंशित्व का रहना कथमपि अयुक्त नहीं रहता। श्री जीव गोस्वामी के कथनानुसार[1] भगवान्

---

[1] स्वरूपाद्यभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदौ अङ्गीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्। —जीव गोस्वामी : भगवत्सन्दर्भ।

श्री कृष्ण में उनकी स्वरूप आदि शक्तियों से अभिन्न रूप से चिंतन करना अशक्य होने से वह भिन्न प्रतीत होता है और उनसे भिन्न रूप से चिंतन करना अशक्य होने के कारण वह अभिन्न प्रतीत होता है। अतः शक्ति और शक्तिमान् में भेद और अभेद दोनों सिद्ध होते हैं और ये दोनों ही अचिंत्य शक्ति होने के कारण 'अचिन्त्य' माने जाते हैं। इस प्रकार अचिंत्य शक्ति के कारण यह प्रपंच न तो भगवान के साथ ही एकांततया भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। इसीलिए इस मत का दार्शनिक दृष्टिकोण 'अचिन्त्यभेदाभेद' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

इस मत का सार अंश निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य में दिया गया है—

> आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
> रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
> शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं, प्रेमा पुमर्थो महान्
> श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

व्रजस्वामी नंद के पुत्र श्री कृष्ण ही आराधनीय भगवान् हैं। उनका धाम है—वृंदावन। व्रज की गोपिकाओं के द्वारा की गई रमणीय उपासना ही साधकों के लिए माननीय प्रामाणिक उपासना है। श्रीमद्भागवत निर्मल प्रमाणशास्त्र है। प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है—चैतन्यमत का यही सारांश है।

चैतन्यानुसार महान् पुरुषार्थ है—प्रेम। 'प्रेमा पुमर्थो महान्'—भक्ति को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मानना अपना महत्त्व रखता है। दार्शनिकों के द्वारा निर्णीत पुरुषार्थ चार प्रसिद्ध हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। परंतु यह मत भक्ति को 'पंचम

पुरुषार्थ' के रूप में ग्रहण करता है। भक्ति दोनों प्रकार की होती है—साधनरूपा और साध्यरूपा। भक्ति स्वतः साधन भी है तथा साध्य भी है। श्री कृष्ण का भक्त मुक्ति को भी अपनी उपासना में अंतराय समझ कर उसकी प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाता। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है—श्रीकृष्ण की रागात्मिका भक्ति। रूपगोस्वामी के अनुसार भक्ति है श्री-कृष्ण का अनुकूलता से अनुशीलन या सेवन जिसमें अन्य अभि-लाषाओं की कोई भी सत्ता नहीं रहती और जो ज्ञान, कर्म आदि से कथमपि आवृत नही रहता—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
—भक्तिरसामृतसिंधु १।१।११

श्रीमद्भागवत में स्पष्ट ही इसी भक्ति की श्रेष्ठता का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। भगवान् ने स्वयं ही अहैतुकी तथा अव्यवहिता भक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

चैतन्यमत की पंचम पुरुषार्थ की कल्पना का आधार श्री-मद्भागवत के ही वचन हैं। श्रीकृष्ण का स्वयं कथन है—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

अर्थात् भगवान् के सदाचार-संपन्न, धैर्यवान् तथा एकांत निष्ठावाले भक्त उनके द्वारा दिये गये आत्यंतिक मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं करते।

श्रीकृष्ण ही अचिन्त्य शक्तिमान् भगवान् परम तत्त्व हैं। वे अपने तीन विशिष्ट रूपों से विभिन्न लोकों में प्रकाशित होते हैं। श्री कृष्ण के इन रूपों के नाम हैं[1]—(१) स्वयं रूप, (२) तदेकात्म रूप, (३) आवेश। भगवान् का 'स्वयं रूप' वह है जो दूसरे के ऊपर आश्रित न होकर, अन्य की अपेक्षा न रखते हुए, स्वयं आविर्भूत होता है[2]। ब्रह्मसंहिता का यह कथन इसी रूप की पुष्टि में है—अनादिरादिर्गोविंदः सर्वकारणकारणम्। भगवान् स्वय इस विशाल सृष्टि के आदि है तथा समग्र कारणों के भी कारण है, परंतु वे स्वयं अनादि हैं—उनका आदि या कारण कहीं से भी नहीं है। 'तदेकात्मरूप' का अर्थ है वह रूप जो स्वरूप से तो स्वयरूप के साथ अभिन्न रहता है, परंतु आकृति, अंग-सन्निवेश तथा चरित से उससे भिन्न रहता है[3]। यह रूप भी दो प्रकार का होता है—विलास और और स्वाश। विलास रूप वह है जो स्वरूपतः[4] दूसरे आकार का होता है तथा शक्ति में प्रायः उसके तुल्य होता है। जैसे

---

१ लघुभागवतामृत १।११

२ अनन्यापेक्षि यद् रूपं स्वयंरूपः स उच्यते।

—वहीं, १।१२

३ यद्रूपं तदभेदेन स्वरूपेण विराजते।
आकृत्यादिभिरन्यादृक् स तदेकात्मरूपकः ॥

—वहीं १।१४

४ स्वरूपमन्याकारं यत् तस्य भाति विलासतः
प्रायेणात्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते।

—वही, १।१५

गोविंद के विलास हैं परमव्योम के अधिपति नारायण और परमव्योमेश नारायण के विलास है आदि वासुदेव। इन दोनों के आकारों में समानता होने पर भी मूल देवता तथा आवरण की भिन्नता के कारण पृथकता हो रहती है। स्वांश रूप[1] विलासरूप के आकृत्या समान होने पर भी शक्ति में न्यून होता है जैसे संकर्षण आदि पुरुषावतार तथा मत्स्य आदि लीला-वतार। (३) आवेश रूप[2] इन दोनों भेदों से सर्वथा भिन्न होता है। वे महत्तम जीव आवेश कहे जाते हैं जिनमें ज्ञान शक्ति आदि की स्थिति से भगवान् आविष्ट प्रतीत होते हैं जैसे वैकुंठ में शेष, नारद तथा सनकादि ऋषि गण।

भगवान् अचिन्त्याकार अनंत शक्तियों से संपन्न है, परंतु उनकी तीन ही शक्तियाँ मुख्य होती हैं—

(१) अंतरंगा शक्ति=चित्शक्ति = स्वरूप शक्ति

(२) तटस्थ शक्ति = जीवशक्ति

(३) बहिरंग शक्ति = माया शक्ति

अंतरंग शक्ति भगवद्रूपिणी होती है। सत्, चित् तथा आनंद के कारण भगवान् की यह स्वरूपशक्ति एकात्मिका होने पर भी त्रिविधा होती है—

(क) संधिनी = इसके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं और समस्त देशकाल

---

१ तादृशो न्यूनशक्तिं यो व्यनक्ति स्वांश ईरितः।

१।१६

२ ज्ञान-शक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः।
त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः॥

१।७॥

तथा द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं (सदात्मापि यया सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्ति-हेतुः संधिनीशक्तिः[1])

(ख) **संवित्**—भगवान् स्वयं चिदात्मा है। इसी शक्ति के बल पर वह स्वयं अपने को जानते हैं और दूसरे को ज्ञान प्रदान करते हैं (=संविदात्मापि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्[2])

(ग) **ह्लादिनी**—भगवान् आनंदरूप हैं। वह शक्ति जिससे वे स्वयं आनंदका अनुभव करते हैं तथा दूसरों को आनंद का प्रदान करते हैं 'ह्लादिनी शक्ति' कही जाती है। इस विषय में वैदूर्यमणि का दृष्टांत भक्तिग्रंथों में दिया जाता है। एकही वैदूर्य-मणि नील पीत आदि त्रिविधरूप धारण करता है, वैसे ही एका परा शक्ति त्रिविधरूपों में विभक्त होकर तीन रूप धारण करती है (=ह्लादात्मापि यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनीशक्तिः। तत्तत् प्राधान्येन स्फूर्तेः तत्तद्रूपं तस्या एकस्या वैदूर्यवद्वसीयते[3])

तटस्थ शक्ति वह है जो परिच्छिन्नस्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है। मायाशक्ति का ही नाम है **बहिरंग शक्ति**। यही जगत् के आविर्भाव का कारण बनती है। स्वरूपशक्ति तथा मायाशक्ति के बीच में स्थित होने के कारण ही जीवशक्ति **तटस्थ** (या दोनों के तट पर रहने वाली) शक्ति कहलाती है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय की संज्ञा है—**पराशक्ति**। भगवान् स्वरूप-शक्ति से जगत् के निमित्त कारण होते हैं और जीव-माया शक्तियों से उपादान कारण होते हैं। माध्वमत ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानता

---

१ बलदेव विद्याभूषण—सिद्धान्तरत्न पृ० ३६।

२, ३ सिद्धांतरत्न पृष्ठ ४० (सरस्वती भवन सीरीज़ काशी)

है, परंतु इसके विपरीत चैतन्यमत उन्हें अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानता है अर्थात् चैतन्यमत में ईश्वर निमित्त कारण भी होते हैं तथा उपादान कारण भी। जगत् में धर्म की वृद्धि तथा अधर्म के नाश के लिए भगवान् का अवतार होता है।

जगत्—चैतन्यमत में जगत् नितरां सत्यभूत पदार्थ है, क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्वविद् हरि की बहिरंगशक्ति का विलास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रमाणित करती हैं। ईशावास्य उपनिषत् कहता है कि भगवान् ने शाश्वतकाल तक यथार्थ भाव से अर्थों या पदार्थों का निर्माण किया[1]। विष्णुपुराण ने स्पष्टतः कहा है कि यह अखिल जगत् आविर्भाव तथा तिरोभाव, जन्म और नाश आदि विकल्पों से युक्त होकर भी 'अक्षय' तथा 'नित्य' है[2]। महाभारत का भी इस विषय में ऐकमत्य है[3]—सत्यं भूतमयं जगत्। फिर भी इसको अनित्य बतलाना वैराग्य के निमित्त है। सृष्टि के नाश होने पर प्रलय दशा में भी यह जगत् ब्रह्म में अनभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है जिस प्रकार जंगल में रात के समय पक्षियों

---

१ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
यथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—ईशा० (८)

२ तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव-तिरोभाव-जन्मनाश-विकल्पवत्।
—विष्णु पुराण १।२२।६०

३ ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद्‌गतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥
—महाभारत, अश्व० पर्व ३५।३४

की सत्ता। वे वर्तमान रहती हैं, परंतु कालवशात् उनकी व्यक्ति नहीं होती। (वनलीन विहंगवत्—प्रमेयरत्नावली ३।२)

साधनमार्ग—भगवान् को अपने वश करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है—भक्ति। कर्म का भी उपयोग है। वह चित्त को शुद्ध बनाकर उसे ज्ञान तथा भक्ति के पात्र बनने की योग्यता प्रदान करता है। भक्ति भी ज्ञान का एक विशिष्ट प्रकार है। वह केवल ज्ञान से नितांत भिन्न होती है। ज्ञान के दो प्रकार होते हैं—केवल ज्ञान तथा विज्ञान। दर्शनके भी दो ढंग होते हैं—बिना पलक गिराये हुए हुए निर्निमेष दृष्टि से अवलोकन तथा दूसरा है कटाक्ष-वीक्षण। इनमें निर्निमेष वीक्षण की तरह तत्-त्वं पदार्थ का अनुभव प्रथम प्रकार का ज्ञान है तथा अपाङ्गवीक्षण के समान विचित्र ज्ञान का नाम है—भक्ति। भगवान् के वशीकरण के निमित्त यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ उपाय है। संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों का संमिश्रण भक्ति का सार है। यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का अपृथग् विशेषण है तथा भक्तों का पृथग् विशेषण। भक्ति के दो प्रकार हैं—विधि-भक्ति तथा **रुचिभक्ति** या रागात्मिका भक्ति। विधि-भक्ति के उदय में शास्त्रों में निर्दिष्ट उपाय श्रेयस्कर होते हैं, परंतु रागात्मिका के उदय के लिए भक्त की आर्तता या दयनीयता ही प्रधान कारण हैं। भागवत का यह पद्य रागात्मिका की ही व्याख्या है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष! दिदृक्षते त्वाम्॥

हे कमल-विलोचन ! आप को देखने के लिए मेरा मन उसी प्रकार छटपटा रहा है, जिस प्रकार पक्षी के बिना पंख उगे हुए बच्चे अपनी माता के लिए, भूख से व्याकुल छोटे बछड़े अपनी दूध देने वाली जननी गाय के लिए तथा परदेश मे गये हुए प्रियतम के लिए उदास तथा विषण्ण प्रियतमा। इन तीन उदाहरणों के देने में भी स्वारस्य है। यह प्रेम किसी एक ही लोक की वस्तु नहीं है, प्रत्युत पक्षी, पशु तथा मानव जगत् सब में यह अंतर्निहित तत्त्व की तरह व्याप्त होने वाला प्रधान सार है। यही है रागात्मिका भक्ति का दृष्टांत। व्रज गोपिकाओं का प्रेम इस भक्ति का चरम उदाहरण माना जाता है। भक्तवर नारद जी ने अपने भक्ति-सूत्र म 'गोपीप्रेम' को ही उत्कृष्ट प्रेम माना है—तथा हि व्रजगोपिकानाम्। इसका एक रहस्य है।

गौडीय वैष्णवों ने सर्वप्रथम **भक्तिरस** की अवतारणा तथा स्थापना साहित्य जगत् में की। इस विषय में रूप गोस्वामी का ग्रंथ 'भक्तिरसामृत सिंधु' भक्तिरस का सांगोपांग विवेचन करता है। भगवान् श्रीकृष्णकी भावमयी गोलोकलीला पाँच भावों से संबंध रखती है-शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। यह क्रम उत्कर्ष बोधन करता है। रति की निम्नकोटि शान्त में रहती है और उसका चरम अवसान रहता है माधुर्य में। माधुर्य भाव की रति तीन प्रकार की होती है—(क) साधारणी रति (ख) समञ्जसा रति, (ग) समर्था रति। साधारणीरति का उपासक भक्त अपने ही आनंद के लिए भगवान् की सेवा तथा प्रीति करता है। फल-स्वरूप उसे मथुराधाम की प्राप्ति होती है जैसे कुब्जा। समञ्जसा रति वाले भक्त को द्वारिका धाम की प्राप्ति होती है जैसे रुक्मिणी जाम्बवती आदि पट्टरानियाँ। इसमें

कर्तव्य बुद्धि से ही प्रेम का विधान होता है। समर्थारति में अपने स्वार्थ की तनिक भी गंध नहीं रहती; इसका उपासक भक्त भगवान् के ही आनंद के लिए सेवा तथा उपासना करता है। एकमात्र लक्ष्य होता है उसका भगवान् का आनंद। इसके लिए वह शास्त्र की मर्यादा का भी उल्लंघन करने में संकोच नहीं करता। इस का दृष्टांत है—गोपिका। यही भाव अपने उत्कर्ष पर पहुँच कर 'महाभाव' या 'राधाभाव' के नाम से विख्यात होता है। इस प्रकार चैतन्यमत में रस-साधना ही प्रधान साधना है। सहजिया वैष्णवों के साथ चैतन्य भक्तों का इस विषय में बहुत कुछ साम्य है। यह भी भक्ति-शास्त्र का अनुशीलनयोग्य रहस्य है।

—०—

(३)

उत्कल में वैष्णव-धर्म

आजकल उत्कल देश भागवत धर्म का एक महनीय प्रांत है जहाँ पर मोक्षदायिनी सप्त पुरियों में जगन्नाथपुरी अन्यतम है। यह स्थान नीलाचल तथा पुरुषोत्तम क्षेत्र के नाम से ही अभिहित किया जाता है। पुरी में भगवान् विष्णु का नाना परकोटों, शिखरों तथा जगमोहनों से युक्त विशालकाय मंदिर विराजमान है जिसमें कृष्ण और बलराम अपनी भगिनी सुभद्रा जी के साथ प्रतिष्ठित हैं। ये तीनों मूर्तियां लकड़ी की बनी हुई हैं, इसीलिए जगन्नाथ जी दारुमय विग्रह होने के कारण 'दारुब्रह्म' कहलाते हैं। उत्कल में वैष्णव धर्म की उत्पत्ति का काल-निरूपण जगन्नाथ जी के प्राकट्य के ऊपर आश्रित माना जा सकता है। इसलिए जगन्नाथ के आविर्भाव की मीमांसा प्रथमतः अपेक्षित है, जिसके विषय में नारद-पुराण (उत्तर खंड), ब्रह्म-पुराण, स्कंद पुराण (उत्कल खंड), कपिल संहिता तथा नीलाद्रि-महोदय आदि संस्कृत ग्रंथों में तथा प्राचीन परंपरा को निबद्ध करने वाले आधुनिक उड़िया-भाषा में लिखित ग्रंथों में विपुल सामग्री उपलब्ध है। इन सब में प्रायः एक ही कथानक कतिपय अवांतर घटनाओं की भिन्नता के साथ उपलब्ध होता है। आविर्भाव की कथा संक्षेप में दी जाती है।

सत्ययुग में अवंती के महाराज इंद्रद्युम्न के चित्त में भगवान् नीलमाधव के दर्शन की इच्छा प्रबल रूप से जाग पड़ी। परंतु नीलमाधव के स्थान से वह अपरिचित था। किसी तीर्थयात्रा के प्रसंग से अखिल भारतवर्ष के तीर्थों के निरीक्षण करने वाले

किसी व्यक्ति से पुरुषोत्तम क्षेत्र की सत्ता का पता पाकर राजा ने अपने पुरोहित के भाई विद्यापति को स्थान तथा भगवान् की स्थिति जानने के लिए भेजा। अनेक संकटों को झेल कर जब विद्यापति इस क्षेत्र में पहुँचे तब घनघोर जंगल से घिरे रहने के कारण उन्हें भगवान् का दर्शन न हो सका। खोज करने से पता चला कि कोई विश्वावसु शवर भगवान् नीलमाधव की एकनिष्ठ उपासना करता है और भगवान् का दर्शन उसी की इच्छा के ऊपर निर्भर है। विद्यापति ने उससे भेट की और विशेष आग्रह पर उसकी कन्या से उन्हें शादी भी करनी पड़ी। बड़ी प्रार्थना करने पर विश्वावसु उनकी आँख के ऊपर पट्टी बाँध कर वहाँ ले जाने के लिए राजी हुआ। विद्यापति ने यह शर्त भी मान ली और वह वृक्ष के मूल में भगवान् नीलमाधव की ललित मूर्ति को देख कर अपने चिर प्रार्थित इच्छा को पूर्ण किया। शवर के कार्य-विशेष से बाहर चले जाने पर उनके अचरज की सीमा न रही, जब पास के रोहिणी कुंड में स्नानमात्र से उन्होंने एक कौवे को चतुर्भुजी विष्णु के रूप मे परिणत होते देखा।

विद्यापति अपने उद्देश्य में सफल होकर अवंती लौटे और उनके संकेत से राजा पुरुषोत्तम क्षेत्र में पहुँचा। राजा ने यहाँ वेदी के ऊपर सौ यज्ञ किये जिसके फल-स्वरूप श्वेत-द्वीपपति विष्णु ने स्वप्न में दर्शन दे कर काष्ठ की मूर्ति बनाने का आदेश दिया। आदेशानुसार राजा अगले दिन प्रातः काल समुद्र में स्नान करने गया और स्वप्न में निर्दिष्ट वृक्ष के तने को घर ले आया। स्वयं विश्वकर्मा ने इससे भगवान् की विशिष्ट मूर्ति बनाने का प्रण किया। परंतु अपनी महारानी गुंडिचा देवी के आग्रह से राजा ने निर्दिष्ट दिनों के पहले ही घर के दरवाजे को खोल कर मूर्ति को अपूर्ण तथा उसके शिल्पी को अंतर्हित पाया।

इसी मूर्ति की प्रतिष्ठा पुराने उपासक विश्वावसु शवर के उत्तराधिकारी के सहयोग से वैशाख शुक्ल अष्टमी को की गई। पूजा तथा भोग का अधिकार शवर जाति के लोगों के ही सुपुर्द किया गया। तब से आजतक इसी जाति के बलभद्रगोत्री ब्राह्मणीकृत पाचक भगवान् के भोगराग की व्यवस्था करते हैं।

कृष्ण और बलराम के साथ सुभद्रा के स्वरूप की व्याख्या पुराणों में उपलब्ध होती है। स्कंद पुराण (उत्कल खंड; अध्याय १६) के अनुसार सुभद्रा स्वयं चैतन्यरूपिणी लक्ष्मी है[1]। सुभद्रा तथा बलराम का जन्म रोहिणी के ही गर्भ से हुआ था। फलतः दोनों में साहचर्य है। अनंत रूप से जगत् के धारण करने वाले संकर्षण कृष्ण से अभिन्न है और उनकी शक्ति रूपा लक्ष्मी यहाँ भगिनी रूप से वर्णित की गई है। दारुब्रह्म का उल्लेख शांखायन ब्राह्मण में प्रथमतः उपलब्ध होता है और उसी का संकेत पुराणों मे भी मिलता है। ब्राह्मण का श्लोक यह है—

आदौ यद् दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदालभस्व दुर्दूनो तेन याहि परं स्थलम्॥

यहाँ पर पहले शवर जाति के राजा राज्य करते थे। जंगल के निवासी होने से बहुत संभव है कि इन शवरों ने लकड़ी की मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने की प्रथा चलाई होगी। अतः शवर जाति के प्राधान्य वाले स्थान मे यदि जगन्नाथ जी की मूर्ति काष्ठ की बनाई जाती है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास से पता चलता है कि ये शवर राजा विष्णु के उपासक थे तथा इन्होंने विष्णु की प्रतिष्ठा के लिए सैकड़ों मंदिरों

---

१ तस्य शक्तिस्वरूपेयं भगिनी स्त्रीप्रवर्तिका।
—स्कंदपुराण, उत्कलखंड १६।१७

का निर्माण किया था। शिवगुप्त नामक राजा के विषय में यह कहा जाता है कि जब अष्टम अथवा नवम शतक में यवनों के राजा रक्तबाहु ने पुरी पर आक्रमण कर उसे ध्वस्त करने का उद्योग किया तब वे जगन्नाथ जी की मूर्ति को यहाँ से उठा कर अपनी राजधानी 'राजिम' में ले गये और उपद्रव के शांत होने पर पुनः उस मूर्ति को पूर्व मंदिर में रख दिया। आज भी राजिम नगरी में महानदी के किनारे जगन्नाथ जी की मूर्ति प्रतिष्ठित है। नगेंद्र नाथ बसु का अनुमान है कि यवनों ने नहीं, अपि तु जावा द्वीप के निवासियों ने भारत के पूर्वी समुद्र पर स्थित प्रदेशों पर आक्रमण किया था और तभी मूर्ति के स्थानांतर करने का प्रसंग उपस्थित हुआ[1]।

सुनते हैं कि इंद्रद्युम्न का बनाया हुआ प्राचीन मंदिर कालांतर में बालुकाशायी हो गया। यही कारण है कि सप्तम शतक के मध्य में जब हुएन-सांग ने इस स्थान की यात्रा की थी तब उसने केवल मंदिरों के शिखर ही देखे थे। इसी का उद्धार कर राजा ययाति केशरी ने मंदिर का पुनः निर्माण किया और इंद्रद्युम्न द्वितीय की उपाधि धारण की। एकादश शतक में चोड़ गंग ने उत्कल के राजा उद्योत केशरी या उनके किसी वंशज को जीत कर उत्कल में अपना राज्य स्थापित किया। इस घटना से उत्कलीय वैष्णव धर्म दक्षिण के आलवार संतों के संपर्क में आकर और भी अग्रसर हुआ। राजा पुरुषोत्तमदेव जगन्नाथ जी के विशेष भक्त थे और इन्होंने ही भगवान् की चूड़ा में नीलचक्र लगवाया जो आज भी वर्तमान है। इन्हीं के पुत्र हुए राजा प्रतापरुद्र जो १५०३ ई० में सिंहासन पर बैठे और जिनके राज्यकाल में महा-

---

१ हिंदी विश्वकोष, भाग ७, पृष्ठ ७०८—६।

प्रभु चैतन्यदेव ने नीलाचल को अपना प्रचार क्षेत्र बनाया और यहीं विशेष रूप से रहने लगे। चैतन्य देव के इस आगमन से उत्कलीय वैष्णव धर्म का सुवर्ण युग आरंभ होता है।

पुरी पर बौद्ध प्रभाव

आजकल के प्रायः समस्त इतिहासविदों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह मूर्ति बिलकुल बौद्ध है। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि उड़ीसा में अशोकवर्धन के समय में ही बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ और महायान, मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान आदि जितने बौद्ध धर्म के परिवर्तन हुए, उनमें से प्रत्येक का प्रवाह यहाँ पूरी तौर से अनुभूत हुआ। बौद्ध महाविद्यालय पुष्पगिरि के भग्नावशेष आज भी कटक जिले के रत्नगिरि नामक स्थान में वर्तमान हैं। तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए गये हुए अनेक बौद्ध पंडितों का जन्म-स्थान यही उत्कल प्रांत था। मयूरभंज के नाना स्थानों में अवलोकितेश्वर वज्रपाणि, आर्यतारा आदि बौद्ध देवता पाये जाते हैं। अतः उत्कल में बौद्ध धर्म का प्रसार मात्रा में अधिक रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता। इस स्थानीय बौद्धधर्म के प्रभाव से जगन्नाथ क्षेत्र के अछूता बचने की संभावना बिलकुल नहीं है। उधर जगन्नाथ की मूर्ति हिंदू धर्म की अन्य परिचित देवमूर्तियों से नितांत विलक्षण है। सुनते हैं कि भगवान् के कलेवर-परिवर्तन के समय मूर्ति के भीतर विष्णु-पंजर रक्खा जाता है। विद्वानों की धारणा है कि संभवतः बुद्ध के शरीर की हड्डी का कोई टुकड़ा इसके भीतर रक्खा जाता है। साँची से मिले हुए धर्म यंत्रों (बुद्ध, धर्म तथा संघ के सूचक यंत्रों) से इन तीनों मूर्तियों की इतनी अधिक समानता है कि इन्हें बौद्ध मूर्ति मानने

के लिए बाध्य होना पड़ता है। हुएन साँग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि उसने मध्य एशिया के खोतान नामक स्थान में बुद्ध, धर्म, तथा संघ की मूर्तियों से समन्वित रथयात्रा देखी थी जो जगन्नाथ जी की रथयात्रा से साम्य रखती है। इन्हीं सब कारणों से आजकल इतिहासवेत्ता लोग जगन्नाथ की मूर्ति को बुद्ध, धर्म, तथा संघ की ही प्रतिमा मानते हैं[1]। उड़िया पुस्तक 'धर्मपूजा विधान' में तथा अन्य ग्रंथों में जगन्नाथ जी बुद्ध के ही रूप माने गये हैं।

ऐतिहासिक छानबीन करने पर यह मत बिलकुल अभ्रांत नहीं प्रतीत होता। बौद्ध धर्म का प्रभाव देश में बद्धमूल होने के कारण किसी न किसी मात्रा में अवश्य पड़ा होगा। परंतु धर्म-यंत्रों के साथ पार्थक्य रखने के कारण हम जगन्नाथ जी को पूरा बौद्ध विग्रह नहीं मान सकते। तथ्य तो यह है कि जगन्नाथपुरी शबर संस्कृति बौद्ध सस्कृति तथा ब्राह्मण संस्कृति की त्रिवेणी का संगम है। जो आचार-विषयक बातें ब्राह्मण धर्म से विपरीत प्रतीत होती हैं, उनका कारण शबर सस्कृति है जो तीनों में प्राचीनतम अवश्य हैं। महाप्रसाद की पवित्रता तथा उसके ग्रहण का व्यापक आदर शबरराजाओं के उद्योग के फल हैं। सोमवंशी उत्कल नरेश शबर राज शिवगुप्त तथा भवगुप्त के अधीन थे और इन्हीं लोगों के आग्रह पर महाप्रसाद के ग्रहण का प्रचलन हुआ। यह शबर प्रभाव का द्योतक है, बौद्ध प्रभाव का नहीं। ययाति केशरी ने ब्राह्मणों के द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा अवश्य कराई; परंतु पूजा के विषय में शबर पद्धति का ही अनुसरण हुआ। आज भी जगन्नाथ जी के लेप संस्कार आदि के ऊपर

---

१ जलधिर तीरे स्थान बौद्धरूपे भगवान्
हय्या तुमि कृपावलोकन।

शबरों का पूर्ण अधिकार है। उनके वंशधर 'दैतापति' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा पूजा के विषय में अधिकारी हैं।

तथ्य जो कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि इस देश में वैष्णव धर्म का प्रचार पहले से था। हाथी गुम्फा के शिलालेख (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के एक वर्णन से अनुमान लगाया जाता है कि उड़ीसा कृष्ण भक्ति शाखा से परिचित था। भव-वंश की दो रानी दंडो और त्रिभुवन महादेवी ने दान-पत्र में अपने को परम वैष्णवी लिखा है। चैतन्य के आगमन के बहुत पहले भागवत का उड़िया अनुवाद हो चुका था। सन् १०७८ में गंगा वंश की स्थापना के बाद उत्कल आलवार वैष्णवों के संपर्क में भी आया था। उड़ीसा के वैष्णव विद्वान् राय रामानंद चैतन्य-देव से पहले ही प्रसिद्ध हो चुके थे। इससे सिद्ध होता है कि उत्कल देश में वैष्णव धर्म का प्रचार गुप्त काल में भागवत धर्म की सर्वदेशीय उन्नति के युग में ही सम्पन्न हुआ।

(२)

मध्ययुग में वैष्णव धर्म

१६ शतक में चैतन्यदेव ने जगन्नाथ क्षेत्र को अपनी भक्ति और तपस्या का मुख्य केंद्र बनाया और बंगाल से आकर वे यहीं रहने लगे। उनका आगमन उत्कल-देश में धर्म तथा साहित्य की क्रांति का युग है। इस समय के उत्कल नरेश प्रताप रुद्रदेव स्वयं बड़े पंडित थे। उनका दरबार धर्म-संमेलन का प्रतीक था। वे स्वयं चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव में आकर परम वैष्णव

तथा जगन्नाथ जी के एकनिष्ठ उपासक हो गये थे। शाक्त ग्रंथकार लक्ष्मीधर भी उनकी सभा को सुशोभित करते थे। चैतन्य के प्रभाव से उत्कल साहित्य में पाँच बड़े वैष्णव कवि हुए जो 'पंच सखा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी भावना, विचारधारा, योगाभ्यास तथा भगवद्भक्ति की कल्पना में इतना साम्य है कि एक ही चिंता-सरित् के 'पाँच प्रवाह' माने जाते हैं अथवा एक ही ज्ञानदीपक के भिन्न भिन्न पाँच शिखा होने के कारण ये पंचशिखा के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

इन पाँचों कवियों के नाम हैं—(१) बलराम दास, (२) अनंत दास, (३) यशोवंत दास (४) जगन्नाथ दास, (५) अच्युतानंद दास। इनमें बलराम दास सबसे वयोश्रेष्ठ थे तथा अच्युत दास सबसे छोटे थे। अच्युतानंद की लिखी हुई 'उदय-कहाणी' नामक ग्रंथ के उल्लेख से इनका जन्मकाल इस प्रकार माना जा सकता है—बलराम—१४७३ ई०, अनंत—१४७५ ई०, यशोवंत और जगन्नाथ—१४७६ ई० और अच्युत—१४८६ ई०। इस प्रकार ये पाँचों कवि एक ही समय पैदा हुये। अच्युतानंद का कहना है, 'कृष्ण की इच्छा से हम पैदा हुए हैं। राधा और लीला प्रचार करने के लिए हमने पंचसखा का जन्म लिया है'।

पंचसखाओं के जातिनिर्णय का कार्य भी दुरूह है। सामान्य रीति से ये समाज की निम्न श्रेणी के व्यक्ति माने जाते हैं। बलरामदास वाउरि (उत्कल की एक आर्येतर जाति) जाति के माने जाते हैं। 'प्रणवगीता' के आरंभ में उन्होंने अपना जो परिचय दिया है[1] उससे ब्राह्मणों के द्वारा उनके तिरस्कार की बात स्पष्ट रूप से झलकती है। 'मुक्तिमंडप' में शूद्र के मुँह से वेदांत की

---

१ नगेंद्रनाथ वसु—माडर्न बुद्धिजम पृ० ६५—६६ पर उद्धृत।

चर्चा सुनकर प्रतापदेव इनसे नितांत अप्रसन्न हुए थे, परंतु जड व्यक्ति को शास्त्र प्रवचन की पटुता प्रदान कर इन्होंने अपने चमत्कार का परिचय दिया। तब कहीं जाकर इन्हें आदर तथा सम्मान प्राप्त हुआ। परंतु कारणवश ये राजा के सम्मान तथा सत्कार से पीछे वंचित किये गये। प्रतापरुद्रदेव की मृत्यु के बीस वर्ष अनंतर १५५१ ई० मुकुंददेव के सिंहासनारूढ़ होने पर इन्हें वह प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त हुआ।

कोई अच्युतानंद को ग्वाला बतलाता है तो कोई क्षत्रिय। परंतु वे स्वयं लिखते हैं कि उनके पितामह करण थे और राज दरबार में नकलनवीस का काम करते थे। उनके पिता जगन्नाथ जी के मंदिर में नौकर थे और इसलिए उनकी उपाधि 'खुँटिया' थी। लेकिन वह स्वयं भक्त तथा भक्ति के प्रचारक होने के कारण अपने को शूद्र कहते हैं। इन पंच सखाओं के नाम के अंत में जो दास पद उपाधि के लिए प्रयुक्त है वह जाति का सूचक न होकर धर्म-संप्रदाय का चिन्ह है। दास शब्द का अर्थ है ब्रह्म के स्वरूप को यथाथतः जाननेवाला अर्थात् ब्रह्मज्ञानी। 'शून्य संहिता' में दास पद की यही व्याख्या है—

> नामतत्त्व चिन्हि] आत्मातत्त्वज्ञानी नामब्रह्म यार आश।
> ब्रह्मदर्शी सहि अवश्य अटइ प्रभुङ्कर सेहि दास॥
>
> अध्याय १६

संतों को जाति पांति के ऊपर विशेष आग्रह नहीं होता। प्रतीत होता है कि भगवान् के चरणारविंद की श्रद्धापूर्वक सेवा को शूद्रवृत्ति का प्रतीक मानकर ये परम वैष्णव लोग अपनी दीनता सूचित करने के लिए अपने को शूद्र कहने लगे थे।

इन लोगों ने उड़िया भाषा में अनेक ग्रंथों का भी प्रणयन किया था जिनमें से कुछ ही ग्रंथ अब तक प्रकाशित हो सके हैं। बलराम की रचनाओं में गुप्तगीता, प्रणवगीता, विराटगीता, सारस्वतगीता तथा ब्रह्माण्डभूगोल गीता मुख्य हैं। उड़िया भागवत के अमर रचयिता जगन्नाथ दास संस्कृत ग्रंथों के भी लेखक हैं। अच्युतदास की 'शून्य संहिता' शून्यतत्त्व का प्रतिपादक सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है जो 'अनादिसंहिता' तथा 'अनाकार संहिता' की अपेक्षा नितान्त महत्त्वशाली, उपादेय तथा लोकप्रिय है।

(३)

पंचसखा–धर्म

पंचसखा के द्वारा उपदिष्ट शिक्षा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। मुख्यतया ये लोग श्री चैतन्यमहाप्रभु के लीला-परिकर माने जाते हैं। चैतन्य देव के आने पर प्रेमाभक्ति की जो बाढ़ उत्कल देश में आई, उसी को इन लोगों ने इस प्रांत के घर घर में पहुँचाया। अतः ये पूर्ण वैष्णव ही हैं। उड़ीसा के साहित्यिक विद्वानों तथा आलोचकों का यही मत है। श्री नगेंद्र-नाथ वसु महोदय इनके ग्रंथों में महायानीय बौद्ध सिद्धांतों जैसे शन्य, धर्म, महाशून्य आदि की प्रचुरता देखकर उन वैष्णव सतों को प्रच्छन्न बौद्ध मानते हैं। १८७५ ई० में उत्कल में जब 'महिमाधर्म' नामक बौद्धभावापन्न नवीन धर्म का उदय हुआ तब इन पंचसखाओंके ग्रंथ उसके लिए मान्य तथा सिद्धांत-प्रतिपादक

माने गये। यह घटना भी उनके मत की पोषिका मानी गई है[1]। तीसरे मत के अनुसार ये पंचसखा तांत्रिक मत के प्रचारक माने जाते हैं। इनके ग्रंथों में यंत्र-मंत्र की खूब चर्चा है, गुरु की महिमा का वर्णन है, कुण्डलिनी को जाग्रत कर सहस्रार में शिव के साथ शक्ति के संगम की पर्याप्त चर्चा है। इसीलिए कुछ लोग इन्हें नाथपंथी तांत्रिक मानने के पक्ष में हैं।

ऊपर के विभिन्न मतों में कुछ न कुछ सत्य के बीज निहित हैं। सोलह शतक में उत्कल प्रदेश नाना धर्मों के सम्मिलन का क्षेत्र था। एक ओर जगन्नाथ क्षेत्र से सबद्ध सामान्य जनता वैष्णव धर्म में पूर्ण आस्था बनाये हुई थी, तो दूसरी ओर अशोक के समय से प्रवेश पाने वाले तथा समय समय पर राजाश्रय पाने वाले बौद्ध धर्म के अनुयायियों की भी कमी नहीं थी। तीसरी ओर तांत्रिक धारा का प्रवाह कम न था। प्राचीन काल से उत्कल तथा कलिंग देश तांत्रिक पूजा तथा आचार का केंद्र माना जाता है। तत्कालीन उत्कलनरेश प्रतापरुद्र का राज-दरबार एक प्रकार से धर्म सम्मेलन का प्रतीक था। ऐसे धार्मिक वातावरण में उत्पन्न होने वाले वैष्णव कवियों में यदि हमें बौद्ध तथा तांत्रिक सिद्धांतों की भी झलक मिलती है तो इसमें कोई आश्चर्य करने की बात नही है। पंचसखा धर्म की यही विशिष्टता है कि वह एक ही धारा में प्रवाहित न हो कर त्रिविध धाराओं की त्रिवेणी का सामंजस्य प्रस्तुत करता है। वह मुख्यतया वैष्णव होकर भी महायानी तथा नाथपंथी विचार-धारा से कम प्रभावित नहीं हुआ है।

---

१ द्रष्टव्य वसु—माडर्न बुधिज्म पृष्ठ १६०–१६१

इन पाँचों कवियों के गौरव का अभ्युदय श्रीचैतन्य देव के पुरी आगमन के अनंतर ही हुआ। अपने इष्टदेवता के आदेश से ये पाँचों जन इनके दीक्षित शिष्य बन गये। अपने गुरु के ऊपर इनकी अवस्था इतनी अधिक थी कि वे श्रीकृष्ण तथा परब्रह्म के समकोटि ही स्वीकार किये गये हैं। तथापि पंचसखा धर्म चैतन्य मत का पुंखानुपुंख अनुयायी न था। श्री चैतन्य की उपस्थिति में ही इन्हें सताया गया था। यह घटना इनको चैतन्यदेवका पक्का एकांत अनुयायी मानने के लिये हमें बाध्य नहीं करती। चैतन्य बलरामका विशेष आदर करते थे। जगन्नाथदास के द्वारा रचित उड़िया में निबद्ध भागवत का अनुवाद सुनकर चैतन्य ने इन्हें 'अतिबड़ी' की उपाधि दी थी। दिवाकर दास ने 'जगन्नाथ चरितामृत' में एक कहानी दी है कि जिससे पता चलता है कि जगन्नाथ दास के अंतरंग बनने के कारण गौडीय वैष्णवों की धारणा होने लगी थी कि चैतन्य स्वयं उड़िया बन जावेंगे। उन्होंने उन्हें सावधान भी किया, परंतु चैतन्य ने इसकी तनिक भी पर्वाह नहीं की और वे जगन्नाथदास का आदर पूर्ववत् करते ही रहे। इस पर शिष्यगण नाराज होकर जाजपुर चले गए तथा अंततः वृंदावन में जा बसे। दिवाकरदास के कथनानुसार इन लोगों ने पुरुषोत्तम के सब रिवाज छोड़ दिये 'हरे कृष्ण राम' (पंच सखा का विशेष मंत्र) को छोड़कर वे 'हरे राम कृष्ण' जपने लगे तथा जगन्नाथ से हटकर 'मदनमोहन' का आश्रय लिया। गौडीय वैष्णव ग्रंथों में 'पंचसखा' के, चैतन्य के इतने घनिष्ठ उड़िया शिष्यों के, उल्लेख का अभाव निःसंदेह एक अतर्कनीय घटना है। संभव है दोनों प्रकार के शिष्यों में—उत्कलीय तथा गौडीय शिष्यों में—सिद्धांतगत विभिन्नता ही इसका कारण हो। जो कुछ भी कारण हो, पंचसखा

चैतन्यदेव के घनिष्ठ संबंध में आये थे और इसीलिए वे उनके लीलापरिकर माने जाते हैं।

(४)

पंचसखाधर्म की शिक्षा

उत्तर प्रदेशीय आचार्यों ने अपने धर्म की शिक्षा के निमित्त जिस प्रकार लोक भाषा का आश्रय लिया था, उसी भाँति पंच सखाओं ने भी अपने धर्मोपदेश के लिए व्यावहारिक उड़ीया भाषा को ही अपनाया। इसीलिए धार्मिक महत्त्व के साथ ही साथ इनका साहित्यिक महत्त्व भी अत्यन्त अधिक है। लोक-भाषा के आश्रय से इन्होंने दर्शन तथा धर्म को जनता के हृदय तक पहुँचा दिया। जगन्नाथदास का भागवत तथा बलराम दास का 'दाण्डि रामायण' उड़िया साहित्य के रत्न हैं। जग-न्नाथ का भागवत तुलसीदास के रामायण के समान उड़ीसा के प्रत्येक व्यक्ति का एकमात्र लोकप्रिय धर्म-ग्रथ है।

यह धर्म नितांत उदार था। ये लोग जाति-पाँति का बंधन तोड़ना चाहते थे। इसीलिए अपने शिष्यों पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगा कर ये प्रत्येक जाति के लोगों को अपना शिष्य बनाते थे। बाह्य आडंबर के ये बड़े विरोधी थे। ये लोग अंत-र्योग के ऊपर बड़ा आग्रह करते थे। मूर्तिपूजा, तीर्थाटन तथा तत्त्वहीन मंत्र की ये लोग कबीरदास के समान ही कड़े शब्दों में आलोचना करते थे। कबीर के समान पंचसखा भी मानसिक विशुद्धि की आंतरिक भावना के पक्षपाती थे और काठ की मनिया छोड़कर मन की मनिया के जपने का उपदेश देते थे।

योग तथा भक्ति दोनों आत्म-दर्शन के सच्चे उपाय हैं। इनका ज्ञान बिना गुरु कृपा के नहीं हो सकता। इसलिए इन्हें गुरु की उपादेयता मानने पर विशेष आग्रह है। मुख्य लक्ष्य तो परमात्मा की प्राप्ति है; गुरु का उपयोग मार्ग-दर्शक के रूप में ही है। इन लोगों के ग्रंथों मे मंत्र, यंत्र और योग का बहुत ही अधिक वर्णन इसीलिए मिलता है। तत्त्वप्राप्ति में पंचसखा ने योग को प्रथम सोपान माना है। अच्युतानंद के अनुसार मन के पाँच भेद हैं—सुमन, कुमन, अमन, विमन तथा मन। साधक का काय है कि वह मन तथा अमन की दशा से ऊपर उठकर सुमन की दशा तक पहुँच जाय। इसके लिए अच्युतानंद ने बारह वर्ष के लिए एक विशिष्ट योगाभ्यास क्रम की शिक्षा दी है। इस प्रकार पचसखा भगवान् की प्राप्ति में मन की व्यवस्था के लिए योग को तथा अनुराग उत्पन्न करने के लिए भक्ति को प्रधान साधन मानते हैं।

ये सगुण तथा निर्गुण उभय ब्रह्म का निरूपण अपने ग्रंथों में आग्रह के साथ करते हैं। ये ब्रह्म को शून्य के नाम से पुकारते है। इनके अनुसार जगत् के आदि में एक ही निराकार, अलेख, सच्चिदानंद, महाशून्य तत्त्व था और उसी से प्रथमतः शून्य की उत्पत्ति हुई, शून्य में ओंकार की, ओंकार से वेदों की और वेदों से सकल स्थावर जंगम पदार्थों की। जगन्नाथ दास ने अपने 'तुलाभिना' ग्रंथ में इसका कथन इन शब्दों में किया है—

सकल मंत्र तीर्थ ज्ञान। बोइल शून्य ये प्रमाण।
येते कहिलुं गो पार्वती। ए सर्वे शून्यरे अच्छन्ति॥
महाशून्यरु शून्य जात। से शून्य प्रणव संभूत।
प्रणव परमक कहि। सकल शास्त्र से बोलाइ॥

अच्युतानंद दास ने अपनी सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचना 'शून्य संहिता' में शून्य पुरुष की लीला का गायन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है—

शून्य पुरुष दयालु अटइ । शून्य पुरुष सर्बघटे रहि ।
शून्य पुरुष करे नटघट । शून्य पुरुष जाणे छंदकूट ।
शून्य पुरुष शून्यरे मारइ । मारि शून्य पुरुयगति करइ ।।

अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण के चरण की शरण स्वयं जाने का उल्लेख करते हैं, क्योंकि बिना कृष्ण की सहायता से कोई भी साधक परम-पद को प्राप्त नहीं कर सकता । इन अव्यक्त श्री हरि का निवास 'अनाकार' के लोक में है जिसके अनुग्रह पर अच्युत दास ने अपने को न्यौछावर कर दिया है ।

व्रजकुल तारि आपण तरिवि
श्री कृष्ण सहाय हइछि ।
अव्यक्त हरि अनाकार पूरि
तेणु पद पुरु अछि ।।
—अनाकार संहिता ।

निष्कर्ष यह है कि इन भक्तों के अनुसार परमतत्त्व अनाकार 'शून्यपुरुष' है । उस निराकार 'महाविष्णु' ने ही समस्त जगत् की रचना की है । वही आदिब्रह्म है जो बिंदुब्रह्म के रूप में भौतिक स्वरूप ग्रहण करता है और आदिशक्ति के द्वारा जगत् का निर्माण करता है । बिंदु ब्रह्म से निकलने वाला बिंदु दो रूपों में दिखाई पड़ता है—रा और म· । और यही लीला के निमित्त राधा और कृष्ण का रूप धारण करता है । यही निराकार

शून्यपुरुष साकार होने पर राम तथा कृष्ण का रूप धारण करता है। संसार का सर्जन वे करुणा के कारण ही करते हैं। पंच-सखाओं के अनुसार रूप के द्वारा ही नाम की प्राप्ति होती है। उनकी दृष्टि में राधा जीव तथा श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। किसी रूप-भावना में अपने को आबद्ध रखने की वे निंदा करते हैं। वेदांत के अनुसार वे भी पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड को एकता मानते हैं। इस प्रकार पंचसखा धर्म में अपना एक वैशिष्ट्य है जिसमें वैष्णव, तांत्रिक तथा बौद्ध तत्त्वों का एक मंजुल सामरस्य उपस्थित किया गया है[1]।

—:※:—

१ 'पंच सखा' के इस परिचय के लिए हम निम्नलिखित लेखकों के विशेष ऋणी हैं—

(क) नगेंद्रनाथ वसु—माडर्न बुद्धिज़्म, कलकत्ता १९११।

(ख) प्रो० चित्तरंजन दास—जनवाणी पत्रिका, अप्रैल १९५०, काशी पृ० २६६—२७४।

(४)

असम का वैष्णव मत

मध्ययुग में वृंदावन से कृष्णभक्ति की सरिता इतने प्रवाह से बहने लगी कि उसने उत्तरी भारत के किसी भी प्रांत को अछूता नहीं छोड़ा। भारत का सबसे पूरबी प्रांत भी इस वैष्णवता के प्रचुर प्रभाव से बच नहीं सका। असम प्रांत शाक्त उपासना का दृढ़ गढ़ रहा है। कामाख्या पीठ शाक्त पीठों में मूर्धन्य-स्थानीय है और वह कामरूप (आसाम) में ही स्थित है। ऐसे शाक्त प्रांत को विशुद्ध वैष्णव प्रांत में परिणत कर देना हँसी खेल की बात न थी, परंतु असम-प्रांतीय वैष्णव प्रचारकों के अदम्य उत्साह, अश्रांत परिश्रम तथा अमिट लगन का ही यह परिणाम है कि आज वहाँ की ९८ प्रतिशत जनता वैष्णव धर्म में दीक्षित है तथा भगवान् कृष्ण को अपना उपास्य देव मानती है। इस विपुल परिवर्तन का श्रेय है असम के वैष्णवाग्रणी शंकरदेव तथा उनके प्रिय शिष्य माधवदेव को। इसी वैष्णव युगल की मनोरम कीर्ति-कौमुदी असम-प्रांत के साहित्य के ऊपर तथा तद्देशीय जनता की कोमल मनोवृत्ति, अहिंसामय आचरण तथा उदात्त धर्म भावना के ऊपर सदा के लिए अंकित है।

---

१ द्रष्टव्य श्रीयुत मेधी का विद्वत्तापूर्ण लेख 'असम के व्रजबुलि साहित्यका दार्शनिक स्वरूप'—संमेलन पत्रिका भाग ३० संख्या ६–७ तथा सं० ११–१२; सं० १९९९ (माघ–फाल्गुन) तथा सं० २००० (आषाढ़-श्रावण)। ग्रंथकार इस लेखक का असमीय वैष्णवमत के विवरण के लिए विशेष आभारी है।

(१)

शंकरदेव

शंकरदेव का जन्म सन् १४४६ ई० में असम प्रांत के एक साधारण कायस्थ कुल में हुआ था। वह कुल शक्ति का घोर उपासक था। बाल्यावस्था में ही माता की ममता से तथा पिता की रक्षा से विरहित यह बालक पढ़ने में इतनी लगन से जुट गया कि उसने थोड़ी उम्र में ही विद्याध्ययन समाप्त कर दिया। योग तथा अन्य शास्त्रों में अलौकिक पाण्डित्य के कारण समाज में इनका प्रभाव बढ़ने लगा। वृद्धा पितामही तथा युवति भार्या की मृत्यु ने संसार की असारता का सच्चा चित्र इनके सामने खड़ा कर दिया। फलतः गृहस्थी से नाता तोड़ कर इन्होंने श्रीकृष्ण से अपना नाता जोड़ा। उत्तरी भारत के पवित्र तीर्थों की यात्रा करने के अनंतर ये एक महनीय भागवत उपदेशक के रूप में जनता के आगे आये। तत्कालीन कोच राजा नर नारायण (१५१४—१५८४ ई०) प्रथमतः विद्वेषियों की कुमंत्रणा के कारण इनका द्वेषी था, परंतु इनके उपदेश तथा चमत्कार से प्रभावित होकर वह इनका सहायक तथा शिष्य बन गया। फलतः भक्तिरस में सराबोर इस महात्मा ने अपने ग्रंथों से तथा उपदेशों से कृष्ण-भक्ति का इतना प्रचार किया कि समग्र असम प्रांत भक्तिभावना से उच्छलित हो उठा। यदि शंकरदेव को हम आसाम का महाप्रभु चैतन्य कहें तो इसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है। इस कार्य में इनके प्रधान सहायक थे इनके पट्ट शिष्य माधवदेव। आप गोविंद-गिरि के पुत्र तथा बांदुका स्थान के निवासी थे। आरंभ में घोर शाक्त थे, परंतु शंकरदेव के अलौकिक पांडित्य के सामने

परास्त होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया तथा गुरु के वैष्णव धर्म के प्रचार कार्य को भलीभाँति संपन्न कर १५६८ ई० में गोलोकवासी हुए।

शंकरदेव के द्वारा चलाये गये धर्म को कहते हैं **महाधर्म**, या **महापुरुष धर्म अथवा महापुरुषिया धर्म**। शंकरदेव अपनी महनीयता के कारण 'महापुरुष' के नाम से अभिहित किये जाते थे और इसी लिए तत्प्रचारित धर्म का तथाविध नाम है। इस धर्म में आने को 'शरण' कहते हैं तथा दीक्षित व्यक्ति को 'शरणिया'। इनका दीक्षा मंत्र है 'शरणं मे जगन्नाथ श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम' और इसी मंत्र के द्वारा ये लोगों को अपने धर्म में दीक्षित बनाते थे। ये कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म मानते थे तथा उनकी पूजा से अतिरिक्त पूजा का सदा निषेध करते थे। इन्होंने भागवत धर्म के प्रचार के लिए अक्लांत परिश्रम किया तथा जीवन भर धर्मोपयोगी ग्रंथों की रचना संस्कृत में, विशेषतः अपनी मातृभाषा में, करते रहे। असम साहित्य का उद्गम शंकरदेव की श्लाघनीय रचनाओं से ही होता है। इन्होंने भगवान् व्रजनंदन की रूपमाधुरी तथा स्नेहसुधासे सिक्त अलौकिक पदों तथा कीर्तनों द्वारा असम प्रांत में भक्ति की सरिता उच्छलित कर दी। असम प्रांतीय वैष्णव भक्तिके आध्यात्मिक रूपका सर्वांग-सुंदर प्रतिपादक ग्रंथ है शंकरदेव का संस्कृत-निबद्ध 'भक्ति रत्नाकर' जिसका अनुवाद असमिया भाषा में श्री रामचरण ठाकुर ने किया है। भक्ति रत्नावली में भी भक्तितत्त्व का विवेचन बड़ी मार्मिकता तथा विशदता के साथ किया गया है। यह भक्तिरत्नावली असम की उन चार पवित्र धार्मिक पुस्तकों में अन्यतम है जिसे प्रत्येक भक्त को पढ़ना या सुनना पड़ता है। शेष तीन ग्रंथों के नाम

हैं—कीर्तन, दशम और नामघोष। बड़गीत, धार्मिक नाटक तथा समग्र धार्मिक पद इन्हीं चार ग्रंथों के परिशिष्ट रूप में हैं तथा ब्रजबुली (ब्रजबोली) में निबद्ध किये गये हैं।

२

सिद्धान्त

शंकरदेव का अध्यात्म-पक्ष है पूर्ण अद्वैतवाद तथा व्यवहार पक्ष है भक्ति की साधना। यह मत श्रीमद्भागवत के ही भक्ति-सिद्धांतों का विलास है और भागवत के समान ही यह संप्रदाय अद्वैत के साथ भक्ति के पूर्ण सामञ्जस्य का पक्षपाती है। जीव भगवान् का ही रूप है, परंतु माया के कारण वह दयनीय स्थिति में अपना जीवन यापन कर रहा है। प्राणी-मात्र उस सर्वशक्तिमान् के ही अभिव्यक्त रूप हैं। अतः जीव का यह प्राकृतिक धर्म है कि यह उस परमपिता को पहचाने तथा श्रद्धा-भक्ति से उसका सांनिध्य प्राप्त करे। परंतु माया के हाथों जीव की कितनी दयनीय दशा हो गई है? इसका शंकरदेव के शब्दों में विवरण पढ़िए। वे जीव के भाग्य पर विलाप कर रहे हैं—यह संसार एक गहन वन है जो चारों ओर से सांसारिक तृष्णारूपी मोहपाशों से घिरा हुआ है। इस निविड़ अरण्य में माया के फंदे मे जकड़ा हुआ जीव हरिण के समान इधर से उधर भटक रहा है। कालरूपी व्याधा उसे पकड़ने के लिए दौड़ा चला आ रहा है। काम क्रोध रूपी कुत्ते उसे काट खाने के लिए उसका पीछा कर रहे हैं। लोभ तथा मोहरूपी दो बाघ उसे चैन लेने नहीं देते। उसकी चेतना खो गई है। वह जान नहीं पाता कि इस भय तथ विषाद-

मय भवसागर को किस प्रकार पार करें। बड़े सुंदर रूपक में कवि ने निबद्ध किया है जीव की हीन दीन दयनीय दशा को—

ए भव गहन बन, अति मोह पाशे चन,
तातें हामो हरिण बेड़ाय।
फंदिलो मायार पाशे, काल व्याध धाया आसे,
काम क्रोध कुत्ता खेदि खाय।
हराइल चेतन हरि, न जानो किमते तरि,
गुणिते दगध भेल जीव।
लोभ मोह दुहो बाघ, सतते न छाड़े लाग,
राखु राखु राखु सदाशिव॥
—बड़गीत १६।

माया के चक्कर से उद्धार पाने का सरल सुगम उपाय है हरि-भक्ति जो माया के बंधनों को तोड़ कर जीव को जन्ममरण की विषम बाधा से मुक्त कर देती है[1] तथा सबके लिए सहज-साध्य है। भक्ति-मार्ग में जात-पाँत का कोई भी व्याघात नहीं है[2]।

---

१ हरिक भक्ति अहि परम संपद।
दोहे दोस सब मिलावय मनोरथ॥
—केलि-गोपाल नाट।
तेजिए सयल मनोरथ आवरि, हरि पदे प्रेम मिलायो।
पुनु आवा गमन एड़ायो, माया भरम बाहुड़ायो॥
—बड़गीत ७७।

२ न लागे भक्तित देव, द्विज सदाचार हुइबे।
समस्त प्राणीर अधिकार।
—नृसिंहलीला नाटक।

यह सब के लिए उन्मुक्त राजमार्ग है जिसका सेवन गंतव्य स्थान पर अवश्य ही पहुँचा देता है। इसके लिए न क्रिया की आवश्यकता होती है, न ज्ञान की, न धन की और न दान की—

जप तप तीरथ करसि गया, काशी वास बयस गोवाइ।
जानि योग युगुति मन मोहित, बिने हरि भकति गति नाइ॥
—बड़गीत १३।

भागवत के मतानुसार माधव देव ने भी ईश्वर प्रेम की तीन अवस्थाएँ निर्दिष्ट की है[1]—(१) श्रद्धा, (२) रति, (३) भक्ति। अध्यात्ममार्ग के पथिक के लिए श्रद्धा के संबल की नितांत आवश्यकता होती है। आस्तिक्य बुद्धि का ही नाम है श्रद्धा अर्थात् ईश्वर में पूर्ण विश्वास। रति का अर्थ है—मन के द्वारा अभीष्ट किसी व्यक्ति के प्रति मन की अनुकूलता होना (=रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्—साहित्य-दर्पण) तब परानुरक्ति रूपा भक्ति का उदय होता है। भक्त के मानस का यही क्रम-विकाश है। इस प्रकार शंकरदेव के द्वारा भक्ति पंथ का मुख्य उद्देश्य था—ईश्वर के प्रति विश्वास की भावना के साथ साथ उसके प्रति प्रेम की भावना का संमिलन। इसके लिए इन्होंने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदि भक्ति के विविध प्रकारों को अपनाया है परंतु इस नवधा भक्ति में उन्होंने श्रवण, कीर्तन

१ मोक्षदाता मञि मोतं शीघ्रे अतिशय।
अनुक्रमे श्रद्धा रति भकति मिलय॥
—भक्ति रत्नावली, २८६

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि।
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
—भागवत ३।२५।२५।

तथा स्मरण को विशेष महत्त्व दिया है[1]। यह ध्यान देने की बात है कि कृष्ण को आराध्य देव मानने पर भी शंकरदेवके भक्ति-मार्ग में दास्य भक्ति पर ही सबसे अधिक आग्रह दिखलाया गया है। यही कारण है कि माधुर्य भक्ति के उपासक गौडीय वैष्णव पंथ के विपरीत यहाँ राधा का स्थान नितांत महत्त्वहीन है। शंकरदेव के तत्त्वोपदेश में राधा के लिए कोई स्थान नहीं है। असम के नाटकों में राधा का नाम कहीं भी देखने में नहीं आता। 'केलि गोपाल', 'रास झुमुरा' तथा 'भूषण हरण' केवल इन्हीं तीन नाटों (नाटकों) में राधा का नाम निर्दिष्ट मिलता है परंतु यह यही सूचित करता है कि अन्य गोपियों की अपेक्षा उसका स्थान महत्त्वशाली न था। वह सामान्य गोपियों के समान ही कृष्ण का पूजन तथा आदर करती है। गौडीय वैष्णव तथा वल्लभ मत में निर्दिष्ट रसपेशलता तथा प्रेम-स्निग्धता असम प्रांतीय राधा में देखने को भी नहीं मिलती। राधा साधारण गोपिका के सदृश कृष्ण से पूछती है—

जादव हे, कैछन बात बेगारि।
सकल निगम तेरि अंत न पावत।
हाम पामर गोप नारि ॥ ध्रुव ॥
तुहु परम गुरु निखिल निगम पति,
मानुस भाव तोहारि।

---

१ पुरुब बासना दुर करहु हामारि।
वचने रहोक गुणनाम तोहारि ॥
तुआ कथा श्रवणे रहोक अविराम।
कर मेरि रहोक तोहारि कये काम ॥
—अर्जुन भंजन नाट।

चतुर बयन तेरि, माया विमोहित,
जाने नाँहि योग विचारि।
तेरा अइचन भाव न जानिए,
कयालु गरब नाथ तोइ।
राधा उचित बात, कहय माधव दिन,
गति गोविंद-पद मोइ॥

—रास झुमुरा, ४

(३)

एकशरण

शंकरदेव के द्वारा व्याख्यात भक्तिपंथ की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है उनका 'एक शरण' संबंधी सिद्धांत। परम-तत्त्व कृष्ण ही जीवों के एकमात्र अंतिम आश्रय हैं। अतः उनकी शरण में जाना जीव का परम कर्तव्य होता है। भवपारावर से मुक्ति पाने के लिए भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण ही 'एकशरण' का तात्पर्य है। श्रीरामानुज के 'प्रपत्ति' का भी यह लक्ष्य है। असम वैष्णवाचार्य का स्पष्ट कथन है—

कृष्ण किंकर कह, विछोड़ि विसयकामा।
रामचरण लेहुं शरण, जप गोविंदकु नामा॥

—बड़गीत।

साधारण भक्त-समाज में 'शरण' का अर्थ है—प्रार्थना तथा भजनके क्षेत्रमें आना तथा वैष्णवमतमें दीक्षित होना। इसी कारण इनके वैष्णव अनुयायी 'शरणिया' नाम से पुकारे जाते हैं। 'शरण'

की विशेषता के साथ ही असम भक्तिपंथ की एक अन्य विशिष्टता है—नाम पर आग्रह जिसे यहाँ नाम-धर्म कहते हैं। भक्ति का सर्वोत्तम रूप है नाम की साधना। भगवान् की शरण जाने की अपेक्षा भगवान् के नाम के शरण जाने का वे उचित उपदेश देते हैं। शंकरदेव ने नामधर्म की भावना को इस गीत में चारु रूप से दर्शाया है—

राग धनाश्री

बोलहु राम नामे से मुकुति निदान।
भव वैतरणी तरणी सुख सरणी
नाहि नाहि नाम समान ॥ ध्रुव ॥
नाम पंचानन नादे पलावत
पापदंती भयभीत।
बुलिते एक सुनिते सत नितरे
नाम धरम विपरीत ॥
बचने बुलि राम धरम अरथ काम
मुकुति सुख सुखे पाइ।
सब कहु परमा, सुहृद् हरि नामा
छुटे अन्तकेरि दाइ ॥
नारद शुकमुनि राम नाम बिनि
नाहि कहल गति आर।
'कृष्णकिंकर' कय छोड़ मायामय
राम परम तत्त्व सार ॥

—बड़गीत ८

इस भक्ति पंथ में दास्य भक्ति का प्राधान्य है। भक्ति की पवित्रता तथा उपादेयता पर समधिक आदर है। माधवदेव का

कथन है कि हरि सब के हृदय में विराजमान होने पर भी कर्म पर विश्वास रखनेवाले से दूर हट जाते हैं—दूर भाग जाते हैं, परंतु श्रवण तथा कीर्तन के द्वारा भगवान् का भक्त अहंकारी होने पर भी अपने अभीष्ट को पा लेता है। माधव के शब्द बड़े स्पष्ट तथा विशद हैं—

कर्मत विश्वास यार, हियात थाकंतो हरि।
अतिशय दूर हंत तार।
दूरतो विदूर हंत तार॥
अहंकार थाकंते ओ, साक्षात् कृष्णक पावे।
श्रवण कीर्तन धर्म यार॥

—नामघोषा ६.

शंकरदेव के कीर्तनों तथा पदों में काव्यसुलभ सुषमा तथा माधुरी का अभाव नहीं है। उनके पद भक्त के भावुक हृदय के रसस्निग्ध उद्‌गार हैं। एक उदाहरण देखिए—

उपवन वर्णन

पाछे त्रिनयन दिवा उपवन देखिलंत विद्यमान।
फल फुल धरि जकमक करि आछे यत वृक्षमान॥
शिरीष सेउती तमाल मालती लवंग वागी गुलाल।
करवीर बक कांचन चंपक फलभरि मागे डाल॥
शेवाली नेवाली पलाश पारली पारिजात युति जाइ।
बकुल बंदुली आछे फुलि फुलि तार सीमा संख्या नाइ॥
कनौर कनारी कदंब वावरी नागेश्वर सिंहचंपा।
अशोक अपार देवांग मंदार मणिराज राजचंपा॥

कुंद कुरबक केतेकी टगर गंधे मोहे बहु दूर ।
गुटिमाली भेंटि रंगण रेवती मरुवा मधाइ घुसुर ॥
चंदन अगरु दिव्य कल्पतरु देवदारु पद्म वसि ।
प्रति गाछे गाछे भिंटा बाँधि आछे सुवर्ण माणिके खचि ॥
मणि मरकत स्थली नानामत दीप्ति करे तार काछे ।
महा मनोहर दीधि सरोबर तार माझे माझे आछे ॥
चारिओ कारवरे पोवाल बारवरे बंधाइ छे विचित्र करि ।
वैदूर्य्यर बाट स्फटिकर घाट मरकत खाट खरि ॥
सुवर्णकमल भेट उतपल फुलि फुलि आछे रंजि ।
शोभे चक्रवाक राजहंसजाक मृणाल मुंजे डमजि ॥
कोढ़ा कंक बक विविध चटक भ्रमंत निर्भय भावे ।
अमृत समान जल करि पान स्यजे सुललित रावे ॥
चारिओ पारत दिव्य पुष्प यत गंधे दशोदिश वासे ।
अनेक भ्रमरे वेढ़िया गुंजरे मधुपान अभिलासे ॥
यत दिवा पत्ती फल फुल भत्ति काढ़य सुस्वर राव ।
कुहु कुहु ध्वनि कोकिलर शुनि वहय मलया बाव ॥

शंकरदेव—कीर्तन

—o—

महाराष्ट्र का वैष्णव पंथ

(१) महानुभाव पंथ
(२) वारकरी पंथ
(३) रामदासी पंथ
(४) हरिदासी पंथ

समचरणसरोजं सान्द्रनीलाम्बुदाभं
जघननिहितपाणिं मण्डनं मण्डनानाम् ।
तरुणतुलसिमाला-कन्धरं कञ्जनेत्रं
सदयधवलहासं विठ्ठलं चिन्तयामि ॥

(१)

(क)

महानुभाव पंथ

महाराष्ट्र प्रांत भागवत धर्म का बहुत प्राचीन काल से मुख्य क्षेत्र बना हुआ है। यहाँ का प्रधान वैष्णवपंथ वारकरी के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी लोकप्रियता तथा विपुल प्रचार के कारण यह पंथ तो महाराष्ट्र का सार्वभौम पंथ है, परंतु इससे भिन्न एक वैष्णव पंथ और भी है जो मानभाव नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के लोगों ने अपने ग्रंथों और सिद्धांतों को इतनी कड़ाई से छिपा रखा था कि इसके विषय में भ्रांति फैलना स्वाभाविक ही है। परंतु मराठी साहित्य की विपुल सेवा करने के कारण तथा मुसलमानों के आक्रमणों से अपने धर्म की रक्षा करने के हेतु मानभावों का नाम भारत के धार्मिक इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा।

इस पंथ के भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न नाम हैं। महाराष्ट्र में इसे महात्मा पंथ तथा मानभाव (जो महानुभाव शब्द का अपभ्रंश है) पंथ कहते हैं। गुजरात में अच्युत पंथ और पंजाब में जयकृष्णि पंथ के नाम से पुकारते हैं। इस नामकरण का कारण पंथ में कृष्णभक्ति की प्रधानता है। इस पंथके वास्तविक इतिहास का पता अभी लगा है क्योंकि इसके अनुयायी अपने धर्म-ग्रंथों को अत्यंत गुप्त रखा करते थे। वे इसे अन्य मतावलंबियोंकी दृष्टि

में भी आने नहीं देते थे। इस पंथ की भिन्न-भिन्न शाखाओं ने अपने धर्म-ग्रंथ के लिए एक सांकेतिक लिपि बना रक्खी है जो शाखा-भेद के अनुसार छब्बीस हैं। अतः संयोगवश इन के ग्रंथ इतर लोगों के हाथ में भी आ जायँ तो आना न आना बराबर रहता था, क्योंकि लिपि के सांकेतिक होने से वे उस का एक अक्षर न बाँच सकते थे और न समझ ही सकते थे। परंतु इस बीसवीं सदी के आरंभ से इनका कुछ रुख बदला है; इतर लोगों ने इनके ग्रंथों को पढ़ा है और प्रकाशित किया है। स्वय लोकमान्य तिलक ने १८६६ ई० के 'केसरी' में मानभावों पर अनेक पांडित्य-पूर्ण लेख लिखे थे। परंतु इन की लिपि के रहस्य को ठीक-ठीक समझाने का काम किया प्रसिद्ध इतिहासज्ञ राजवाड़े ने और इन के ग्रंथों के मर्म बतलाने का काम किया 'महाराष्ट्र-सारस्वत' के लेखक भावेने और 'महानुभावी मराठी वाङ्मय' के रचयिता श्री यशवत देशपांडे ने। इन्हीं विद्वानों के शोध के बल पर आज इनके मत, सिद्धांत, ग्रंथ तथा इतिहास का बहुत कुछ प्रामाणिक पता चला है।

महाराष्ट्र देश में मानभावों के प्रति लोगों में बड़ी अश्रद्धा है। सबेरे-सबेरे मानभाव का मुँह देखना ही क्यों उस का नाम लेना भी अपशकुन माना जाता है। एक प्रचलित कहावत है—'करणी कसावाची, बोलणी मानभावाची', अर्थात् करनी तो कसाई की है और बोली मानभाव की। साधारण बोलचाल में मानभाव और कसाई दोनोंको एक ही श्रेणीमें रखनेमें लोग नहीं हिचकते। मानभाव गृहस्थ अपने धर्म को कदापि नहीं प्रकट करता था। वह छिप कर अपना जीवन बिताता था। बड़े-बड़े संतों की भी यही बात थी। एकनाथ, तुकाराम आदि महात्माओं की बानी

में भी मानभावों के प्रति अनादर भरा हुआ है। इस प्रकार इन का सर्वत्र तिरस्कार होता था, इन के प्रति सर्वत्र द्वेष भरा था। आज कल यह कुछ कम हुआ है, परंतु फिर भी यह है ही। इस तिरस्कार का कारण इन के इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट मालूम पड़ता है। शक की १२ वीं सदी में यह मत जनमा। श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय मत के उपास्य देवता हैं। देवगिरि के यादव नरेश महादेव और रामराय इनके गुरुओं और आचार्यों को बड़े सम्मान के साथ सभा में बुलाते थे। मुसलमानों के आने से वह समय पलट गया। मानभावों ने भी मुसलमानों के हिंदू-धर्म के प्रति किए गए छल और अत्याचार को देख कर अपने धर्म के रहस्यों को छिपाया। ये लोग मूर्तिपूजा को नहीं मानते। अतः यवनों ने इन्हें मूर्तिपूजक हिंदुओं से अलग समझा और इनके साथ कुछ रियायत की। बस, हिंदू लोग इनसे बिगड़ गए और इन्हें दग़ाबाज़ समझने लगे। श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय से संबद्ध तीर्थ-स्थानों पर ये अपना 'चबूतरा' बनाने लगे। स्त्री-शूद्रों के लिए भी संन्यास की व्यवस्था की। भगवाधारी संन्यासी से भेद बतलाने के लिए इनके संन्यासी काला कपड़ा पहनने लगे। इन्हीं सब 'अहिंदू' आचारों से हिंदू जनता बिगड़ गई और इन्हें कपटी, छली, दुष्ट तथा वंचक समझने लगी। सौभाग्य-वश यह भाव समय की अनुकूलता से पलट रहा है। इस मत का आज कल प्रचार केवल महाराष्ट्र ही में नहीं है, प्रत्युत गुजरात, पंजाब, उत्तरप्रदेश के कुछ भाग, कश्मीर तथा सुदूर काबुल तक है।

—:※:—

(ख)

पंथ के आचार्य

श्री गोविंद प्रभु

विक्रमी संवत् १२४५ के लगभग विदर्भ (वर्तमान बरार) प्रदेश में ऋद्धिपुर स्थान के समीप काठ सूरे ग्राममें श्रीगोविंद प्रभु उर्फ गुण्डम प्रभु या गुण्डोबा का जन्म हुआ। ये काण्व शाखीय ब्राह्मण थे। बचपन में इनके माता-पिता परलोकवासी हुये, तब उनकी मौसी इन्हें ऋद्धिपुर ले आयी और यहीं उनका पालन पोषण, उपनयन तथा विद्याध्ययन हुआ। इसी अवस्था में इन्हें परमार्थ सुख का चसका लगा और क्रमशः उस सुखानुभव की वृद्धि होती गयी और ये सिद्धि कोटि को प्राप्त हुये। ये भगवान् श्री कृष्ण के परम भक्त थे। पंढरपुर के वारकरी भागवत पंथ के साथ साथ या उससे कुछ पहले ही विदर्भ देश में जो महानुभाव पंथ उदित हुआ था, उसके ये ही आद्यपुरुष थे। संवत् १३४२ (=१२८५ ईस्वी) समाधिस्थ हुये।

श्री चक्रधर

श्री गोविंद प्रभु के शिष्य श्री चक्रधर हुए जो महानुभाव पंथ के प्रवर्तक कहे जाते हैं। ये गुजरात से विदर्भ देश में आये थे। गुजरात के भडौंच प्रांत के राजा मल्लदेव के प्रधान मंत्री विशालदेव नामक कोई नागर ब्राह्मण थे जिनके ये चक्रधर पुत्र हैं। राजा मल्लदेव की कोई संतान न थी। इस कारण मृत्युसमय में उन्हों ने अपना राज विशालदेव को

दे दिया। विशालदेव के पुत्र हरपाल (ये ही बाद में चक्रधर हुये) बड़े पराक्रमी थे। पिता के राजत्व में तथा उनके पश्चात् इन्होंने कई लड़ाइयाँ जीतीं। इनके दो तीन विवाह भी हुए थे। इन्होंने बड़ा ऐश्वर्य भोगा पर ऐसे ऐश्वर्य और विलास भोग से इनका जी उचटा कि माता की आज्ञा ले कर ये रामटेक की यात्रा के लिये जो निकले सो रास्ते में ऋद्धिपुर आकर ठहर ही गये। वहाँ श्रीगोविंद प्रभु के उन्हें दर्शन हुये; प्रभु के चरणों में उनकी निष्ठा हुई और सदाके लिये ऋद्धिपुर में बस गये। गोविंद प्रभु का इन पर पूर्ण अनुग्रह हुआ और उन्होंने इनका सांप्रदायिक नाम चक्रधर रखा। महानुभाव पंथ में चक्रधर श्रीकृष्ण को कहते हैं। गुरु के समान चक्रधर भी दीर्घायु थे। श्रीचक्रधर का जन्म जगुरात में हुआ था। संवत् १३२० में इन्हें भगवान् दत्तात्रेय का साक्षात्कार हुआ और तब इन्होंने संन्यास दीक्षा ली और ऋद्धिपुर लौट कर महानुभाव पंथ की स्थापना की। सं० १३२० से १३२९ तक इन ९ वर्ष में इनके इर्दगिर्द ५०० शिष्य जमा हो गये। इनमें १३ स्त्रियां थीं। इस पंथ के श्रीकृष्ण और श्रीदत्त दोनों ही उपास्य देव हुये। श्री चक्रधर ने इस पंथ को चलाकर जो लोक-संग्रह करना आरंभ किया उसमें श्री भगवद् गीता के (अ० ९ श्लोक ३२ के) "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्" इस श्लोकार्ध पर बड़ा जोर दिया था। इसके आधार पर श्री चक्रधर ने स्त्रियों और शूद्रों को संन्यास दिलाना शुरू किया। इससे उनका पंथ लोक में सर्वमान्य नहीं हुआ। संवत् १३२९ में श्रीचक्रधर बद्रीनारायण की ओर गये और फिर नहीं लौटे।

श्रीनागदेवाचार्य (सं० १२९३—१३५९)—श्री चक्रधर के पट्ट शिष्य थे। ये ही महानुभाव पंथ के मुख्य प्रचारक थे। कहते हैं 'श्रीगोविंद प्रभु का तप', चक्रधर की वेध-शक्ति और नाग-

देव की संगठन शक्ति, इन तीन शक्तियों के एकीभूत होने से ही यह संप्रदाय खड़ा हुआ।

श्रीगोविंद प्रभु, श्रीचक्रधर और श्रीनागदेवाचार्य महानुभाव पंथ के इन तीनों आचार्य महानुभावों में से किसी ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा है। श्रीचक्रधर के मुख से समय समय पर जो वचन निकले उनको उनके शिष्यों ने संग्रहीत कर रखा है। चक्रधर के शिष्य महींद्र व्यास या महीभट्ट ने 'लीलाचरित्र' नाम से एक मराठी ग्रंथ लिखा है जिसमें चक्रधर की १५०० लीलाएं वर्णित हैं। इन-लीला प्रसंगों में श्रीचक्रधर के जो वचन आये हैं उन्हें ही एकत्र करके सं० १३५५ में केशवराजसूरि ने इस संप्रदाय का एक सूत्रग्रंथ निर्माण किया जिसे 'सिद्धांत सूत्र पाठ' या आचार्य-सूत्र कहते हैं। महानुभाव पंथ इस ग्रंथ को आदि ग्रंथ मानता है। इसमें १६०६ सूत्र हैं। इस आदि ग्रंथ के अतिरिक्त यह पंथ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत को भी प्रमाण ग्रंथ मानता है। महानुभाव पथ के उपर्युक्त आदि-ग्रंथ के अनुसार चार युगों के चार अवतार माने जाते हैं। कृतयुग में हंसावतार, त्रेता में दत्तावतार (दत्त का स्वरूप एकमुखी चतुर्भुज विष्णु), द्वापर में द्वारकाधीश श्रीकृष्ण और कलियुग में श्रीचक्रधर। श्रीचक्रधर के शिष्य उन्हें श्रीकृष्ण का स्वरूप ही मानते थे और शिष्यों के साथ गुरु का वर्ताव भी विलक्षण प्रेम का होता था।

महानुभाव पंथ में स्त्री पुरुष दोनों को संन्यास दीक्षा दी जाती थी। स्त्री के रहते पुरुष के समान ही पुरुष के रहते स्त्री को भी इस पंथ में संन्यास लेने का अधिकार था।

कोई दामोदर पंडित थे उनकी पत्नी 'हिराम्बा' को पति के पहले ही वैराग्य हुआ और उसने श्रीनागदेवाचार्य से १३२६ सं०

में संन्यास दीक्षा ली। पति अब भी संसार में अटके पड़े रहे। दो वर्ष बाद संन्यासिनी ने अपने इन पूर्व पति को समझा कर चेत दिलाया। तब सं० १३३१ में दामोदर पंडित ने भी संन्यास दीक्षा ली और पहले के पति पत्नी भाई-बहन की तरह रहने लगे। इस पंथ के लोग सं० १४२० तक काषाय वस्त्र परिधान करते थे। पीछे मुसलमानों के जमाने में इन्होंने काले वस्त्र पहनना प्रारंभ किया। काले वस्त्र पहनने के कारण ये "शाहपोश" कहलाने लगे और इन्हें जजिया कर मुआफ था। अब आज कल इन काले कपड़ों को त्याग कर फिर काषाय वस्त्र पहनने का आंदोलन इन लोगों में चल रहा है।

इस पंथ के ७ ग्रंथ मुख्य हैं जो पूज्य माने जाते हैं। १—कवीश्वर भास्कर कृत शिशुपाल वध, २—इन्हीं का एकादश स्कंध (ये दोनों ग्रंथ क्रमशः सं० १३३० और १३३१ में लिखे गये।) ३—दामोदर पंडित कृत 'वत्स-हरण' (सं० १३२५) ४—नरेंद्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर' (सं० १३४५) ५—विश्वनाथ बालापुरकर कृत 'ज्ञानबोध' (सं० १३८८) ६—रवलो व्यास कृत 'सह्याद्रि वर्णन (सं० १३८६) और ७—नरोव्यास कृत 'ऋद्धिपुर वर्णन' (सं० १४२०)। ये सभी ग्रंथ मराठी भाषा में हैं। पहले तीन कृष्ण लीला परक हैं और बाकी चार सांप्रदायिक हैं।

इनके अलावे महदंबा के कुछ मंगल गीत हैं। महदम्बा नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थी और इन्हें श्रीचक्रधर से दीक्षा मिली थी। इनके दादा गुरु ने एक बार श्रीकृष्ण विवाहोत्सव की लीला करायी थी। उसमें महदंबा ने ये मंगल गीत गाये थे। महानुभाव पंथी लोग इन्हें संत मानते हैं और इनका वही मान है जो वारकरी भागवत पंथ में जनाबाई का जो इनके समकालीन

थीं। 'भावे व्यास' नामक एक संत उसी समय और हो गये हैं जिन्होंने 'पूजा-अवसर' या श्रीचक्रधर जी की दिनचर्या नामक ग्रंथ लिखा है। ये बड़े ज्ञानी और विरक्त थे।

नागदेवाचार्य के शिष्य केशवराज सूरि के अनेक ग्रंथ हैं जिनमें सिद्धांत सूत्र-पाठ और 'मूर्ति प्रकाश' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'सिद्धांत-सूत्र-पाठ' में जैसा हम पहले वर्णन कर चुके हैं श्रीचक्रधर के वचनों का सुव्यवस्थित संग्रह है और 'मूर्तिप्रकाश' में श्रीचक्रधर के रूप गुणों का वर्णन है। इस प्रकार मानभाव पंथ की साहित्यिक संपत्ति प्राचीन तथा प्रचुर है। इन ग्रंथों का अनुशीलन अब होने लगा है। आशा है कि गहरी छानबीन करने से इनके सिद्धांतों का विशेष परिचय जिज्ञासु जनों को होगा।

(ग)

सिद्धांत तथा ग्रंथ

इस धर्म के उदय का कारण यह था कि हिंदुओं में वर्ण-विद्वेष के कारण हिंदूधर्म में नाना प्रकार की कुरीतियों ने घर बना रखा था। इन्हीं को दूरकर पारस्परिक सहयोग तथा मैत्रीभाव को दृढ़ करने के लिए इस महात्मा पंथ का उदय हुआ। मत के अनुयायियों में दो वर्ग हैं—(१) उपदेशी तथा (२) संन्यासी। उपदेशी गृहस्थ हैं, वर्ण-व्यवस्था मानते हैं। इनकी विवाह शादी पंथ के भीतर तथा बाहर सजातीयों में ही हुआ करती है। संन्यास की व्यवस्था बड़ी उदार है। चक्रधर ने संन्यास त्रिवर्णियों के अतिरिक्त शूद्रों तथा स्त्रियों के लिए भी मान्य बना कर अपनी उदारता का परिचय दिया है। सनातनी संन्यासी भगवा वस्त्र धारण करते हैं, परंतु अपनी विशिष्टता बनाये

रखने के विचार से और मुसलमानों के विद्वेष से आत्मरक्षण की भावना से प्रेरित होकर मानभावी संन्यासी काला वस्त्र धारण करते हैं। ये मूर्ति बनाकर भगवान् के विग्रह की पूजा नहीं करते, परंतु अपने महात्माओं के जन्म-स्थल तथा सिद्धि-क्षेत्रों में 'चबूतरा' बाँधते हैं।

सिद्धांत—इनके उपास्य देवता श्रीदत्तात्रेय तथा श्रीकृष्ण हैं। इनके देवताओं की उपासना से स्पष्ट है कि ये भक्ति के साथ योगमार्ग को भी संमिलित करते थे। इनका सर्वश्रेष्ठ मान्य ग्रंथ भगवद्गीता है जिसके ऊपर चक्रधर से लेकर आज तक इस मत के अनुयायी लेखकों ने अपने सिद्धांतानुसार टीकायें लिखी हैं। इनकी सिद्धांत-दृष्टि द्वैतवाद की है। ये जीव तथा शिव को भिन्न तत्त्व मानते हैं। परमेश्वर स्व निर्गुण तथा निराकार होता है परंतु भक्तों के ऊपर दया से वही सगुण रूप धारण करता है। उसकी शक्ति माया है जो जीव को जीवत्व तथा निर्गुण परमेश्वर को सगुणत्व प्रदान करती है। वही जीवों से समग्र व्यापारों का विधान कराया करती है। मनुष्य इस शरीर में पूर्वकर्मों के अनुसार फल भोगता है और ये फल चार प्रकार के होते हैं—स्वर्ग, नरक, कर्मभूमि तथा मोक्ष। सामान्य-रूप से ये ही मानभावों के आध्यात्मिक मान्य सिद्धांत हैं।

आद्य ग्रंथ—गीता के अनंतर श्रीकृष्ण के लीलापरक भागवत पुराण के दशम तथा एकादश स्कंधों को भी ये पूर्ण आस्था से मानते हैं। अन्य ग्रंथ मराठी भाषा में ही निबद्ध हैं। इनमें सर्वमान्य 'सिद्धांत सूत्रपाठ' है जिसमें चक्रधर के वचनामृतों का संग्रह केशवराज सूरि ने किया है। चक्रधर ने किसी ग्रंथ की तो रचना नहीं की। उनके मुख से निकले हुए उपदेश ही इस पंथ के सर्वस्व हैं जिन्हें 'महीन्द्रभट्ट' ने 'लीलाचरित्र'

नामक चक्रधर के चरित्र में प्रसंगवश सम्मिलित किया था। इन्हीं को अलग पुस्तक के रूप में संग्रह करके इस 'सूत्रपाठ' का निर्माण किया गया है। प्रतिदिन 'सूत्रपाठ' का पाठ करना तथा अनुशीलन करना प्रत्येक मानभावी का परम कर्तव्य है। इस 'सूत्रपाठ' ग्रंथ के ऊपर एक बडा भारी साहित्य संपन्न किया गया है। 'पारिमंडल' आम्नायके मूल-पुरुष गोपाल पंडित ने इन सूत्रों की 'अन्वय व्यवस्था' लिखी है (१२४७ शक= १३२५ ई०)। परशुराम ने 'प्रकरणवश' नामक ग्रंथ में इन सूत्रों के कथन का प्रसंग लिखा है। इसी प्रकार के नाना टीका-ग्रंथों का प्रणयन इस ग्रंथ की महनीयता तथा गूढ़ार्थता को प्रकट कर रहा है।

अब तक ज्ञानेश्वर महाराज की ज्ञानेश्वरी (रचनाकाल १२१२ शक=१२६० इस्वी) ही मराठी साहित्य का सर्वप्रथम तथा प्राचीन ग्रंथ मानी जाती थी, परंतु पूर्वोक्त ग्रंथों में अधिकांश की रचना ज्ञानेश्वर से पूर्व है। अतः मराठी भाषा तथा साहित्य के उदय के लिए इनका महत्त्व अत्यधिक है। व्यावहारिक कार्य में भी मानभावी गृहस्थ शूरवीर तथा कर्त्तव्यपरायण थे। इन्होंने पंजाब जैसे यवन-प्रधान देश में अहिंसा का प्रचार किया; काबुल में हिंदू मंदिर बनाया, जिसका पहला पुजारी नागेंद्रमुनि बीजापुरकर नामक दाक्षिणी ब्राह्मण था; खास महाराष्ट्र में भी मद्यमांस के निवारण का प्रयत्न किया। इन्होंने गजनी, काबुल तक मराठी भाषा का प्रचार किया। दोस्त मुहम्मद का प्रधान विचारदास, और कश्मीर के महाराज गुलाब सिंह का सेनापति सरदार भगत सुजन राय दोनों मानभावी उपदेशी थे। अतः इन्हों ने मराठी को धर्म-भाषा अपने राज्य में बनाया था। आज भी लाहौर में बहुत से व्यापारी मानभावी हैं, जो अपने खर्चे से मानभावी

ग्रंथों का प्रकाशन भी कर रहे हैं। इस मत के महंत लोग भी अब अपने धर्मग्रंथों को, जिनकी विपुल संख्या आज भी मराठी भाषा में विद्यमान है, प्रकाशित करने की ओर अग्रसर दीखते हैं। यह मराठी साहित्य के लिए शुभ अवसर है[1]।

—०—

१ द्रष्टव्य देशपांडे का लेख; महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश भाग १८।

२

वारकरी पंथ

महाराष्ट्र में भागवत धर्म का विपुल प्रचार है। समग्र महाराष्ट्र देश का यही मान्य धर्म है। महाराष्ट्र का भागवत धर्म जो वारकरी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है पूर्ण रूप से वैदिक है। अपनी विशिष्टताओं से मण्डित हो कर यह सम्प्रदाय वहीं जन्मा, वहीं पनपा, वहीं इसने अपनी शाखाओं का विस्तार किया और आज भी पूरे देश भर में यह अपनी शीतल स्निग्ध छाया में हजारों नर-नारियों को विश्राम देता हुआ उन्हें संसार के शाप तथा ताप से मुक्त कर रहा है। समस्त महाराष्ट्रीय संत इसी मत के अनुयायी थे।

(क)

महाराष्ट्र का यह भागवत संप्रदाय पंढ़रपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल से संबद्ध है। यहीं पर ईंट के ऊपर खड़े विट्ठल जी की मूर्ति है, तथा उसके बगल में रुक्मिणी जी की मूर्ति है जो यहाँ रुखू माई के नाम से प्रसिद्ध हैं। विट्ठल कृष्णचंद्र के बालरूप हैं। आषाढ़ की शुक्ला एकादशी तथा कार्तिक की शुक्ला एकादशी विट्ठल के भावुक भक्त भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन से अपने जन्म तथा जीवन को सफल बनाने के लिये साल में कम से कम दो बार पण्ढ़रपुर की यात्रा किया करते हैं। इस यात्रा का नाम 'वारी' और इस पुण्य यात्रा के करने वालों का नाम हुआ 'वारकरी'। इसी कारण यह पंथ वारकरी के नाम से प्रसिद्ध है।

सुनते हैं कि प्राचीनकाल में महाराष्ट्र में "पुण्डरीक" नामक एक बड़े महात्मा हो गये हैं जो पण्ढरपुर में ही तपस्या करते थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान् श्यामसुंदर बालक का मनोरम रूप धारण कर उनके सामने उपस्थित हुए तब भक्त ने उनके बैठने के लिए सामने पड़ी हुई ईंट रख दी। उसी ईंट पर भगवान् बालकृष्ण खड़े हो गये और वह मूर्ति उसी बांकी झांकी के साथ आज भी खड़ी है। शंकराचार्य ने पाण्डु-रङ्गाष्टक में इनकी स्तुति करते हुये इसी घटना की ओर संकेत किया है।

महायोग-पीठे तटे भीमरथ्यां
वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं
परब्रह्म-लिङ्गं भजे पाण्डुरङ्गम् ॥

भक्त-प्रवर ज्ञानदेवने भी विट्ठलनाथकी बड़ी ही मनोरम स्तुति अपनी ज्ञानेश्वरी में की है—

जय जय देव निर्मल। निजजनाखिलमंगल॥
जन्म जरा जलद जाल। प्रभंजन ॥१॥
जय जय देव प्रबल। विदलितामङ्गल — कुल।
निगमागम द्रुम फल। फल प्रद ॥२॥
जय जय देव निश्चल। चलित चित्तपान तुन्दिल।
जगदुन्मीलना—विरल। केलि — प्रिय ॥३॥
जय जय देव निष्फल। स्फुरदमन्दानंद बहल।
नित्य निरस्ताखिलमल। मूलभूत ॥४॥

बालकृष्णरूपी विट्ठल को तुलसी बहुत ही प्यारी है। अतः भक्त लोग गले में तुलसी की माला डालकर पूर्वोक्त एका-

दशी को लाखों की संख्या में विट्ठलजी के मधुर दर्शन के लिये उपस्थित होते हैं, और जब इनके भक्तिकलित कण्ठ से 'पुण्डरीक वरदे हरि विट्ठल' मंत्र की सान्द्रमन्द्र-ध्वनि गगनमंडल को भेदन करती हुई निकलती है तब दृश्य शब्दों में वर्णन करने योग्य नहीं होता। उस समय प्रतीत होता है कि धार्मिकता की बाढ़ आ गयी हो। भक्तजनों के मनोमयूर नाचने लगते हैं। आनन्द की सरिता उमड़ पड़ती है। हरिशयनी (आषाढ़ी) एकादशी की वारी में सबसे अधिक भीड़ दर्शनार्थियों की होती है। तीन लाख से भी ऊपर भक्तजन एकत्र होकर भगवान का दर्शन करते हैं। इस दृश्य की मानसिक कल्पना भी वारकरी संतों के व्यापक प्रभाव को आज भी बतलाने में समर्थ हो सकती है।

विट्ठल शब्द की व्युत्पत्ति

भगवान् विष्णु विट्ठल या विठोबा के नाम से महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति पंडितों ने नाना प्रकार से की है। धर्मसिंधु के लेखक काशीनाथ पाध्ये के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति है:—विदा ज्ञानेन ठान् शून्यान् लाति गृह्णाति इति विट्ठलः अर्थात् ज्ञानशून्य भोलेभाले अज्ञ जनों को जो अपनाते हैं वही विट्ठल हैं। तुकाराम के अनुसार गरुड़ वाहन होने के कारण ही विष्णु विठोबा नाम से प्रख्यात हुए (विः = पक्षी, गरुड़; ठोबा = वाहन = गरुड़ वाहन) इसके समर्थन में तुकारामजी के अभङ्ग का यह चरण है:—वीचा केला ठावा। म्होणोनि नांव विठोबा॥ कोई विद्वान विट्ठल को विटस्थल का अपभ्रंश रूप मानते हैं। विटस्थल का अर्थ हैं ईंट पर खड़ा होनेवाला परंतु भाषाविज्ञान

के आधार पर विठोबा विष्णु का ही अपभ्रंश है। विष्णु का ही प्राकृत रूप हुआ विठु जिसमें प्रेमसूचक 'ल' प्रत्यय तथा आदरसूचक 'बा' प्रत्यय जोड़ने से ही क्रमशः विट्ठल तथा विठोबा शब्द निष्पन्न होते हैं। शब्द के धात्वर्थ में भले ही मतभेद हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि विठोबा कहने से पण्ढरी में ईंट पर खड़े भगवान् श्रीकृष्ण का ही ध्यान होता है। भगवान के बगल में पास ही श्रीरुक्मिणीजी विराजमान हैं जिनको भक्त लोग 'रखूमाई' के नाम से पुकारते हैं।

वारकरी-पंथ **'मालकरी-पंथ'** अथवा **'भागवत-पंथ'** के नाम से प्रसिद्ध है। वारकरी का मुख्य बाहरी चिन्ह है तुलसी की माला का धारण। जिस प्रकार बिना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण की कल्पना असंभव है उसी प्रकार कृष्ण की प्रिय तुलसी की माला बिना धारण किये कृष्ण-भक्त वारकरी की सत्ता असिद्ध है। तुलसी की माला का इस संप्रदाय में अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही यह पंथ मालकरी भी कहलाता है।

वारकरी भागवत-धर्म का पूर्ण अनुयायी है। इसका पांचरात्र सिद्धांत के साथ स्पष्ट भेद होनें पर भी विट्ठल की उपासना तथा भक्ति की मुख्यता के कारण यह निस्संदेह भागवत-धर्म है। वारकरी-पंथ चतुर्व्यूह के सिद्धांत को बिलकुल ही नहीं मानता। अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का मंजुल संमिलन वारकरी-पथ का वैशिष्ट्य है। इस पंथ के उपास्य देवता श्री पांडुरंग हैं जो श्री कृष्ण के ही बाल-रूप माने जाते हैं और इसी लिए पण्ढरपुर दक्षिण द्वारिका के नाम से प्रसिद्ध है—

> पावन पांडुरंगक्षिति। जे कां दक्षिण द्वारावती।
> जेथ बिराजे श्री विट्ठलमूर्ति। नामें गर्जती पंढरी॥

(श्री एकनाथ भागवत २९। २४३)

इस पंथ के मान्य ग्रंथ हैं भागवत और भगवद्गीता। भागवत के एकादश स्कंध के ऊपर श्री एकनाथ ने ओवी छंदोबद्ध मराठी टीका लिखी है। वह नाथ भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की पूर्ण मान्यता इस संप्रदाय में है। यह संप्रदाय अपना आदर्श यही मानता है कि अपने स्त्री, पुत्र, घरबार, यहाँ तक कि अपने प्रिय प्राणों को भी भगवान् के चरणारविंद में अर्पण कर दे तथा भगवान् के नाम का कीर्तन करता हुआ अपने जीवन को बितावे[1]। भागवत-धर्म का भी यही पूर्ण लक्ष्य है। अतः वारकरी मत को भागवत-संप्रदाय के अंतर्गत मानना नितांत उपयुक्त है।

(ख)

पंथ का उदय

इस संप्रदाय का उदय कब हुआ, इस विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। साधारण विद्वानों की यह मान्यता है कि ज्ञानदेव ने तेरहवीं शताब्दी में इस पंथ का आरंभ किया। यह सिद्धांत ठीक नहीं, क्योंकि यह संभवतः बहिणा बाई नामक तुकाराम की शिष्या के एक प्रसिद्ध अभंग के ऊपर आधारित है—

संत कृपा झाली। इमारत फला आली ॥ १ ॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया। रचियेलें देवालय ॥ २ ॥
नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार ॥ ३ ॥

१—दारासुतगृहप्राण, करावें भगवंतासी अर्पण।
हे भागवतधर्म पूर्ण, मुख्यत्वें भजन या नांव ॥
[नाथ-भागवत २।२६१]

जनार्दन एकनाथ । ध्वज उभारिला भागवत ॥ ४ ॥
भजन करा सावकाश । तुका झाला से कलश ॥ ५ ॥

इस अभंग में वारकरी मंदिर के निर्माण का बड़ा ही आलंकारिक वर्णन है जो इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं से विरोध नही खाता । परंतु यहाँ ज्ञानदेव के द्वारा पाया रखने का मतलब यह नहीं है कि उन्होंने ही इस मत का प्रारंभ किया । सच्ची बात तो यह है कि ज्ञानदेव के पूर्व ही इस संप्रदाय के भक्त लोगों की सत्ता थी परंतु ये इधर उधर बिखरे हुए थे । इन सबों को एक सूत्र में संगठित कर पंथ को सुव्यवस्था देने का श्लाघनीय उद्योग ज्ञानेश्वर ने किया और इसीलिए वे इस संप्रदाय के मान्य आचार्य हैं ।

पुण्डलीक भक्त के काल का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो सका जिससे इस पंथ के उद्गम का काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । इतना तो निश्चित है कि पण्ढरपुर में विट्ठल जी के आविर्भाव का संबंध भक्त पुण्डलीक से है । जिस प्रकार प्रह्लाद के लिए भगवान् ने नरसिंह का रूप धारण किया, उसी प्रकार पितृभक्त पुंडलीकके लिए द्वारिकाधीश श्रीकृष्णने विट्ठल का रूप धारण किया[1] । इस घटना का प्रत्यक्ष प्रमाण वारकरी भक्तों के शांति वाक्य से भी लगता है । ये भक्त विट्ठल की यात्रा करते समय 'पुंडलीक वरदा हरिविट्ठल' का जय घोष करते हैं ।

---

१ पुंडलीकाच्या भावार्था । गोकुलीहुनीं जाला येता ।
निज प्रेम भक्ति भक्तां । घ्या ज्या आतां म्हणतसे ॥
(श्री ज्ञानदेव अभंग १८४ सकल संतगाथा)

ज्ञानेश्वरी में श्री ज्ञानेश्वर जी ने विट्ठलजी की मूर्ति की ओर स्पष्ट संकेत किया है। विट्ठल जी के मस्तक के ऊपर शिवलिंग विद्यमान है, इस बात का उल्लेख उन्होंने स्पष्ट शब्दों में किया है[1]। इतना तो निश्चित है कि ज्ञानेश्वर से भी पूर्व उनके जन्म-स्थान आलंदी में विट्ठल-भक्ति का बहुत प्रचार था। हरिहरेंद्र स्वामी के मठ में १२०६ ई० का एक शिलालेख है जो ज्ञानेश्वर के जन्म से लगभग ७० वर्ष पूर्व का है। यहाँ समाधि के ऊपर विट्ठल और रुक्मिणी दोनों की मूर्तियाँ पत्थर पर खुदी हुई हैं। विट्ठल संप्रदाय का यह सबसे प्राचीन निर्देश है जिससे पता चलता है कि ज्ञानदेव के जन्म-स्थान आलंदी में विट्ठल की उपासना तथा भक्ति का विपुल प्रचार था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बारह शतक में अर्थात् ज्ञानेश्वर के जन्म से एक सौ वर्ष पूर्व इस मत का उदय महाराष्ट्र में हो चुका था।

पांडुरंग की उपासना से इस संप्रदाय का इतना अधिक संबंध है कि उसके द्वारा मत के आविर्भाव-काल का निर्णय भली-भाँति किया जा सकता है। परंतु अभी तक पांडुरंग के आविर्भाव-काल का ही निश्चय नहीं हुआ है। अवश्य ही शंकराचार्य ने अपने पांडुरंगाष्टक स्तोत्र में पुण्डरीक के लिए पांडुरंग के आविर्भाव का संकेत किया है[2]। यदि यह स्तोत्र आद्य शंकराचार्य की रचना हो तो पांडुरंग का आविर्भाव सप्तम शतक से पूर्व माना जा सकता है। परंतु इस स्तोत्र के आदि शंकराचार्य की कृति होने

---

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय १२ पद्य २१४—२१८.

२ महायोगपीठे तटे भीमरथ्यां वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानंदकंदं परब्रह्मलिंग भजे पांडुरंगम्॥
—(पाण्डुरंगाष्टक)

में आलोचकों को अभी तक संदेह बना हुआ है। सन् १२४६ ई० के एक ताम्रलेख से पता चलता है कि देवगिरि के यादववंशी नरेश 'कृष्ण' के सेनापति ने बेलगाँव जिले के अंतर्गत पवित्रस्थान 'पौण्डरीक' क्षेत्रको दान दिया था। इस क्षेत्रकी स्थिति भीमरथी नदी की तीर पर बतलाई गई है जिससे वर्तमान समय में भीमनदी पर बसे हुए पंढरपुर का एकीकरण इस स्थान से किया जाता है। 'पौंडरीक' शब्द को पुण्डरीक से बना हुआ मान कर उस भक्त शिरोमणि का समय तेरहवीं शताब्दी के पूर्व ही समझना चाहिये।

ऐसी परिस्थितियों में जब न तो भक्तवर पुण्डरीक का ही काल निश्चयरूप से निर्णीत हो सका है, और न पांडुरंग के ही आविर्भाव का परिचय हमें प्राप्त है तब हम यही कह सकते हैं कि लगभग हजार वर्ष से वारकरी संप्रदाय का प्रचलन महाराष्ट्र में है तथा तबसे कार्तिक और आषाढ़ की शुक्ला एकादशी को वारकरी भक्त श्री विट्ठल की यात्रा भक्तिनिष्ठ हृदय से करते आते हैं। इससे अधिक निश्चयात्मक रूप से इस मत के आविर्भाव के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

(ग)

संप्रदाय का अभ्युदय

वारकरी संप्रदाय की उत्पत्ति तथा पंढरपुर में श्री विट्ठल की उपासना तो १३ शता० से अर्थात् ज्ञानदेव महाराज के समय से प्राचीन है; इसका निर्णय ऐतिहासिक साधनों द्वारा ऊपर किया गया है। परंतु इस संप्रदाय को व्यवस्थित, सुगठित तथा प्रतिष्ठित करने का श्रेय श्री ज्ञानदेवजी को है। कृष्णभक्ति के

प्रचार के निमित्त ज्ञानदेव ने अपने भ्राता निवृत्तिनाथ तथा सोपान देव तथा भगिनी मुक्ताबाई के सहयोग से जो महनीय कार्य संपादित किया उसके कारण आज भी महाराष्ट्र प्रांत में अद्वैतवाद के साथ कृष्णभक्ति का मनोरम सामञ्जस्य प्रस्तुत दीखता है। प्रसिद्धि है कि इनके पिता विट्ठलपंत संन्यासधर्म में दीक्षित हो गये, परंतु अपने गुरु रामानंद स्वामी के वरदान-प्रयुक्त अत्याग्रह से फिर संसार में प्रवृत्त हुए। इन्हीं की पूर्वोक्त चार संतानें हुईं। निवृत्तिनाथ का जन्म सं० १३३० में, ज्ञानेश्वर महाराज का सं० १३३२ में, सोपानदेव का सं० १३३४ में तथा मुक्ताबाई का सं० १३३६ में हुआ था। इन चारों पुरुषों को चतुर्विध मोक्ष अथवा चतुर्विध पुरुषार्थ का ही अवतार मानना न्यायसंगत होगा। इन लोगों की गुरुपरंपरा नाथ-संप्रदाय के आचार्यों से संबद्ध मानी जाती है। गोरखनाथ के शिष्य गैनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को स्वयं कृष्णभक्ति की दीक्षा दी थी और निवृत्ति ने फिर अपने दोनों अनुजों तथा भगिनी को स्वयं दीक्षा देकर अध्यात्ममार्ग का पथिक बनाया था। निवृत्तिनाथ का कथन है[1]—प्राणियों का उद्धार जो कुछ है वह सब श्रीधर है। वह कर्मसहित ब्रह्म साक्षात् श्री कृष्णमूर्ति है। वह रूप इस भूमंडल पर सचमुच पांडुरंग रूप है जो पुण्डलीक के निर्धार से यहाँ खड़ा है।

निवृत्ति की शिक्षा में योग के साथ भक्ति का मंजुल मिश्रण था। सन्यासी की संतान होने के कारण इन चारों को

---

१ प्राणिया उद्धार सर्व हा श्रीधर। ब्रह्म हें साचार कृष्णमूर्ती।
तें रूप भीवरें पाण्डुरंग खरें। पुण्डलीक निर्धारे उभे असे॥

महाराष्ट्र, संत ज्ञानेश्वरजी

ब्राह्मणों के हाथ तिरस्कार और अनादर सहना पड़ा था, परंतु ज्ञानदेव अलौकिक सहज सिद्ध योगी थे। पैठण के ब्राह्मणों के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन लोगों ने भैंसे के मुंह से, जिस पर ज्ञानदेव ने अपना हाथ रख दिया था, ऋक्, यजु और साम के मंत्रों को विधिवत् उच्चारित होते सुना। तब इनकी अलौकिकता का पता लोगों को चला और वे इनके वास्तव रूप से परिचित हो गये। इनकी प्रसिद्धि इतनी बढ़ी कि उस समय के यशस्वी योगी चांगदेव को अपनी हार मान कर ज्ञानेश्वर के शरण आनी पड़ी। २२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने जीवित समाधि ली और उसके एक साल के भीतर ही इनके भाई तथा बहिन भी एक एक करके इस धराधाम से चले गये।

इनके ये ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—(१) भावार्थदीपिका—गीता की नितांत मौलिक ओवी छंद में निबद्ध व्याख्या जो 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी सुंदर गूढार्थ-संपन्न आध्यात्मिक व्याख्या की रचना अपने उम्र के १५वें वर्ष में ही उन्होंने की (शक १२१२)। (२) अमृतानुभव—अध्यात्म के सुंदर उपदेश। (३) हरिपाठ (४) चांगदेव पासष्टी—चांगदेव को दिये गये उपदेशों का विवरण। (५) योगवासिष्ठ टीका (६) इतर अभंग। इन में अभंगों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। ज्ञानेश्वरी मराठी साहित्य के आरम्भिक युग का महनीय ग्रंथ है जिसमें कमनीय उपमा तथा रमणीय रूपकों के द्वारा अध्यात्म के तत्त्वों का बोधगम्य विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार २२ वर्षों की अल्प आयु में अद्भुत सिद्धि दिखलाने वाले व्यक्ति को यदि संत लोग विष्णु का ग्यारहवाँ अवतार मानते हैं, तो क्या आश्चर्य?

(२) नामदेव ज्ञानेश्वर के ही समकालीन थे और अपनी भक्ति-भावना के कारण अपने समय में ही महाराष्ट्र के बाहर भी पर्याप्त रूप से विख्यात हो चुके थे। इनके पिता का नाम दामा सेठ था। और इनकी परंपरा से दर्जी की वृत्ति थी। अधिकतर पण्ढ़रपुर में ही विठोबा की उपासना करते हुए दिन बिताते थे। इनका परिवार भी बड़ा लंबा चौड़ा था परंतु गृह में आसक्ति इनकी कभी नहीं हुई। पण्ढरपुर में ही ज्ञानदेव के साथ इनका मिलन हुआ और दोनों में खूब गाढ़ी मैत्री हुई। ज्ञानदेव की समाधि के अनंतर नामदेव तीर्थयात्रा के लिये उत्तर भारत में आये और मथुरा वृंदावन में भगवान् श्री कृष्ण के लीला-स्थलों का दर्शन कर ये पंजाब की ओर निकल गये और पंजाब में इन्होंने भगवन्नाम का खूब प्रचार किया। गुरु ग्रंथ साहब में इनके ६० से भी अधिक पद में संगृहीत मिलते हैं। महाराष्ट्र में इनके मनोहर अभंग जैसे सर्वत्र प्रिय हुये उसी प्रकार पंजाब में भी उनकी मधुर वानियाँ गायी जाने लगीं।

नामदेव ने मरी हुयी गाय को जिलाया था इस प्रसङ्ग का बड़ा सुंदर वर्णन ग्रंथ-साहब में उपलब्ध होता है; । नामदेव १८ वर्ष तक पंजाब में रहे और पीछे पण्ढरपुर लौट आये और यहीं विट्ठल मंदिर के द्वार की सीढ़ी पर अस्सी वर्ष की दीर्घ उम्र में इन्होंने सं० १४०७ वि० (१३५० ई०) में अपना शरीर त्यागा। नामदेव के पदों से उनके हृदय की शुद्धता, दीनता, आत्मसमर्पण की भावना भली भाँति प्रकट होती है। इन्होंने भक्ति के राज्य में जाति पांति का कोई भी बंधन नहीं माना। सगुण भक्ति के साथ साथ निर्गुण भक्ति के आद्य प्रवर्तक होने का श्रेय नामदेव को ही दिया जाता है। इस विषय में इनकी

तुलना कबीरदास जी के साथ की जा सकती है। कबीर की बानियों के समान ही नामदेव के अभंग महाराष्ट्र जनता में भक्ति तथा ज्ञान के प्रचारक हैं तथा दम्भ और बनावटी धार्मिक आडंबर के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने हिंदी में भी विशेष कविता की है। नाभादास जी ने इनके अलौकिक चरित्र का वर्णन इन छप्पय में किया है—

बाल दसा बिट्ठल पान जाके पय पीयो
मृतक गऊ जिवाय परचो असुरनि को दीयो
सेज सलिल ते काढि पहिले जैसी ही होती
देवल उलटो देखि सकुचि रहे सबहि सोती
पँढरिनाथ कृति अनुगत्यौ छानि सुकर छाई दासकी
नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही ज्यों त्रेता नरहरिदास की ॥

ज्ञानेश्वर—नामदेव का युग महाराष्ट्र के भागवत संप्रदाय के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग में समग्र प्रदेश उदात्त भक्ति की भावना से ओतप्रोत हो गया। भक्ति का व्यापक प्रभाव समाज के निम्नतम स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक सर्वत्र जागरूक हो रहा था। जिस प्रकार ब्राह्मण-कुल में भगवद्-भक्तों का जन्म हुआ उसी प्रकार महार जैसे कुल में भी भक्ति से समुज्ज्वल दिव्य आत्माओं का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। पुरुषों में ही नहीं, प्रत्युत स्त्री जाति में भी भक्त आत्माओं का प्रादुर्भाव हुआ। प्रतीत होता था कि भक्ति के इस उत्थान-काल में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वितरण समाज के हित साधन के लिए समभाव से कर रखा है। विसोवा खेचर जैसे योगी, गोरा कुम्हार, सांवता माली, चोखा मेला (महार), सेना नाई, नरहरि

सोनार जैसे ब्राह्मणेतर संत, जनाबाई जैसी भक्त दासी, कान्हू-पात्रा जैसी वेश्या, सखूबाई जैसी साध्वी का अभ्युदय तथा पवित्र चरित्र किसी भी आलोचक को इस निष्कर्ष पर पहुँचाये बिना नहीं रह सकता कि इस युग के महाराष्ट्र के वातावरण में ही भगवान की दिव्यकला भक्ति के रूप में सर्वत्र द्योतित हो रही थी।

एकनाथ

इस युग के लगभग सौ वर्ष के अनंतर महाराष्ट्र भागवत धर्म के ऊपर अपनी दिव्य पताका फहरानेवाले भक्तराज **श्री एकनाथ** महाराज का उदय हुआ। इनका जन्म सं० १५६० वि० (१५३३ ई०) के आसपास हुआ था। मूलनक्षत्र में जन्म लेने के कारण इनके माता-पिता जनमते ही मर गये।

इनका जन्म एक उदात्त वैष्णव ब्राह्मण कुल में हुआ था जहाँ विट्ठल भक्ति की परंपरा जागरूक रूप से विद्यमान थी। इनके प्रपितामह **भानुदास** अपने समय के एक बड़े भारी वैष्णव संत थे। इन्हों ने विट्ठल जी की मूर्ति का पुनरुद्धार कर वारकरी भक्तों के साथ बड़ा भारी उपकार किया था। कहा जाता है कि विजयनगर के विख्यात महाराज कृष्णराय एक बार विट्ठल के दर्शन से इतने प्रभावित हुए कि वे इस मूर्ति को अपनी राजधानी अनागोंदी ले गये और वहीं राजसी वैभव के साथ रखा। इधर वारकरी भक्तों को बिना विट्ठल के पंढरपुर का मंदिर सूना लगता था। भानुदासजी ने अपनी भक्ति के प्रभाव से कृष्णराय को अनुकूल बनाया और ये मूर्ति को पुनः पंढरपुर ला कर भक्तों के विपुल यश के भाजन बने। अतः इन्हीं भानुदास के प्रपौत्र

एकनाथ जी के हृदय में भक्ति की तीव्र भावना के उदय होने से हमें आश्चर्य नहीं होता।

किसी आकाशवाणी को सुनकर ये देवगढ़ के निवासी जनार्दन स्वामी को अपना गुरु बनाने के लिए सं० १६०२ में पहुँचे। जनार्दन स्वामी उस समय गुरु दत्तात्रय के बड़े भारी उपासक थे और सिद्ध पुरुष माने जाते थे। इन्हीं के सपर्क में आकर एकनाथ ने मत्र दीक्षा ली और घोर तपस्या की। तपस्या में सिद्धि लाभ कर इन्होंने भारत के तीर्थों की यात्रा की। तदनतर ये अपने जन्म-स्थान पैठन लौट आये और गुरु की आज्ञा से गृहस्थ आश्रम मे दीक्षित हुये। गृहस्थ के जीवन को परोपकार के निमित्त बिताना, साधु संतों की सवा, भगवान् की पूजा अर्चा, भागवत तथा ज्ञानेश्वरी जैसे धर्म ग्रंथों का प्रवचन—इनके नित्य की दिनचर्या थी। ये क्षमा, त्याग, दया तथा संतोष के जीवित मूर्ति थे। इनके विषय में नाना प्रकार की अलौकिक घटनायें सुनी जाती हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ भागवत एकादश स्कंध की अति विस्तृत छंदोमयी व्याख्या जो भक्तों में 'नाथभागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। भगवद्भक्ति के विशद विवेचन तथा भगवान् की अलौकिक लीलाओं के वर्णन में 'नाथ भागवत' मराठी साहित्य में एक अद्वितीय ग्रंथरत्न है जिसकी प्रभा आज उतनी ही शीतल तथा अम्लान है जिस प्रकार वह उस युग में थी। इसके अतिरिक्त 'रुक्मिणी स्वयंवर' तथा 'भावार्थ रामायण' इनके मान्य तथा मौलिक ग्रंथ हैं जिनमें अध्यात्म पक्ष में अद्वैत तथा भक्ति का मनोरम विवेचन बड़ी ही सुबोध भाषा तथा चित्ताकर्षक शैली में किया गया है। इस प्रकार आदर्श भक्त का जीवन बिताकर सं० १६५६ (१६०० इ०) में एकनाथ ने गोदावरी के तट पर अपना शरीर छोड़ा।

तुकाराम

तुकाराम—वारकरी संप्रदाय को अपने अभंगों के द्वारा लोकप्रिय बनाने का समस्त श्रेय श्री तुकाराम महाराज को है जिनका जन्म एकनाथ की मृत्यु के ग्यारहवें साल पूनाप्रांत के देहू नामक ग्राम में भगवद्-भक्तों के एक पवित्र कुल में सं० १६६५ वि० में हुआ। इनके माता पिता का नाम था—कनकाबाई और बोलोजी। लड़कपन में ही इनकी दो शादियाँ कर दी गयी थीं। इनके दो भाई और भी थे, पिता ने बड़े भाई के ऊपर अपने व्यापार की देखरेख का भार रखा, पर उनकी असावधानी से सारा व्यापार चौपट हो गया। तुकाराम को इसके कारण से बहुत ही कष्ट झेलने पड़े। पारिवारिक प्रपंचोंकी आग में तुकाराम का वैराग्य-कंचन खरा उतरा। गृहस्थी से मुख मोड़कर इन्होंने भगवान से नाता जोड़ा। नाथ-भागवत का पारायण करते और भगवान् के नामस्मरण में अपना दिन बिताते। भक्ति की प्रखरता के कारण इनके मुख से अभंगों की धारा लगातार बहती। धार्मिक जगत् में इनके प्रभाव को देखकर रामेश्वर भट्ट नामक ब्राह्मण इनसे बहुत ही द्वेष करने लगा और उसकी आज्ञा से तुकाराम ने अपने अभंगों की पुस्तक को इंद्रायणी के दह में डुबा दिया। परंतु भगवत्कृपा से वह पुस्तक डूबने से बच गई। तुकाराम को पांडुरंग भगवान् का दिव्य दर्शन भी प्राप्त हुआ और इनके द्वेषी रामेश्वर भट्ट भी उनकी शरण में आए। ये शूद्र जाति के थे और ब्राह्मणों को साक्षात् देवता समझकर प्रणाम किया करते थे। छत्रपति शिवाजी भी इनके नितांत भक्त अनुगामी थे! शिवाजी इन्हें अपना गुरु बनाना चाहते थे। परंतु इन्होंने ही शिवाजी को रामदास स्वामी से मंत्र दीक्षा लेने का

उपदेश दिया। सं० १७०६ वि० [१६५० ई०] में देहावसान हो गया। तुकाराम के अभंग मराठी साहित्य के रत्न हैं तथा भक्त जनों के जीवनाधायक और स्फूर्तिदायक संबल हैं।

प्रसिद्ध संत

संतनाम	काल : शक	समाधिस्थान
निवृत्तिनाथ	११६५–१२१६	त्र्यंबकेश्वर
ज्ञानेश्वर महाराज	११६७–१२१८	आलंदी
सोपानदेव	११६६–१२१८	सासवड
मुक्ताबाई . .	१२०१–१२१६	एदलाबाद
विसोबा खेचर . .	१२३१	
नामदेव . .	११६२–१२७२	पंढरपुर
गोरा कुंभार . .	११८६–१२३६	तेर
सावता माली . .	१२१७	अरणभेंडी
नरहरी सोनार . .	१२३५	पंढरपुर
चोखा मेला . .	१२६०	पंढरपुर
जगमित्र नागा . .	१२५२	परली (बैजनाथ)
कूर्मदास . .	१२५३	लऊल
जनाबाई . .	. .	पंढरपुर
चांगदेव . .	१२२७	पुणतांबे
भानुदास . .	१३७०	पैठण
एकनाथ . .	१४७०–१५२१	पैठण
राघव चैतन्य . .	. .	ओतूर
केशव चैतन्य . .	१३६३	गुलबर्गा
तुकाराम . .	१५७२	देहू

निलोबा राय	पिंपलनेर
शंकर स्वामी	शिरूर
मल्लाप्पा	आलंदी
मुकुंद राज	आंबें
कान्होपात्रा	पंढरपुर
जोगा परनंद	बार्शी[1]

ये सब संत महात्मा कृष्णभक्ति के प्रसारक हुए। इन में बड़ा-छोटा कहना अपराध है। फिर भी इन में से चार महात्माओं ने कृष्ण-भक्ति के देवालय को महाराष्ट्र में बनाया और सजाया। पंथ की उत्पत्ति का पता नहीं, परंतु ज्ञानदेव महाराज ने इस मंदिर का पाया 'ज्ञानेश्वरी' के द्वारा खड़ा किया; नामदेव ने अपने भजनों से इस का विस्तार किया; एकनाथ महाराज ने अपने 'भागवत' की पताका फहराई और तुकाराम महाराज ने अपने अभंगों की रचना कर इस के ऊपर कलश स्थापन किया। तुकाराम की शिष्या बहिणाबाई ने अपने निम्नलिखित अभंगों में इसी बात को कितने सरल शब्दों में कहा है—

संत कृपा झाली।
इमारत फला आली ॥१॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया।
रचियेलें देवालया ॥२॥
नामा तया चा किंकर।
तेणें केला हा विस्तार ॥३॥

---

१ यह सूची प्रोफेसर शंकर वामन दांडेकर के लेख ('महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशके भाग २०, पृ० १७६) से यहां उद्धृत की गई है ।

जनार्दन एकनाथ।
ध्वज उभारिला भागवत ॥४॥
भजन करा सावकाश।
तुका झाला से कलश ॥५॥

वारकरी मत के चार उपसम्प्रदाय

वारकरी मत के चार संप्रदाय माने जाते हैं[1]—

(१) चैतन्य, (२) स्वरूप, (३) आनंद, (४) प्रकाश।

(१) **चैतन्य**—इस संप्रदाय के दो भेद हैं। पहले में 'राम कृष्ण हरि' यह ६ अक्षरों का मंत्र मान्य है तथा दूसरे में 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' यह द्वादशाक्षर मंत्र मान्य है। श्री निलोबाराय के अनुसार प्रथम चैतन्य मत के आदि प्रवर्तक श्री महाविष्णु हैं जिन्होंने हंसरूप धारण करने वाले ब्रह्मा को चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश दिया। ब्रह्मा ने नारद जी को और उन्होंने व्यासजी को इस मत का उपदेश दिया। व्यास जी ने कृपा करके **राघव चैतन्य** नामक संत को इस मत में दीक्षित किया जिसकी समाधि कल्याण गुलबर्गा के पास आज भी विद्यमान है। इनके शिष्य हुए **केशव चैतन्य** और आगे चलकर तुकाराम ने इस चैतन्य मत की शाखा को अपने उपदेशों से लोकप्रिय तथा व्यापक बनाया। चैतन्य-मत के दूसरे उप-संप्रदाय की गुरु परंपरा इस प्रकार है—

---

१ द्रष्टव्य-महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोश भाग २०, पृ० १७०—७१

यही गुरु-परंपरा ज्ञानदेव ने अपनी ज्ञानेश्वरी के अंत में दी है जिससे स्पष्ट है कि ज्ञानेश्वर महाराज इसी चैतन्य शाखा के अंतर्गत थे। आजकल बहुत से बारकरी संप्रदाय चैतन्य मत के ही अंतर्गत हैं।

(२) **स्वरूप सम्प्रदाय**—इस संप्रदाय का मान्य मंत्र यह त्रयोदशाक्षर मंत्र है—श्रीराम जय राम जय जय राम। इसमें भी दो उपसंप्रदाय हैं—(१) रामानुजी जो अपने माथे पर लाल रंग का तिलक लगाते हैं। तथा (२) रामानन्दी जो अपने माथे पर सफेद रंग का तिलक लगाते हैं। रामदासी लोगों का समावेश इसी द्वितीय रामानन्दी मत के अंतर्गत है।

(३) **आनन्द सम्प्रदाय**—इस संप्रदाय का मूलमंत्र राम अथवा श्री राम है। इसके अतर्गत नारद, वाल्मीकि, रामानंद, कबीर सेनानायी आदि भक्त माने जाते हैं।

(४) **प्रकाश सम्प्रदाय**—इसका मंत्र है—नमो नारायण। इस संप्रदाय के अनुसार इसके मूल पुरुष निर्गुण ब्रह्म से उत्पन्न

होनेवाले नारायण ही हैं। उनके बाद की शिष्य परंपरा इस प्रकार है :—

आदिनारायण—> ब्रह्मा—> अत्रि—> दत्तात्रेय—> (१) सहस्रार्जुन (२) यदु (३) जनार्दन—> एकनाथ।

(घ)

मत के सिद्धांत

(१) **विट्ठल**—वारकरी मत में सर्वश्रेष्ठ देवता पंढरीनाथ हैं जो बालकृष्ण के ही रूप हैं। इस प्रकार यह कृष्णोपासक संप्रदाय है, तथापि यह राम का भी उसी प्रकार एकनिष्ठ उपासक है। यह राम-कृष्ण दोनों को दुर्जनों के संहार करने के लिए भगवान् का अवतार मानता है। इस संप्रदाय में हरि और हर, विष्णु और शंकर दोनों का ऐक्यभाव माना जाता है। इसका निदर्शन स्वयं विट्ठलनाथ की मूर्ति है जिसके सिर के ऊपर महादेव बैठे हैं।[1] इसी लिए एकादशी के साथ सोमवार व्रत तथा शिवरात्रि का व्रत समभावेन मान्य है। तात्पर्य यह है कि इस संप्रदाय में दक्षिण भारत के शैवों और वैष्णवों के

---

१ रूप पाहतां डोलसूं। सुंदर पाहतां गोपवेषु॥
महिमा वर्णितां महेशू। जेणें मस्तकीं वंदिला॥
—श्री ज्ञानेश्वर अभंग

तुका म्हणे भक्ति साठीं हरिहर।
हरिहरा भेद नाहीं। नका करूं वाद॥
—तुकाराम

बीच प्रायः चलने वाले संघर्ष का कहीं नाम निशान भी नहीं है। कृष्णोपासक होने पर भी शिव को पूर्ण मान्यता प्रदान करने का एक ऐतिहासिक हेतु भी है। ज्ञानदेव महाराज जो इस संप्रदाय के आदिकालीन प्रतिष्ठापक थे स्वयं नाथ-संप्रदाय में दीक्षित थे और नाथ-संप्रदाय के आदि आचार्य श्री शंकर ही हैं जो 'आदि नाथ' के नाम से यहाँ विख्यात हैं। इस प्रकार वारकरी संप्रदाय धार्मिक मामलों में सदा अति उदार तथा समन्वयवादी रहा है।

(२) **भक्ति तथा अद्वैत ज्ञान**—इसकी समन्वयवादी प्रवृत्ति का दूसरा उदाहरण है अद्वैत ज्ञान तथा भक्ति का का पूर्ण सामञ्जस्य। वारकरी-पन्थ आदिसे लेकर अंत तक भक्ति-प्रधान है, परंतु उपनिषदों का 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन', आदि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित अद्वैत ब्रह्म में भी इसके संतों की पूर्ण आस्था है। तुकाराम का स्पष्ट कथन है कि श्रीहरि सर्वज्ञ व्यापक हैं। वह संसार के प्रत्येक जीवों के बीच विद्यमान है। यह जगत् विष्णुमय है, वैष्णवों का यही धर्म है। हरि के विषय में भेदाभेद मानना अमंगलकारक भ्रम है[१]। बिना अद्वैत की सिद्धि हुए शुद्ध भक्ति की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। संतों का कहना है कि स्वयं ब्रह्म पहले बनो, तब संसार की एकनिष्ठा से सेवा करो[२]। तथ्य यह है कि यह पंथ निष्काम कर्म

---

१. हरी व्यापक सर्वगत हा तंव मुख्यत्वे वेदान्त।
विष्णुमय जग वैष्णवांचा धर्म।
भेदाभेद भ्रम अमंगल॥ तुकाराम

२. आपणचि होऊनि ब्रह्म। सारिजे कृत्याकृत्याचें काम॥
मग कीजे कां निःसीम। सेवा अयाची॥
—तुकाराम

की शिक्षा सर्वतोभावेन देता है। यह पूर्ण प्रवृत्ति-मार्गी है। यह संन्यास वृत्ति का कभी उपदेश नहीं करता। एकनाथ महाराज ने इस विषय में स्पष्ट ही कहा है कि स्वयं ब्रह्मज्ञान पाकर जो संसार बंधन से मुक्त हो जाता है परंतु दीनों का उद्धार नहीं करता, अपने उपदेश तथा शिक्षा से भवताप से संतप्त मानवों का कल्याण साधन नहीं करता, उसका जीवन एकदम व्यर्थ है[1]। अतः संतों को ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मरूप बनकर जगत् में प्राणियों के भीतर अंतर्यामी रूप से विद्यमान ब्रह्म की सेवा करनी चाहिए। इस विषय का बड़ा रोचक तथा सयुक्तिक वर्णन श्री ज्ञानेश्वर महाराज ने किया है। उन्होंने 'अमृतानुभव' में एक बड़ा ही सुंदर दृष्टांत इस सामञ्जस्य की तुलना के लिए दिया है। वे कहते हैं कि "यदि एक ही पर्वत को काटकर उसकी गुफा के भीतर देवता, देवालय तथा भक्त-परिवार का निर्माण एक साथ किया जा सकता है, तो अद्वैत भाव के साथ भक्ति क्यों नहीं संभव है?[2]।" ज्ञानेश्वरी में वे इस तथ्य को आत्मानुभव का उदाहरण मानते हैं जो शब्दों के द्वारा ठीक ठीक प्रकट नहीं किया जा सकता। "साढ़े पंद्रह के सोने में अर्थात् खरे सोने में खरा चोखा सोना मिला देने पर ही उत्तम सुवर्ण तैयार होता है, उसी प्रकार मद्रूप होने पर ही मद्भक्ति उत्पन्न होती है। यदि

---

१ पावोनिया ब्रह्मज्ञान। स्वयें तरला आपण॥
न करीच दीनोद्धरण। तें मंडणपण ज्ञात्याचें॥
—नाथ भागवत

२ देव देऊल परिवारु। कीजे कोरूनि डोंगरू
तैसा भक्तीचा वेव्हारू। कां न हावा? ॥४१॥
—अमृतानुभव

गंगा समुद्र से भिन्न होती, तो उसके साथ मिलकर वह एकाकार कैसे बन जाती[1] ? इसी प्रकार भगवान् का भक्त भगवान् को अद्वैत रीति से जानकर ही उनका सच्चा भक्त बन जाता है। नामदेव ने इस संप्रदाय की महती विशिष्टता अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का मृदुल सामञ्जस्य बतलायी है। इन भक्तों की पूर्ण निष्ठा थी कि उपनिषदों का परब्रह्म ही विट्ठल के रूप में प्रकट हुआ है। ज्ञान के साथ भक्ति का योग हो जाने से इनकी वाणी में अतीव मृदुता और मधुरता आ गई है। इनका विश्वास था कि निर्गुण ब्रह्म ही नाम-रूप को ग्रहण कर भक्तों की मंगल-कामना के निमित्त इंद्रियगम्य बन गया है। नामदेव ने अनेक अभंगों के द्वारा ब्रह्मरस तथा भक्तिरस के ऐक्य का प्रतिपादन किया है। नामदेव भगवान् को लक्ष्य कर पुकार रहे हैं कि भगवन्, जल्दी आइए, पुकारते पुकारते गला सूख गया, शरीर पुलकित हो गया तथा अश्रु धाराओं से पृथिवी भींग गई। हे दीनदयालु, आने में इतनी देर क्यों कर रहे हो ? किसी भक्त के यहाँ तो नहीं फँस गये ?

> यवढा वेल का लाविला। कोण्या भक्ताने गोविला ?
> झडकरि येई गा विट्ठला। कंठ आलवितां सोकला।
> 'नामा' गहिवरें दाटला। पूर धरणिये लोटला ॥

(३) भगवद्रूप—इस पंथ को भगवान् के दोनों रूप—सगुण

---

१ साडे पंधरा मिसलावें। तें साडे पंधरेंचि हो आवें
तेविं मी जालिया संभवे। भक्ति माझी ॥५६७॥
हां गा सिंधूसि आनी होती। तरि गंगा कैसेनि मिलती
म्हणौनि मी न होता भक्ती। अन्वयो आहे ॥५६८॥
—ज्ञानेश्वरी, अ० १५

तथा निर्गुण-मान्य हैं। पूर्ण सगुणोपासक होने पर यह परमात्मा को व्यापक एवं निर्गुण-निराकार भी मानता है तथा इस निराकार ब्रह्म की प्राप्ति का साधन सगुणोपासना, नाम-स्मरण तथा भजन है। वारकरी संतों ने ज्ञान तथा भक्ति के परस्पर सहयोग तथा मैत्रीभाव पर विशेष आग्रह रखा है। एकनाथ महाराज ने भक्ति तथा ज्ञान के परस्पर संबंध की सूचना बड़े ही रोचक उदाहरणों के सहारे दी है। वे भक्ति को मूल, ज्ञान को फल, तथा वैराग्य को फूल बतलाते हैं। जिस प्रकार बिना मूल के फल उत्पन्न नहीं हो सकता और बिना फूल के फल असंभव है, उसी प्रकार बिना भक्ति और वैराग्य के ज्ञान का उदय हो नहीं सकता। भक्ति के उदर से ज्ञान उत्पन्न होता है। भक्ति ने ही ज्ञान को उसका गौरव प्रदान किया है। अतः दोनों का मञ्जुल समन्वय ही साधक के लिए अवश्यमेव संपादनीय व्यापार होता है—

> भक्ती चे उदरीं जन्मले ज्ञान।
> भक्ती ने ज्ञानासी दिधलें महिमान॥
> भक्ति तें मूळ ज्ञान ते फल।
> वैराग्य केवल तेथीं चे फूल॥

ये लोग गीता में प्रतिपादित 'स्वधर्म' के तथ्य पर पूर्ण आग्रह रखते हैं। जो मनुष्य मानव-समाज के जिस वर्ण में जिस स्थान पर वर्तमान है उसका यह नियमित धर्म है कि वह अपने नियत कार्यों का पूर्ण अनुष्ठान करे। अपना काम छोड़ दूसरे के काम को, वह कितना भी सुंदर क्यों न हो, कभी न ग्रहण करे। भगवान् के प्रति पूर्ण अनुराग के साथ उनके नाम का कीर्तन तथा भजन करना ही भक्ति का मुख्य साधन है।

(४) राम और कृष्ण—राम तथा कृष्ण को समभावेन भगवान् का अवतार मानना इस पंथ को सर्वथा मान्य है। उत्तर भारत में दोनों को प्रधान इष्ट देवता मानकर भिन्न भिन्न संप्रदायों की उत्पत्ति हुई है, परंतु महाराष्ट्र इस विषय में अपना वैशिष्ट्य पृथक् रखता है। 'नाथ भागवत' में कृष्णलीला का गायन करने वाले एकनाथ जी ने 'भावार्थ रामायण' में राम की मधुर लीला का कीर्तन किया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"जैसे बीज ही वृक्ष हुआ, सुवर्ण ही अलंकार बना, वैसे ही निर्विकार श्रीराम हा साकार हुए। सुनो, मेरा पागल प्रेम ऐसा है कि सुंदरश्याम श्रीराम ही हमारे अद्वितीय ब्रह्म हैं; और कुछ मुझे मालूम नहीं। राम के बिना जो ब्रह्म-ज्ञान है, हनुमान जी गरज कर कहते हैं कि उसकी हमें जरूरत नहीं। हमारा ब्रह्म तो श्रीराम है"।

निष्कर्ष यह है कि वारकरी पंथ में समन्वय का साम्राज्य है। जिस प्रकार राम और कृष्ण में, शिव तथा विट्ठल में, इनकी समान आदर बुद्धि है, उसी प्रकार अद्वैत ज्ञान तथा भक्ति में भी यह पूर्ण सामरस्य का पोषक है।

(५) संत तथा ग्रंथ—वारकरी संप्रदाय में अपने अनेक सिद्ध महात्मा हुए जिनमें चार मुख्य हैं—ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम। इनके अतिरिक्त अन्य महात्माओं ने अपनी वाणी तथा शिक्षा से भगवान् की भक्ति-नाम कीर्तन का प्रचुर प्रचार किया। पंथ के मान्य ग्रंथों में गीता तथा भागवत ही मुख्य हैं और इनकी व्याख्या ज्ञानेश्वरी तथा नाथ-भागवत भी उसी प्रकार आदरणीय हैं। तुकाराम के अभंग भी इस पंथ को लोकप्रिय बनाने में तथा भजन कीर्तन को जनधर्म बनाने

में विशेष कृतकार्य होने से विशेष मान्य हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण को 'अहरहः संध्यामुपासीत' का, संध्यावंदन का, नियम है, उसी प्रकार प्रत्येक वारकरी को ज्ञानेश्वर कृत 'हरिपाठ' का नित्य पाठ करना आवश्यक नियम है। इस संप्रदाय के संत ज्ञानेश्वरी तथा नाथभागवत की कथा भावुक जनता के सामने बड़े प्रेम तथा उत्साह से करते हैं। वे अपने कीर्तनों में अपने ही संप्रदाय की संत बाणी को प्रमाणकोटि से उद्धृत किया करते हैं। कुछ आलोचक इसे उन लोगों की संकीर्ण मनोवृत्ति का सूचक मानते हैं, परंतुः वस्तुतः इसमें आत्मरक्षण की भावना ही बलवत्तर है। यदि उनके वचनों का उद्धरण तथा उनकी बातों का शिक्षण जनता में न होगा, तो बहुत संभव है कि इन संतों की बानियाँ धीरे धीरे जनता से दूर जाकर लुप्तप्राय हो जाँय। इसी लिए वारकरी कीर्तनकारों का यह ढंग किसी प्रकार आक्षेप-योग्य नहीं है।

(ङ)

वारकरी पंथ का आचार

(१) **स्वधर्म पालन**—यह पथ पूर्णतया वैदिक है तथा वर्णाश्रमधर्म में पूर्ण श्रद्धालु है। अतः प्रत्येक प्राणी को अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल धर्म का आचरण करना नितांत आवश्यक है। परंतु इस भीषण कलिकाल में भक्ति से बढ़कर कोई अन्य साधन सुगम तथा सरल नहीं है। भक्ति के नौ प्रकार पंथ को मान्य है, परंतु उनमें भी नाम-स्मरण तथा कीर्तन को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(२) एकादशी व्रत—एकादशी को व्रत रखकर भगवान् का स्मरण तथा कीर्तन करने का विधान प्रत्येक वारकरी को है। नामदेव के समय से लेकर कार्तिक तथा आषाढ़ की शुक्ला एकादशी को विट्ठल जी की यात्रा सामूहिक रूप में करना भक्तों का मुख्य कर्तव्य है।[1] कुछ भक्त माघ तथा चैत्र मास की शुल्का एकादशी को वारी करते हैं। कार्तिकी एकादशी की वारी की महिमा तब बढ़ी जब भानुदास पैठणकर अनागोंदी से कृष्णराय को अनुकूल बनाकर विट्ठल की मूर्ति पुनः पंढरपुर लाने में समर्थ हुए। इसके अतिरिक्त संतों के समाधि स्थलों की भी पवित्रता मान्य होने से उनकी भी यात्रा का प्रचलन पंथ में है। नामदेव के समय से कार्तिक की कृष्ण एकादशी को ज्ञानेश्वर महाराज के जन्मस्थान 'आलंदी' की यात्रा प्रचलित हुई और इसी के समान अन्य वारकरी संतों के समाधिस्थल भी तीर्थ के समान पूत माने जाते हैं। भक्तों की मंडलियां हैं जो उक्त एकादशी को समूह बाँध कर "पुंडरीक वरदे हरि विट्ठल" का जयघोष करती हुई पंढरपुर पहुँचती है तथा चंद्रभागा में स्नान, विट्ठल का दर्शन तथा भगवान् के नाम का कीर्तन—राम कृष्ण हरि मंत्र का कीर्तन-करती हैं। देवों की एकादशी शुक्लपक्ष की होती तथा संतों की एकादशी कृष्णपक्ष की अर्थात् उन्हीं तिथियों को देवों तथा संतों के स्थानों की यात्रा संपन्न की जाती है। गले में तुलसी की माला, माथे पर गोपी चंदन का तिलक, हाथ में बाँस के टुकड़े में बँधी भगवावस्त्र की पताका, मुख में

---

१ आषाढ़ी कार्तिक विसरूँ नका मज।
सांगतसे गुज पाण्डुरंग॥
—नामदेव

'रामकृष्ण हरि' मन्त्र का जप अथवा 'पुंडरीक वरदा हरिविट्ठल' का जयघोष—वारी के लिए यात्रा करने वाले वारकरी की यही वेषभूषा है।

एकादशी व्रत की महिमा का वर्णन इन संतों ने बड़ी निष्ठा के साथ किया है। इस व्रत का पालन तुकाराम जी ने यावज्जीवन किया तथा लोगों को इसका बोध कराया। समर्थ रामदास स्वामी ने 'हरिपंचक' में कहा है कि जो हरि को पाना चाहता है वह हरिदिनी (एकादशी) करे। एकादशी व्रत नहीं है, वैकुंठ का महापंथ है—

एकादशी नव्हे व्रत। वैकुंठी चा महापंथ॥

तुकाराम ने बड़े संक्षेप में वारकरी पंथ की शिक्षा का सार कहा है—

संग सज्जनाचा उच्चार नामाचा
घोष कीर्तनाचा। अहर्निशी॥

(३) नाम कीर्तन—वारकरी संप्रदाय के आचार्यों ने लोक और परलोक दोनों के सुधारने का उपाय जनता के सामने रखा। भगवान् की प्राप्तिका सरल उपाय सगुण रूप की भक्ति है। भक्ति के नाना प्रकारों में नाम-स्मरण तथा कीर्तन को सबसे महत्व-शाली तथा प्रभावशील बतलाया गया है। तुकाराम ने स्पष्ट कहा है कि हरि का नाम ही बीज और हरि का नाम ही फल है। साधन और साध्य दोनों हरि का नाम ही है। नाम ही सारा पुण्य तथा सब कलाओं का सार है। जहाँ हरि के दास लोकलाज त्याग कर हरि कीर्तन तथा नाम स्मरण किया करते

हैं वहीं सब रस आकर भर जाते हैं। और संसार के बांध को लांघ कर बहने लगते हैं। वेद के नारायण, योगियों के शून्य ब्रह्म तथा मुक्त जीवों के परिपूर्णात्मा तुकाराम की दृष्टि में भोले भाले जीवों के लिये सगुण तथा साकार बालकृष्ण हैं—

बीज आणि फल हरी चें नाम। सकल पुण्य सकल धर्म ॥
सकलां कलांचें हे वर्म। निवारी श्रम सकलहीं ॥
जेथें हरि कीर्तन हें नाम घोष। करिती निर्लज्ज हरिचे दास।
सकल वोथंवले रस। तुटती पाश भव-बंधाचे ॥

× × ×

वेद पुरुष नारायण। योगियांचे ब्रह्म शून्य।
मुक्ता आत्मा परिपूर्ण। 'तुका' म्हणे सगुण भोलूया आम्हा।

(च)

सिद्धांत का वैशिष्ट्य

वारकरी पंथ के सिद्धांत का एकत्र प्रतिपादक यह प्रसिद्ध अभंग है जिसको तुकाराम ने शिवाजी के पास भेजा था :—

आम्ही तेणे सुखी म्हाणा विट्ठल विट्ठल मुखीं।
कंठी मिरवा तुलसी व्रत करा एकादशी ॥

अर्थात् विट्ठल के नाम का उच्चारण, कंठ में तुलसी माला का धारण और एकादशी व्रत का सेवन—ये तीन ही इस पंथ के मान्य सिद्धांत हैं। उपास्य देवता श्री विट्ठलनाथ हैं; विष्णु के सभी अवतार मान्य हैं परंतु राम-कृष्ण की मान्यता विशेषरूप से

अभीष्ट है। भगवान के सगुण तथा निर्गुण रूप एक ही हैं। ध्येय है अभेद-भक्ति, अद्वैत-भक्ति, अथवा मुक्ति के परे की भक्ति। अद्वैत का सिद्धांत इस सम्प्रदाय को स्वीकार है, परंतु इस कौशल से इस ध्येय को प्राप्त करना उचित है कि अभेद को सिद्ध करके भी संसार में प्रेम सुख बढ़ाने के लिये भेद को भी अभेद कर रखना। इस पंथ में भक्ति और ज्ञान दोनों की एकरूपता मानी गई है जिसके केंद्रस्थल में हैं स्वयं भगवान् श्रीहरि विट्ठल। संप्रदाय का मुख्य मंत्र है—राम कृष्ण हरि। यह सम्प्रदाय चैतन्य संप्रदाय के समान युगल उपासना में कृष्ण के साथ राधा को सम्मिलित नहीं करता बल्कि उसके स्थान में रुक्मिणी को महत्त्व देता है। इसका यह सुपरिणाम हुआ कि महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्तिका नितात समुज्ज्वल तथा उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है और यहाँ उस विकृत रूप का दर्शन नहीं होता जो उत्तर भारत के कतिपय प्रांतों में अश्लीलता की कोटि तक पहुँच कर भावुकों के चित्त में उद्वेगजनक होता है।

महाराष्ट्र का यह वैष्णव संप्रदाय नितांत लोकसंग्रही है। इसकी भक्ति उस व्यक्ति की भक्ति के समान नहीं है, जो एक ओर इतना आसक्त हो जाता है कि न तो संसारकी ओर वह दृष्टि रखता है और न संसार उसक जीवन या उपदेश से शिक्षा ग्रहण करता है। अध्यात्म तथा व्यवहार–इन दानो की व्यवस्था तथा संतुलन करने में जो उपासक संप्रदाय जितना ही समर्थ है जनता की दृष्टि से उसका महत्त्व उतना ही अधिक होता है। चैतन्य तथा वल्लभ संप्रदाय की उपासना के ऊपर आलोचक लोग यह दोष लगाया करते हैं कि उन्होंने भगवान के लाकानुरंजन रूप के प्रति इतना आग्रह दिखलाया कि उनका लोकरक्षक तथा लोकसंग्रही रूप जनता के नेत्रों से ओझल हो गया। यह आरोप अनेक अंश में ठीक है।

इन संप्रदायों में बालकृष्ण की उपासना का इतना प्राधान्य हो गया कि गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण की कथा लोगों के कानों तक न पहुँच सकी। यह आरोप महाराष्ट्र के भागवत संप्रदाय पर कथमपि नहीं किया जा सकता; क्योंकि इसने बालकृष्ण की भक्ति के साथ साथ कृष्ण के उपदेशों तथा उनके मंगलकारी स्वरूप की ओर भी अपना ध्यान दिया है।

—:※:—

(३)

रामदासी पंथ

वारकरी संप्रदाय के साथ ही साथ महाराष्ट्र में रामदासी पंथ की भी वैष्णव संप्रदाय के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि है। इसकी स्थापना छत्रपति महाराज शिवा जी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास ने की। स्वामी जी अपने समय के महान् विभूति थे, तथा उन्होंने शिवा जी को धार्मिक उपदेश देकर महाराष्ट्र प्रदेश में राजनीति को धर्मप्रवण बनाया था। स्वामी जी की शिक्षा तथा उपदेश का ही यह शोभन परिणाम था कि शिवा जी के मन में सनातनधर्म के ऊपर अवलंबित हिंदूराष्ट्र की स्थापना का विचार जागृत हुआ और उन्हों ने उस विचार को कार्यरूप में बड़ी योग्यता से परिणत कर दिखाया। संसार के दुःख प्रपंच से घबरा कर निवृत्ति में ही सुख का मार्ग बतलाने वाले बहुत से महात्मा मिलेंगे, परंतु पात्रापात्र का विशद विचार कर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों के यथायोग्य सम्मेलन पर जोर देने वाले संतजन कम ही दीखते हैं। स्वामी रामदास जी इस दूसरे प्रकार के महात्माओं में अग्रगण्य थे। अतः इस रामदासी सम्प्रदाय का मुख्य अंग समाज की ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों तरह की उन्नति करना है। स्वयं स्वामी जी ने हरिकथा निरूपण, राजकारण तथा सावधानीपना को अपने सम्प्रदाय का मुख्य लक्षण बतलाया है। प्रयत्न, प्रत्यय और प्रबोध—इन्हीं तकारादि तीन शब्दों में रामदास के उदात्त जीवन तथा बहुमूल्य ग्रंथों का सार है।

(क)

रामदास

स्वामी रामदास के पिता का नाम सूर्याजी पंत तथा माता का रेणुकाबाई था। सं० १६६५ वि० चैत शुक्ल नवमी के दिन ठीक रामजन्म के समय इस महापुरुष का जन्म हुआ। इस प्रकार इनका तथा तुकाराम का जन्म एक ही संवत् मे होने से ये दोनों समकालीन संत रहे। बाल्य-काल का नाम था नारायण। बारह वर्ष की अवस्था में विवाह-मण्डप में वर-वधू के बीच अंतःपट डाल कर जब ब्राह्मण लोग मंगलाचरण पाठ के अनंतर 'शुभ लग्न सावधान' की गंभीर घोषणा करने लगे, तब रामदास जी सचमुच ही सावधान होकर वहाँ से ऐसे भागे कि बारह वर्ष तक लोगों को पता ही न चला कि कहाँ गये। इस बीच में इन्होंने कठोर पुरश्चरण किया और अपनी तपस्या के बल पर भगवान् श्री रामचंद्र का साक्षात्कार किया। भारतवर्ष के समग्र तीर्थों का भ्रमण किया। इसी प्रसंग में ये काशी भी पधारे थे। बारह वर्ष तक तीर्थ-यात्रा करने के अनंतर इन्होंने सं० १७०१ के वैशाख मास में कृष्णानदी के तट पर अपना निवास स्थिर किया। दूसरे वर्ष से इन्होंने रामनवमी का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाना आरंभ किया। सं० १७०६ में (१६५० ई०) चाफल के समीप शिंगणवाड़ी नामक स्थान में रामदास ने शिवाजी को शिष्य रूप में ग्रहण किया और रामचंद्र के त्रयोदशाक्षर मंत्रका उपदेश किया। सं० १७१२ (१६५६ ई०)में शिवाजी महाराज सतारे में थे तब श्री समर्थ भिक्षा माँगते हुये राजद्वार पर पहुँचे। शिवाजी ने इनकी झोली में अपनी समग्र संपत्ति

तथा राज्य को एक पत्र में लिखकर डाल दिया तथा स्वयं भी उनके साथ झोली लेकर भिक्षाटन के लिये निकल पड़े। परंतु स्वामी जी के समझाने बुझाने पर शिवाजी ने राज्य का कार्य पुनः संभाला और शासन-कार्य में तथा अपने जीवन में जो निष्ठा, जो दीन-सेवा, जो गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन संपन्न कर दिखलाया वह भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित है।

सं० १७०८ (=१६५१ ई०) में स्वामी जी ने पंढरपुरकी यात्रा की थी जिसमें उनकी भेंट अपने समय के दूसरे वारकरी भक्त श्रीतुकाराम जी के साथ हुई। सं० १७३१ (=१६७४ ई०) में शिवा जी राज्याभिषेक होने पर स्वामी जी के पास सज्जनगढ़ में आये तथा लगभग डेढ़ महीनों तक वहीं निवास किया तथा दरिद्रों को खिलाया। इसके पाँच वर्ष बाद सं० १७३६ (=१६७९ ई०) में दोनों की अंतिम भेंट हुई और इसी समय समर्थ जी ने छत्रपति शिवाजी को उनकी निकट भविष्य में होने वाली मृत्यु की सूचना दी और यह घटना अगले वर्ष चैत्र के महीने में हुई। स्वामीजी ने राम, सीता, लक्ष्मण तथा हनुमान की मूर्तियाँ तंजोर से बनवा कर सज्जनगढ़में स्थापित की। शिवा जी की मृत्यु के लगभग एक डेढ़ साल बाद सं० १७३८ माघ वदी नवमी (=१६८१ ई०) को श्रीरामदास जी ने श्रीरामचद्र की मूर्ति के सामने ७३ वर्ष की आयु में महाप्रयाण किया।

स्वामी जी तथा छत्रपति शिवाजी के परस्पर प्रथम मिलन की घटना कब घटी? इस विषय में मराठी इतिहासकारों में कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। परम्परागत मिलन का समय १६४९ ई० माना जाता है, परंतु कतिपय इतिहासवेत्ता १६७२ ई० में ही दोनों में प्रथम मिलन की बात मानते हैं। इस विषय में गंभीर आलोचन के अनंतर प्रोफेसर रानाडे साहब

परम्परागत मत को ही ठीक मानने के पक्ष में हैं[1]। सं० १७३८ (सन १६७८ ई०) में लिखित एक सनद में शिवाजी ने स्वामीजी के साथ अपने पूरे संबध तथा सहयोग का पूर्ण विवरण दिया है जिसके अध्ययन से मालूम पड़ता है कि चाफड़ में राममंदिर की प्रतिष्ठा के समय से ही दोनों का संबंध आरंभ होता है। फलतः मिलन तथा उपदेश की परंपरागत तिथि ही उचित तथा इतिहास-सम्मत है। अतः शिवाजी के जीवन में राष्ट्रीय चेतना तथा धार्मिक भावना की स्फूर्ति करने में निःसंदेह स्वामी रामदास जी का हाथ रहा है।

(ख)

स्वामी रामदासजी का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'दासबोध' है जिसे हम इनकी आध्यात्मिक आत्मकथा कह सकते हैं। समर्थजी ने किन उपायों का अवलंबन कर संसार के बंधनों से मुक्त कर अध्यात्म-मार्ग में उन्नति की तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति की; इसका बोधक सुबोध छंदों में निबद्ध यह 'दासबोध' ग्रंथ है। इन्होंने मनोबोध, करुणाष्टक, आत्माराम आदि अन्य ग्रंथों की भी रचना की है।

रामदास स्वामी ने भगवान् रामचंद्र को अपना उपास्य देव मानकर 'रामदासी संप्रदाय' की स्थापना की। इस पंथ के साधु बड़ा ही सीधा तथा साधु जीवन बिताते हैं। 'रघुपति राघव राजा राम पतित-पावन सीताराम' की जय ध्वनि करते हुए ये मधुकरी माँग कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं तथा जनता के बीच विमल भक्ति का प्रचार करते हैं। वारकरी संप्रदाय पूर्ण

१ प्रोफेसर रानाडे—मिस्टिसिजम इन महाराष्ट्र, पृ० ३६५–३६६

रूप से निवृत्तिपरक है, परंतु रामदासी संप्रदाय में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों का यथानुरूप मिश्रण है; यही इसकी विशेषता है। ये ब्रह्मज्ञान तथा कर्मकाण्ड दोनों के साथ रामभक्ति को संपुटित कर अपने पंथ का साधनामार्ग प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी ने निष्काम कर्मयोग के उच्च आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखलाया। अपने मनोबोध श्लोकों में इन्होंने बड़े ही सुबोध शब्दों में मन को चेतावनी दी है कि रे मन, तुम्हें बहुत ही जन्मों के पुण्य के फल से यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है। इसे तू संसार के झूठे प्रपंचों में मत लगाओ, अपि तु 'हरे राम' जैसे सीधे मंत्र का जप सदा करता जा। अंत समय का विश्वास क्या? कफ के मारे कंठ रूँध जाने पर 'हरे राम' का जप ही तो सहायता करेगा तेरा?

> तुला हि तनू मानवी प्राप्त झाली
> बहू जन्म पुण्यें फला लागि आली।
> तिला तू कसा गोंविसी विषयीं रे
> 'हरे राम' हा मंत्र सोपा जपा रे॥

(ग)

रामदास की शिक्षा

स्वार्थ और परमार्थ के परस्पर सहयोग का मार्ग किस प्रकार निश्चित किया जा सकता है? इसका विवेचन संतों के उपदेशों में किया जाता है। स्वामी रामदास जी ने भी इसका वर्णन दासबोध में बड़े विस्तार के साथ किया है। वे अध्यात्म-शास्त्र से जितने परिचित थे, उतने ही वे व्यवहार के भी मर्मज्ञ थे।

तभी तो उन्होंने शिवाजी के द्वारा महाराष्ट्र में हिन्दूधर्म के उत्थान का कार्य सुचारुरूप से संपन्न किया। एक सच्चे संत के समान श्रीसमर्थ ने वर्णाश्रम धर्म पर पूरी अवस्था प्रकट की है। उनका आग्रह है कि प्रत्येक प्राणी को अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार विहित कर्मों का अनुष्ठान करना नितांत आवश्यक है। ब्राह्मणों के उच्च सात्त्विक-जीवन को उन्होंने बहुत ही महत्त्व दिया है। स्वधर्म करते हुए भगवान् के चिंतन तथा ज्ञान से ही साधकको मुक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य को समस्त सांसारिक विषयों का परित्याग करके अपनी दृष्टि और विचारों का इतना अधिक विस्तार करना चाहिये कि अपने समेत सारा संसार ब्रह्ममय दिखाई पड़ने लगे और अपनी आत्मा में, लोगों के आत्मा में और उस विश्वात्मा में किसी प्रकार का भेद न रह जाय।

श्री समर्थ का आदेश है कि गृहस्थाश्रम में ही रहकर लोग परमार्थ का अधिक से अधिक साधन करें, क्योंकि संसार के सभी लोग त्यागी, विरक्त और वीतराग नहीं हो सकते। इन्होंने गृहस्थाश्रम को इहलोक तथा परलोक के साधन का मुख्य आधार बतलाया है। वे पाखंडियों से सचेत होने की शिक्षा देते हैं तथा सच्चा त्यागी बनने पर आग्रह दिखलाते हैं। श्री समर्थ ने आचार और विचार दोनों की शुद्धता पर अधिक जोर दिया है। ज्ञान की सबसे अधिक महिमा बतलाई गई है, क्योंकि आचार और विचार दोनों की शुद्धि इसी से होती है और इस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय उन्होंने गुरु की प्राप्ति तथा सेवा बतलाया है।

दासबोध में परमात्मा तथा उससे उत्पन्न सृष्टि का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया गया है। वह निराकार ब्रह्म किस प्रकार साकार रूप धारण करता है? इसका विवेचन समर्थजी ने रोचक उदाहरणों के सहारे किया है। इस परमात्मा को प्रसन्न करने का

सुगम मार्ग है भक्ति। श्रीसमर्थ ने मेघ से होने वाली वृष्टि का उदाहरण देकर बड़ी युक्ति से समझाया है कि संसार के लोगों की सेवा करने में ईश्वर प्रसन्न होता है । भगवान् की कृपा से मनुष्य का यह दुर्लभ शरीर हमें प्राप्त हुआ है। इसका प्रधान उद्देश मनुष्य को संसार के बंधन से मुक्त करना है। यदि जीव अपने शरीर का दुरुपयोग करता है तो वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है। रामदास जी के आराध्य देव श्रीरामचंद्र जी हैं जिनकी दास्यभाव से उपासना इस मत को मान्य है। इसी लिये समर्थ जी हनुमान् जी के अवतार माने जाते हैं।

(४) **हरिदासी मत** —पंढरपुर के श्री विट्ठल जी की उपासना केवल वारकरी संप्रदायमें ही मान्य नहीं है, अपि तु तैलंगदेश तथा कर्णाटक प्रांत के संतों तथा भक्तों के भी ये ही उपास्य देव माने जाते हैं। १३ वीं शती में विजयनगर के सम्राट कृष्णदेव राय ने पंढरपुर की यात्रा की थी । मूर्ति के रूप से इतने आकृष्ट हुए थे कि वे इसे बड़ी पवित्रता से उठाकर अपनी राजधानी में ले गये थे। किस प्रकार इस मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा पंढरपुर में श्री एकनाथ जी के प्रपितामह भानुदास जीके द्वारा की गई ? इसका उल्लेख हमने गत पृष्ठों में किया है। यहाँ इसके उल्लेख का यही तात्पर्य है कि पंढरपुर केवल महाराष्ट्र देश के ही संतों का उपासनाक्षेत्र नहीं था, प्रत्युत दक्षिण भारत के भी संत महात्मा यहाँ जुटते थे तथा भगवद्भजन में लीन रहा करते थे। कर्णाटक देश के बहुत से संत जो हरिदासी नाम से विख्यात हैं विट्ठल जी को अपना उपास्य-देव मानते थे। ये हरिदासी संत मध्वाचार्य के द्वैत-संप्रदाय के अंतर्भुक्त थे। इनमें से सबसे प्रसिद्ध हुए पुरंदर-दास (सं० १५४१–१६२१) जिनका काव्य भक्ति भावना से ओत-प्रोत होने से नितांत सरस तथा अत्यन्त लोकप्रिय है।

इनके अतिरिक्त विजय दास, जगन्नाथ दास तथा कनकदास की गणना हरिदासी संतों में विशेष रूप से की जाती है। ये लोग बाह्य-पूजा विधानों से उदासीन रहा करते हैं और इनका अधिक झुकाव निवृत्ति मार्ग की ओर है। आध्यात्मिक जीवन केवल इने गिने व्यक्ति के लिये ही अनुकूल नहीं है, बल्कि उसके अधिकारी जनसाधारण भी माने जा करते हैं। ये संत कर्णाटक देश के हैं। ये विट्ठल के अनुयायी होने के अतिरिक्त तिरुपति के वेङ्कटेश तथा उडुपी के कृष्ण के भी उपासक हैं।

(५) *गुजरात में वैष्णव धर्म*

गुजरात प्रदेश में द्वारिका और डाकोरजी ये दो मुख्य वैष्णव पीठ हैं। अतः वैष्णव धर्म का यह भी एक महनीय प्रदेश है परंतु यहाँ वैष्णव-धर्मका प्रचार कब हुआ ? इसका निर्णय ठीक २ नहीं हो सकता। गुप्त-युग में जब समग्र उत्तर भारत में वैष्णवता की लहर प्रवाहित हो रही थी यह प्रदेश भी उससे अछूता नहीं बच सका। वल्लभी के राजा ध्रुवसेन का ५२६ ई० में एक शिलालेख मिलता है जिसमें वह अपने को परम भागवत के नाम में अभिहित करता है। दशम शतक में वैष्णव धर्म का प्रचार गुजरात तथा सौराष्ट्र में भली भाँति था। कृष्ण की उपासना का निर्देश करने वाला पहला शिलालेख १२९२ ई० का मिलता है जिसमें बघेल शारंगदेव राजा के एक अधिकारी ने एक मंदिर में कृष्ण पूजा के निरंतर होने के लिए कुछ दान दिया है। १३ वें शतक में गुजरात वैष्णव धर्म का एक प्रधान प्रांत माना जाने लगा, क्योंकि द्वारिका तथा डाकोर जी इन दोनों वैष्णव तीर्थों की ख्याति इस समय पूर्ण रूप से फैल गई। द्वारिका जी में भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति है और स्थान के महत्त्व से आकृष्ट होकर आद्यशंकरा-

चार्य ने अष्टम शतक में ही अपना एक पीठ यहीं स्थापित किया था। डाकोर में रणछोड़ राय जी के वर्तमान विशाल मंदिर का निर्माण १७७२ ई० में पेशवा के एक बड़े अधिकारी गोपाल यदुनाथ तांबेकर ने किया था।

मध्ययुग में यहाँ भक्ति के प्रचुर प्रचार का श्रेय दो गुजराती कवियों को दिया जाना चाहिए—नरसी मेहता तथा मीराँबाई को। नरसिंह मेहता के उदयकाल में आलोचकों में अभी मत-भेद बना हुआ है। अधिकांश लोग इनका जन्म १४७० विक्रमी (= १४१४ ई०) मानते हैं और इस प्रकार ये वल्लभाचार्य जी से प्राचीन माने जाते हैं। नरसी मेहता की अधिकांश कविता राधाकृष्ण की ललित लीलाओं को आश्रित कर लिखी गई हैं और वे विशुद्ध प्रेम का कमनीय चित्रण प्रस्तुत करती हैं। ये गुजराती भाषा के सब से प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय वैष्णव कवि हैं जिन्होंने अपनी कविता के द्वारा श्रीराधाकृष्ण की विमल भक्ति का प्रचुर प्रचार गुजरात देश में किया। मीराँबाई तो मेवाड़की रहने वाली थीं, परंतु अंत समय में उन्होंने द्वारिकापुरी को ही अपनी दिव्य भक्ति का प्रचार क्षेत्र बनाया। मीराँ के समय से पहिले वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी की कृपा तथा अश्रांत उद्योग से पुष्टि-मार्ग का प्रचार यहाँ हो चुका था और समस्त देश भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति से आप्यायित हो चुका था। आज गुजरात में वैष्णव धर्म की वैजयंती फहराने का श्रेय गोसाईं जी को दिया जाना चाहिए जिन्होंने अपने कर्मठ जीवन में छः बार गुजरात की यात्रा पुष्टिमार्ग के प्रचार के लिए की।

आजकाल गुजरात में एक अन्य वैष्णव धर्म का भी विपुल प्रसार है जो **श्री स्वामी नारायण पंथ** के नाम से विख्यात है। इस मत के संस्थापक श्रीस्वामी नारायण जी का जन्म १८२७

वि० (=१७८१ ईस्वी) में अयोध्या के पास 'छपिया' ग्राम में एक सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में हुआ था। पिता का नाम था धर्मदेव जी तथा माता का भक्तिमती देवी और इनका भी बाल्यकाल का नाम था घनश्याम। १२ वें वर्ष में ही पिता के देहावसान के अनंतर ये 'नीलकण्ठ वर्णि' नाम रखकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े और 'पीपलाणा' नामक स्थान पर उद्धव के अवतार श्री रामानंद स्वामी से १८५७ विक्रमी में बीस साल की उम्र में वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की। अगले ही वर्ष इनके गुरु ने जेतपुर नगर की गद्दी पर अपने अधिकारी के रूप में इन्हें अभिषिक्त किया। १८८६ विक्रमी में ४९ वर्ष की आयु में इन्होंने अपना लीलासंवरण किया।

इस पंथ का संबद्ध श्री विशिष्टाद्वैत मत से है। अतः इनके सिद्धांतों के ऊपर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से अनुमित किया जा सकता है। श्रीस्वामी जी का 'शिक्षापत्री' नामक संस्कृत में निबद्ध ग्रंथ इनकी शिक्षाओं तथा उपदेशों का सार प्रस्तुत करता है। दूसरे ग्रंथ 'वचनामृत' में सांख्य, योग तथा वेदांत के सिद्धांतों का समन्वय है। 'शिक्षापत्री' में इन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन संक्षेप में किया है—

> मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
> तत्र ब्रह्मात्मना कृष्ण-सेवा मुक्तिश्च गम्यताम्॥

अर्थात् विशिष्टाद्वैत मेरा सिद्धांत है। गोलोक मेरा अभीष्ट धाम है। ब्रह्म रूप से श्रीकृष्ण की सेवा तथा मुक्ति ही मेरा लक्ष्य है। भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वांतर्यामी पुरुषोत्तम हैं। वे कल्याण-गुणगण-विशिष्ट हैं। ज्ञान, शक्ति आदि छः गुणों से युक्त होने के कारण वे भगवान् कहलाते हैं तथा क्षर-पुरुष

तथा अक्षर पुरुष दोनों से परे हैं। इन्हीं की दृढ़ निष्ठापूर्वक सेवा करने से भक्त की अभिलाषा-पूर्ति होती है। देवनिंदा, अहिंसा आदि एकादश दोषों का परिहार कर श्री पुरुषोत्तम के शरणापन्न होना ही जीवन का परम कर्तव्य है। अतः यह भी श्री कृष्णभक्ति का प्रचार करने वाला ही वैष्णव पंथ है जिसने गुजरात के निवासियों में वैष्णवता का प्रचुर प्रचार किया है—

स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भाव–कारणम् ॥

—शिक्षापत्री

गुजरात के परमभागवत कवि नरसी मेहता का वैष्णव भक्त के लक्षण का प्रतिपादक यह पद महात्मा गांधी जी की कृपा से भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया है—

वैष्णव जण तो तेणे कहीये जे पीर पराई जाणे रे।

—०—

(१२)

वैष्णव साधना

(१) वैष्णव दर्शन की विशिष्टता
(२) साम्य और वैषम्य
(३) पंचधा भक्ति
(४) गोपी भाव
(५) रस साधना
(६) उपासना तत्त्व

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ॥

—गीतगोबिन्द

(१)

वैष्णव दर्शन की विशिष्टता

भारतवर्ष की साधना-प्रणाली में वैष्णव धर्म की एक अपनी विशिष्टता है। साधना ही किसी धार्मिक संप्रदाय का मेरुदण्ड है। साधना के वैशिष्ट्य से ही संप्रदाय-विशेष का वैशिष्ट्य संपन्न होता है। वैष्णव धर्म की मूल तात्त्विक भावना की मीमांसा उसके वैशिष्ट्य के अनुशीलन के लिए नितांत आवश्यक है। उपास्य देवता की विभिन्नता को किसी संप्रदाय-विशेष की भिन्नता का कारण मानना वस्तुतः न्यायसंगत नहीं है। शिव को उपास्य-देव मानने के कारण ही कोई संप्रदाय 'शैव' माना जाय तथा विष्णु को उपास्य देव मानने के ही हेतु कोई मत 'वैष्णव' समझा जाय; यह पार्थक्य का पूर्ण तथा सयुक्तिक हेतु नहीं है। उनके तत्त्वविषयक सिद्धांत की विषमता ही उनके पार्थक्यका सबल हेतु माना जाना चाहिए।

(१) शैव तथा वैष्णव मतोंमें जीवकी कल्पना में पर्याप्त अंतर है। शैव दर्शन के अनुसार जीव वस्तुतः शिव ही है, परंतु त्रिविध मल के कारण वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वकर्तृत्व तथा सर्वज्ञत्व से वंचित होकर अल्प-शक्तिमान्, किंचिज्ज्ञ तथा किंचित्कर्तृमान् ही बन जाता है। जीव की शक्ति को परिच्छिन्न करने वाला दोष 'आणव मल' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। आणव मल के कारण ही जीव विभु के स्थान पर अणु बन जाता है। अपरिच्छिन्न शक्ति के स्थान पर केवल परिच्छिन्न

शक्ति का पात्र बन कर संसार के कार्यों में वह व्यापृत रहता है। दीक्षा के द्वारा ही जीव इस मल से नितान्त मुक्त होकर शिव के साथ ऐक्यभाव को प्राप्तकर अपने लक्ष्य साधन में कृत-कार्य होता है। शैवतंत्र के अनुसार मुक्त जीव शिव ही है, वह स्वतंत्र है, क्रिया और ज्ञान का वह एक ही अभिन्न आधार है। स्वातंत्र्य के साथ कर्तृत्व की कल्पना नितांत संश्लिष्ट है। स्वतंत्र वही होता है जो कर्ता हो, क्रियासंपादन की योग्यता रखता हो। स्वतंत्रः कर्ता। इस प्रकार मुक्त जीव केवल ज्ञान-रूप ही नहीं होता, प्रत्युत वह कर्ता भी होता है। शैव कल्पना में जीव स्वतंत्र है; उसके रूप को परिच्छिन्न बनाने वाली अणुता केवल मलरूप ही होती है।

परंतु वैष्णव मत में जीव का अणुभाव नैसर्गिक है। जीव सदा ही अणु है, परिच्छिन्न है। जीव सदा ही अंश है, अंशी रूप भगवान् के सर्वदा अधीन है। भागवत मत का यही मौलिक सिद्धांत है कि भगवान् स्वामी, विभु तथा अंशी है तथा जीव सर्वदा ही दास, अणु तथा अंश है। जीवका अणुत्व किसी भी दशा में निवृत्त नहीं होता। संसारी दशा में तो वह अशुद्ध मन, प्राण, देह आदि के बंधनों से बद्ध रहता ही है, मुक्तदशा में वह इन बन्धनों से तो मुक्त अवश्य हो जाता है, तथापि उसके अणुत्व की निवृत्ति उस समय में भी नहीं होती। द्वैतवादी माध्व मत में तो मुक्त दशा में भी स्पष्टतः जीवों में तारतम्य का सिद्धांत मान्य है। संसार-दशा के समान मुक्ति-दशा में भी जीवों में परस्पर तारतम्य विद्यमान रहता है और वह भगवान् से पृथक् सत्ता ही धारण करता है। माध्व मत में मुक्त पुरुषों की आनंदानुभूति में भी तारतम्य होता है। सब मुक्त पुरुष एक समान ही आनंद का अनुभव नहीं करते। द्वैतवादी के समान

इतना दूर न जाने पर भी जीव के अणुत्व की सत्ता में प्रत्येक वैष्णव संप्रदाय का आग्रह है। मुक्त दशा में जीव अपनी पृथक् सत्ता बनाये हुए ही रहता है। मुक्ति के किसी प्रकार में भी उसके अणुत्व की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार राजा का प्रिय सेवक राजमहल में पहुँच कर सब सुखों को भोगता है, परंतु स्वतंत्र रूप से नहीं, अपि तु राजा के परतंत्र रूपसे ही। वह सब वैभव का उपभोग करता है परंतु दास्यत्वेन, स्वामित्वेन नहीं। जीव का यह अधीनभाव स्वभाव ही है। इस स्वभाव की निवृत्ति न तो संसारी दशा में होती है और न मुक्ति दशा में। तथ्य यह है कि भक्ति संप्रदाय में अत्यन्त अल्प मात्रा में ही सही द्वैत भाव अवश्यमेव विद्यमान रहता है। इस प्रकार शैव मत जहां स्वातंत्र्य के ऊपर आश्रित है, वहां वैष्णव मत पारतन्त्र्य के तथ्य पर अवलंबित है। दोनों में यह मौलिक भेद ध्यान देने योग्य है।

(२) शैवमत की तुलनामें वैष्णवमतका साधन तत्त्व भी भिन्न है। शैवमत में ज्ञान तथा भक्ति दोनों का शिवत्व प्राप्ति में साधनत्व है। द्वैतवादी 'शैवसिद्धांत' मत में भक्ति की उपादेयता मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती, परंतु अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञामत में भी ज्ञान के साथ भक्ति का उपयोग है। अद्वैत ज्ञान की संपत्तिदशा में अद्वैत सत्ता का ही साम्राज्य रहता है। एक ही शिव अपनो नाना आकृतियों से खेला करता है। वही राजा है और वही प्रजा है। फलतः एकत्व-संपन्न शिव अपनी ही विभिन्न अभिव्यक्तियों के साथ लीला किया करता है। फलतः यहाँ ज्ञान तथा भक्ति का एकत्व तथा अभिन्नत्व अभीष्ट होता है शैव संप्रदाय में।

परंतु वैष्णव मत में भगवत्प्राप्ति में भक्ति ही केवल साधन है, ज्ञान और कर्म तो गौणरूप से उसके सहायकमात्र हैं। रामानुज मत में तीनों के परस्पर फल की मीमांसा नितांत स्पष्ट है। रामानुजके मतमें भगवत्-रूप विशेष्यकी प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अचित् (जड़) तथा चित् (जीव) तो उस विशेष्य के विशेषणमात्र होते हैं। साधक कर्म के द्वारा अचित् तत्त्व अथवा प्रकृति को अपने वश में कर लेता तथा ज्ञान के द्वारा वह चित् तत्त्व अर्थात् आत्मा को वश में कर लेता है। इस प्रकार कर्म ज्ञान को उद्बुद्ध करता है तथा ज्ञान भक्ति को। और चरम लक्ष्य की प्राप्ति में भक्ति ही एकमात्र साधन है। अन्य भागवत संप्रदायों में भी भक्ति की उपादेयता अक्षुण्ण ही रहती है।

(३) मुक्तावस्था में भी वैष्णव संप्रदाय की कल्पना शैव संप्रदाय से नितांत भिन्न है। वैष्णवमत में जीव संसार-दशा से मुक्त होकर उत्क्रमण-काल में माया के आवरण को भंग कर महामाया के राज्य में प्रवेश करता है और अपनी योग्यता के अनुसार यहीं भ्रमण किया करता है। वैकुण्ठ तथा गोलोक आदि लोक इसी त्रिपादविभूति में स्थित होने से शुद्ध सत्त्व से बने रहते हैं। मुक्त जीव भी भगवान् के कैंकर्य तथा सेवा के निमित्त शुद्ध सत्त्व से विनिर्मित देह को धारण करता है। इस प्रकार वह योगमाया के लोक का कदापि अतिक्रमण नहीं करता है, क्योंकि वैष्णवों के मान्य ऊर्ध्व लोकों का अस्तित्त्व इसी लोक में होता है जहाँ जीव को 'पूर्ण अहं' की प्राप्ति का अवसर नहीं मिलता। 'पूर्ण अहं' का स्थान योगमाया के लोक के भी ऊपर है और यहीं शैव-मतानुसार जीव अपने आणव मल से भी उन्मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य रूप 'पूर्ण अहं'

भाव में प्रतिष्ठित होता है। 'स्वातंत्र्यवाद' को पुरस्सर करने वाले शैवमत में जीव का अणुत्व मल होने के कारण 'पूर्ण अहं' भाव की उपलब्धि में बाधक का काम कथमपि नहीं करता।

(२)

वैष्णव मतों में साम्य और वैषम्य

वैष्णव सम्प्रदायों में कतिपय सिद्धांतों को लेकर परस्पर में मतभेद तथा वैषम्य अवश्यमेव वर्तमान है, तथापि कतिपय ऐसे तथ्य हैं जिनमें वैष्णवमात्र, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी हो, समभावेन श्रद्धा रखता है और उनकी सत्यता में पूर्ण विश्वास रखता है।

(क)

साम्य

वैष्णवों के अनुसार भगवत् तत्त्व सगुण तथा साकार है जिसकी पृष्ठ-भूमि में निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म सर्वदैव विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिए हम सूर्य तथा उससे विनिर्गत प्रभापुंज को ले सकते हैं। सूय स्वयं सगुण तथा साकार रूप में विद्यमान रहता है, परंतु उससे निकलने वाला प्रभापुंज जगत् में व्यापक होंने पर भी निराकार ही रहता है। गीता के अनुसार अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम में यही सूक्ष्म विवेचनीय अंतर है। अक्षर ब्रह्म तो निर्गुण रूप ही है, परंतु भगवान् अनंत-कल्याण-गुण-निकेतन, समस्त-प्राकृत-गुण

विहीन, हेयप्रत्यनीक होता है तथा भक्तों की रसमयी भक्ति के परवश होकर इस प्राकृत लोक में अपनी लीला के आस्वाद के लिए भी अवतार धारण करता है। वह अपने भगवद्धाम में विग्रह धारण करता है और यह विग्रह छः गुणों के समुच्चय से संपन्न होता है जिनके नाम हैं—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। भगवान् निर्गुण होकर भी सगुण होता है। अप्राकृत गुणों से हीन होने के कारण वह 'निर्गुण' कहलाता है और उपर्युक्त छः गुणों से संवलित होने के हेतु वह 'सगुण' अथवा 'षाड्गुण्यविग्रह' कहलाता है। यह भगवान सर्वदा स्वामी, विभु तथा शेषी होता है और जीव स्वभाव से ही दास, अणु तथा शेष होता है। वैष्णव मत की यह मौलिक कल्पना है जिसकी स्थापना शैव मत की तत्सदृश भावना के साथ तुलना कर के ऊपर सप्रमाण की गई है।

भगवान् केवल भक्ति के द्वारा ही प्राप्य हैं। ज्ञान तथा कर्म का आश्रय भी वैष्णव मत में मान्य है, परंतु अंगत्वेन, मुख्यत्वेन नहीं अर्थात् कर्म के अवलंबन से भक्त का चित्त शुद्ध होता है तथा ज्ञान के द्वारा आत्मा का बोध होता है, परंतु परमात्मा की उपलब्धि में भक्ति ही एकमात्र साधन है। भक्ति साधनरूपा भी है तथा साध्य-रूपा भी। साधनभक्ति नवधा मानी जाती है जिसमें 'आत्मनिवेदन' ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। सब वैष्णव-संप्रदाय 'शरणागति' की श्रेष्ठता तथा उपादेयता पर एकमत हैं। 'शक्तिपात' के द्वारा ही जीव का परम कल्याण होता है। भक्ति इस लोक की वस्तु नहीं है। बिना भगवान् के अनुग्रह के जीव में न तो भक्ति का उदय हो सकता है, न वह भगवान् के कैंकर्य को ही प्राप्त कर सकता है।

वैष्णव मतों की आस्था केवल विदेहमुक्ति के ऊपर ही है, जीवन्मुक्ति के ऊपर नहीं। जब तक जीव देह धारण किये रहता है, तब तक दुःखों के क्षीण होने पर भी वे सर्वदा के लिए क्षीण तथा ध्वस्त नहीं हो जाते। देह की सत्ता उनके पुनः उदय की संभावना लिये रहती है। विदेह मुक्ति होने पर ही जीव भगवान् के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करता हुआ आनंदमय जीवन बिताता है। मुक्त दशा में भी जीव सेवा के निमित्त देह धारण करता है, परंतु यह शरीर शुद्ध सत्त्व के उपादान से निर्मित होने के कारण अप्राकृत, शुद्ध चिन्मय, नितांत विशुद्ध होता है। सामीप्यादि मुक्तिभेदों में भक्त का भगवान् से किंचिदंश में भेद बना रहना स्वाभाविक ही है, परंतु सायुज्यमुक्ति में भी जहाँ मुक्त जीव भगवान् के साथ एकभावापन्न हो जाता है, वहाँ भी जीव का पृथग्भाव ही रहता है। वैष्णवों की मुक्ति समुद्र में बिंदु के विलय समान नहीं है, प्रत्युत वह दो समकेंद्री वृत्तों के मिलन के सदृश है जिसमें एक के ऊपर रखने से दूसरा वृत्त एकाकार अवश्य हो जाता है, तथापि वह अपनी पृथक सत्ता तथा वैशिष्ट्य बनाये रखता है।

(ख)

वैषम्य

इस प्रकार ईश्वर, जीव तथा मुक्ति की कल्पना में बहुशः साम्य होने पर भी जीव तथा ईश्वर के परस्पर संबंध को लेकर वैष्णव-संप्रदायों में पर्याप्त पार्थक्य है। भक्ति भावना के विरोधी होने के कारण शंकराचार्य द्वारा निर्दिष्ट मायावाद का खंडन

प्रत्येक संप्रदाय करता है। चैतन्यमत भगवान् में अचिन्त्यशक्ति की सत्ता होने के कारण 'अचिन्त्य भेदाभेद' सिद्धांत का पुरस्कर्ता है, तो वल्लभमत माया-संबंध से विरहित शुद्ध ब्रह्म की एकता में विश्वास करता है। माध्वमत जीव और ईश्वर में पूर्ण द्वैतभाव का समर्थक है। निम्बार्क तथा रामानुज मत में सिद्धांत के विषय में विपुल साम्य दृष्टिगोचर होता है। रामानुज चित् (जीव) तथा अचित् (जड़) को भगवान् के गुण, प्रकार या विशेषण मान कर उभयविशिष्ट ब्रह्म की अद्वैतता मानते हैं, परंतु निंबार्क अवस्थाभेद से चिदचिद् को ईश्वर से भिन्न तथा अभिन्न मानकर 'भेदाभेद' का समर्थन करते हैं।

भगवल्लीला के विषय को भी इन संप्रदायों में पर्याप्त मतभेद है। रामानुज तथा मध्वाचार्य लक्ष्मीनारायण के उपासक हैं। अतः भगवान् में ऐश्वर्यभाव की प्रधानता होने से इन्हें दास्य भाव की भक्ति ही अभीष्ट है। रामानंदी वैष्णव गणों में भी इसी दास्य भक्ति का प्राधान्य है। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचंद्र राजा तथा प्रभु के रूप में ही गृहीत किये जाते हैं। अतः ऐश्वर्य भाव के प्राधान्य के कारण यहाँ भी दास्यभक्ति का ही साम्राज्य है; परंतु इन रामानदी वैष्णवों में भी माधुर्य भाव के उपासक भक्तों का एक उपसंप्रदाय है जो संख्या में कम होने पर भी प्रभाव में न्यून नहीं है। अयोध्याजी में रामसंप्रदाय के भीतर भी 'सखीभाव' वाले भक्तों की संख्या इस समय वृद्धि पर है। कृष्णभक्ति शाखा के भीतर उपास्य देव की भिन्नता नहीं है। निंबार्क, वल्लभ तथा चैतन्य शक्तिमान् कृष्ण की उपासना पर आग्रह रखते हैं, परंतु हित हरिवंश ने आह्लादिनी शक्तिरूपा राधा को ही अपने संप्रदाय में प्राधान्य दिया है। इनकी उपासना-पद्धति में भी परस्पर सूक्ष्म भेद लक्षित होता है। निम्बार्कमत में

सख्यभाव की ओर साधकों की विशेष प्रवृत्ति है। वल्लभाचार्य ने शृंगारभावना अथवा माधुर्यभावमयी भक्ति को अपने संप्रदाय में मुख्य माना था, परंतु प्रचार किया उन्होंने बाल भाव की उपासना का ही। इसमें एक हेतु है। उभयविध भाव की उपासना में एक सूक्ष्म भेद है। शृंगार भाव की तुलना सिंहिनी के दूध के साथ की जा सकती है जो या तो सिंह के बच्चे के मुँह में ठहरता है अथवा सुवर्णपात्र में; अन्य पात्र में पड़ते ही वह फट जाता है। उसी प्रकार शृंगार भाव के लिए उत्तम अधिकारी की आवश्यकता होती है जिसका मिलना असंभव नहीं तो दु:संभव अवश्य है। बालभाव गायके दूध के समान है जो सब पात्रों में समभाव से रखा जा सकता है। शृंगार भावना को रहस्यमयी मानकर बालभाव को ही विपुल प्रचार करने में वल्लभाचार्य का यही आशय प्रतीत होता है। चैतन्यमत में अन्य भावों की सत्ता होने पर माधुर्य भाव की उपासना को ही मुख्यता दी गई है। सहजिया वैष्णवों के अनुसार तो माधुर्य भाव की उपासना ही एकमात्र ग्राह्य तथा मान्य है। वारकरी संप्रदाय राधा के स्थान पर रुक्मिणी को ही कृष्ण की शक्तिरूपा मानता है। इसीलिए इन्हें दास्यभाव की ही भक्ति अभीष्ट है। इस प्रकार सिद्धांत तथा उपासना, उभय प्रकार की भिन्नता होने के कारण भागवत संप्रदायों में परस्पर वैषम्य भी अवश्य है और यही तो उनका अपना वैशिष्ट्य है।

—:❀:—

(३)

पंचधा भक्ति

आत्मसंसिद्धि के साधनों में भक्तिमार्ग का साधन बहुत अमोघ साधन माना जाता है। परब्रह्म के विषय में भागवत संप्रदाय का बीज इस श्रुतिवाक्य में निहित है—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति। श्रीमद्‌भागवत में इसी बीज का विस्तार लक्षित होता है। समस्त वैष्णव संप्रदायों में रससिद्धांत का कुछ न कुछ वर्णन मिलता है, परंतु गौडीय वैष्णव संप्रदाय का यह तो सर्वस्व है।

'रस' एक समग्र मानसिक वृत्ति है और 'भाव' उसी का प्रारंभिक आधार है। 'रस' भाव की ही एक दशा है और वह भावमयी अवस्था एक अनन्य अखण्ड मनोऽवस्था है। रस के उन्मेष के निमित्त मुख्य आधार को बाह्य वस्तुओं के परिपोष की आवश्यकता होती है। उसमें अंदर की वस्तु है—भाव और बाहरी वस्तुएँ हैं—विभाव, अनुभाव आदि। रस के उन्मीलन के निमित्त 'भाव' ही मुख्य आधार है। 'भक्ति रसामृत सिंधु' में 'भाव' की यह परिभाषा है—

> शुद्धसत्त्व-विशेषात्मा प्रेमसूर्यांशु-साम्यभाक्।
> रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

विशेष शुद्धसत्त्व से संपन्न जीव प्रेम सूर्य के किरण के समान है। रुचि (अर्थात् भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा, भगवान् के अनुकूल होने की इच्छा) के द्वारा चित्त को स्निग्ध बनानेवाली जो उसकी भक्ति है वही 'भाव' कहलाती है।

भाव एक मनःस्थिति है जो परब्रह्म परमात्मा की चिच्छक्ति की दिव्य अभिव्यक्तियों का प्राकृतिक गुण होने के कारण स्वभावतः तथा स्वरूपतः शुद्ध चित् ही है। इस स्थिति में भगवत्-संबंधी नानाविध तदनुकूल इच्छायें मन को मृदु तथा शांत बना देती हैं जिससे वह अनेकविध भावों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। भाव की इस परिभाषा के अनुसार श्रीकृष्ण के नित्य सहचरों तथा सहचरियों के मन के भाव को ही 'भाव' कहते हैं। और जब यही भाव चित्त में अचल हो जाता है तब उसे 'स्थायी भाव' कहते हैं। वैष्णव शास्त्रों के अनुसार रस का स्थायी भाव कृष्ण रति' ही है। 'अलंकार कौस्तुभ' के अनुसार यह स्थायी भाव चित्त का आस्वाद के अंकुर का मूलस्थानीय कोई धर्म है अर्थात् यह भगवान् की ही आनंदमयी शक्ति है जो जीव के अंदर सूक्ष्म तथा अप्रकट रूप से अवस्थित रहती है, पर है यह सनातन। इसका आविर्भाव मन में तभी होता है जब वह रज तथा तम से रहित होकर शुद्धसत्त्व में प्रतिष्ठित होता है—

आस्वादाङ्कुर—कन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया मनः।
स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया॥
(अलंकार कौस्तुभ, किरण ५. श्लोक २)

कृष्णरति वस्तुतः एकरूपा ही है, फिर भी एक ही व्यापक भाव चित्तभेद से विभिन्न रूपों में उदित हो सकता है। और इसीलिए यह 'कृष्णरति' वैष्णव ग्रंथों में पाँच प्रकार की मानी गई है—शांति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता (अथवा माधुर्य) और इन्हीं से तत्तद् नामक पाँच रसों का उदय होता है।

(१) 'शांति रति' से शांतिरसका उदय होता है। रूप गोस्वामी की इस रस की व्याख्या आलंकारिकों की व्याख्या से नितांत भिन्न है। शांति का अर्थ शम और भागवत के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण में निरंतर अनुराग होना ही 'शम' है[1]। और जहाँ भगवान् में चित्त अनुरक्त हो जाता है वहाँ वह सांसारिक विषयों से विरक्त हो जाता है। शांतरस के अनुयायी भक्तों का प्रधान लक्षण है भगवान् में चित्त का अबाध गति से अनुरक्त होना। इनकी पहिचान भी कई चिन्हों से होती है—(१) नासाग्र दृष्टि, (२) तपस्वी का सा ऊपरी व्ययहार, (३) अभक्तों से द्वेष नहीं और भक्तों से राग नहीं, (४) सांसारिक बातों में रागद्वेष का अभाव आदि। जिस प्रेम से शांतरस के परमानंद की प्राप्ति होती है उसमें एक बड़ा दोष यह है कि वह भगवान् के साथ किसी वैयक्तिक संबंध के ऊपर आश्रित नहीं रहता है और इसी लिए वैष्णव शास्त्र में रस के आरोहण क्रम में शांतरस का स्थान बहुत ही नीचा है।

(२) प्रीतिरस या दास्यरस का स्थायीभाव भक्त की यह संतत भावना ही है कि मैं भगवान् का अनुग्राह्य हूँ और वे मेरे अनुग्रहकर्ता हैं। मैं उनका सेवक हूँ और वे मेरे स्वामी हैं[2]। प्रीति दो प्रकार की होती है—(१) संभ्रम प्रीति और (२) गौरवप्रीति। 'संभ्रमप्रीति' में भक्त का भगवान् में परभाव होता

---

१ भक्ति रसामृत सिन्धु २।५।१३—१४

२ स्वस्माद् भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु २।५।२३

है; भक्त अपने को भगवान् से अत्यंत हीन तथा दीन समझता है और भगवान् के अनुग्रह की इच्छा रखता है। 'गौरवप्रीति'-संपन्न भक्त सदा भगवान् के द्वारा रक्षित तथा पालित होने की इच्छा रखता है। भक्त के चित्त में जो यह भावना निरंतर जाग्रत रहती है कि श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु तथा रक्षक हैं इसी को शास्त्र में 'गौरव' कहा जाता है और 'गौरव प्रीति' में इसी भावना से भक्त को आनंद मिलता है। इस 'प्रीति रस' में भक्त के चित्त में हीनता, दीनता तथा मर्यादा का भाव सदा जाग्रत रहता है। मर्यादा के अंतर्गत होने से 'दास' भक्त के कार्यों से भगवान् को विशेष आनंद की प्राप्ति नहीं होती। दास भक्तों के चार भेद होते हैं:—

(१) अधिकृत, (२) आश्रित, (३) पारिषद् और (४) अनुग। अधिकृतदास भक्तों में ब्रह्मा, इंद्र, कुबेर आदि मुख्य माने जाते हैं। आश्रित भक्त तीन प्रकार के होते हैं—

(क) शरणागत—भगवान् के शरण में आये हुए सुग्रीव, बिभीषण आदि भक्त।

(ख) ज्ञाननिष्ठ—भगवान् के तत्त्व को जानकर जिन लोगों ने मोक्ष की इच्छा छोड़कर कर केवल भगवान् का ही आश्रय ग्रहण किया है, जैसे सनक, शुकदेव आदि।

(ग) सेवानिष्ठ—भुक्ति-मुक्ति की सकल स्पृहा को छोड़कर केवल भगवान् की सेवा ही जिनका-जीवन व्रत है जैसे हनुमान्, पुण्डरीक आदि

जो सारथि आदि के कार्यद्वारा भगवान् की सेवा करते हैं और समय समय पर साथ रहकर सलाह आदि भी दिया करते हैं उनकी गणना पारिषदों में की जाती है जैसे उद्धव, भीष्म,

४०

विदुर, संजय आदि। अनुगभक्तों का कार्य भगवान् का सदा अनुगमन करना तथा सेवा करना होता है। ये भी अपने स्थान के कारण 'पुरस्थ' तथा 'व्रजस्थ' भेद से दो प्रकार के माने गये हैं।

दास्यरस का स्थायी भाव है संभ्रमप्रीति जो प्रेमा, स्नेह तथा राग का रूप धारण कर उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जब संभ्रमप्रीति इतनी बद्धमूल होती है कि इसमें साधक को ह्रास की तनिक भी आशंका नहीं होती, तब इसे प्रेमा कहते हैं। यही प्रेमा गाढ़ होने पर चित्त को द्रवीभूत करता है तब स्नेह की पदवी पाता है। स्नेह का प्रधान चिह्न है—क्षणिक भी वियोग को न सहना[1]। प्रिय के विरह में भक्त की आकुलता का कारण यही स्नेह होता है। 'राग' स्नेह के ही उत्कर्ष का अभिधान है।

'राग' दशा में भक्त भगवान् श्रीकृष्ण के साक्षात्कार से या तत्तुल्य स्फुरण से या कृपालाभ से भगवान् का अंतरंग बन जाता है और तब दुःख भी सुख बन जाता है और भक्त अपने प्राणनाश की तनिक भी चिंता बिना किये हुए उनकी प्रीति के अर्जन में आसक्त रहता है। इस प्रकार 'राग' 'प्रीति' की चरमावस्था का अभिधान है।

(३) प्रेयोरस—'दास्य रस' में एक प्रतिबंध रहता है जिससे भक्त भगवान् के सामने मर्यादा का पालन करता हुआ उनके प्रति गौरव भाव तथा आदर भाव से विजृम्भित रहता है। उनके सामने अपना हृदय खोल कर दिखलाने से सदा पराङ्मुख रहता

---

१ सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते।
क्षणिकस्यापि नेह स्याद् विश्लेषस्य सहिष्णुता॥
—भक्ति रसामृतसिंधु ३।२।४५

है। 'दास्य' की यह विलक्षण भावना 'संभ्रम' शब्द के द्वारा व्यक्त की जाती है। 'सभ्रम' का अर्थ है गौरव के द्वारा उत्पन्न व्यग्रता (गौरवकृत-वैयग्रम्)। सख्य रति का मुख्य चिन्ह है विश्रम्भ अर्थात् किसी प्रकार के प्रतिबंध से रहित गाढ़ विश्वास[1]। सखा अपने सखा से अपने हृदय की गोपनीयतम घटना को भी स्पष्ट शब्दों में प्रगट करने में तनिक भी आनाकानी नहीं करता। सख्य है एक वर्ण, एक वेश, एक से ही गुण, एक से ही पद तथा एक ही सी स्थिति वाले दो मनुष्यों का अपनी गुह्य से गुह्य वस्तु को न छिपा रखना। यही सख्यरति विभाव आदि उचित उपकरणों के द्वारा परिपुष्ट होने पर सख्य रस में परिणत हो जाती है। दास्यरस की अपेक्षा सख्यरस (प्रेयोरस) की महनीयता बहुत ही अधिक है। यहाँ भक्त भगवान् के सामने अपने मनोगत भावों को, गुह्य से गुह्य होने पर भी, निर्भयता तथा स्वच्छंदता के साथ प्रकट करता है। अतः आदर्श प्रेमस्वरूप भगवान् के साक्षात्कार की इसमें बहुत अधिक संभावना रहती है। विश्रंभ का गाढंविश्वास–विशेष आपस में सर्वथा अभेद प्रतीत रूप होता है अर्थात् मित्रों में किसी प्रकार की भेद-भावना को स्थान नहीं मिलता। इसलिए इसमें किसी प्रकार की 'यंत्रणा' (बंधन, प्रतिबंध या संकोच) नहीं रहती और इसी कारण सख्य की भूयसी महत्ता है।

---

१ विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः ॥ ५४ ॥
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्।
विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः ॥ ५५ ॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिमविभाग, तृतीय लहरी

सख्यरस के भक्तों के दो प्रकार होते हैं—

(१) पुरसंबंधी जैसे अर्जुन, भीम, द्रौपदी आदि—

(२) व्रज-संबंधी में चार अवांतर भेद माने जाते हैं—

(क) **सुहृत् सखा**—श्रीकृष्ण से उम्र में कुछ अधिक, वात्सल्य भाव से युक्त सदा श्रीकृष्ण की रक्षा में तत्पर सुभद्र, बलभद्र आदि।

(ख) **सखा**—उम्र में श्रीकृष्ण से कुछ कम और उनके सेवा-सुख के आकांक्षी देवप्रस्थ, मरन्द, मणिबन्ध आदि।

(ग) **प्रिय सखा**—उम्रमें श्रीकृष्ण के समान, श्रीकृष्ण के साथ सदा निः संकोच भावसे खेलने वाले श्रीदाम, सुदाम आदि।

(घ) **प्रियनर्म सखा**—इनसे भी अधिक भाववाले, अत्यंत अंतरंग गोपनीय लीलाओं के सहचर सुबल, उज्ज्वल, अर्जुन गोप आदि।

सख्यरति में विश्रम्भ के विद्यमान होने पर भी उसमें एक त्रुटि लक्षित होती है। देश, काल तथा परिस्थिति-जन्य ऐसे प्रतिबंध उत्पन्न हो जाते हैं कि भक्त का पूरा समय इसी भाव में पूरा पूरा निमग्न नहीं रहता। फलतः रस की पूर्णता के निमित्त जिस आह्लादमयी दशा की आवश्यकता होती है, उसका यहाँ नितांत अभाव रहता है। इसी से 'वात्सल्यरति' की श्रेष्ठता तथा ग्राह्यता इसकी अपेक्षा अधिक होती है।

(४) **वात्सल्यरस** का स्थायिभाव वात्सल्यरति है। इसमें न तो 'संभ्रम' के लिए स्थान रहता है न विश्रम्भ के लिए, प्रत्युत इनसे भी ऊपर उठकर अनुकंपा करने वाले व्यक्ति का अनुकम्प्य व्यक्ति

के लिए स्वाभाविकी रति या प्रेम रहता है इसी का नाम वात्सल्य है[1]। 'कृष्ण मेरा है,' 'मेरा प्यारा दुलारा है' यह 'ममता' के नाम से प्रसिद्ध भावना वात्सल्य का ही रूप है। इस संबंध की विशेषता यह होती है कि इसमें भगवान् का ऐश्वर्य-भाव बहुत कुछ दबा रहता है। माता यशोदा श्रीकृष्ण के अद्भुत ऐश्वर्य को अपनी वात्सल्य-भावना के सामने भूल सी जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण समय समय पर अपनी भगवत्ता दिखलाते हैं, परंतु न नंदबाबा को उसकी सुधि रहती है और न यशोदा मैया को। दोनों श्रीकृष्ण को अपना प्रिय पुत्र मानते हैं और उसके लिए आनंद देने वाली सब वस्तुएँ इकट्ठा किया करते हैं। उनका हृदय कृष्ण की चिंता तथा भय से व्याकुल हो उठता है। बाल कृष्ण का कल्याण चिंतन ही उनके जीवन की मंगलमयी भावना है।

पूर्व वर्णित तीनों रसों में वात्सल्य ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होता है। इसका मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक है। भगवान् तथा भक्त के हृदय का परस्पर आकर्षण सर्वत्र एक समान नहीं है। भगवान् हमारी ओर प्रेम भाव रखते हैं; इस बात का निर्णय न होने पर प्रीति पुष्ट नहीं होती, और प्रेयोरस का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है, परतु वात्सल्यरति को इससे कुछ भी क्षति नहीं होती। माता का हृदय पुत्र के प्रति संतत दयार्द्र तथा प्रेमसिक्त होता है चाहे वह पुत्र माता के प्रति स्नेह रखे या न रखे। श्रीकृष्ण प्रेम रखें या न रखें, यशोदा के प्रेम में किसी प्रकार की कमी नहीं

---

१ संभ्रमादिच्युता यां स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते ॥ २४ ॥

—भक्तिरसामृत सिंधु
पश्चिमविभाग, ४ लहरी

रहती है। इसी वैशिष्ट्य के कारण वात्सल्य पूर्व दोनों रसों से आनंद वृद्धि की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है—

> अप्रतीतौ तु हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
> प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः॥
>
> —भक्तिरसामृतसिंधु ३।४।२८

वात्सल्यरस का विशिष्ट लक्षण 'स्तन्यस्राव' है जिसे प्रसिद्ध स्तम्भ स्वेदादि अष्टविध सात्त्विक भावों के अतिरिक्त नवम सात्त्विक भाव मानना चाहिए। श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा का जो वात्सल्यभाव है 'स्तन्यस्राव' उसी का प्रतीक है। यशोदा के चित्त की जो भावमयी स्थिति है उस में अंगभूत भाव अनेक हैं और जिस समय जिस भाव का प्राधान्य होता है उस समय उसी के अनुकूल सात्त्विक भाव का उदय होता है। इन में सब भावों की जा समष्टि है उससे 'स्तन्यस्राव' होता है। दशरथ, नन्द, कौशल्या, यशोदा, देवकी आदि गुरुवर्गीय जन वात्सल्यरस के भक्त हैं। इन भक्तों की शुद्ध वात्सल्यमयी भक्ति है, अन्यत्र दास्य, सख्य तथा वात्सल्य का भाव-मिश्रण भी अन्य भक्तों में दृष्टिगोचर होता है। संकर्षण का सख्य भाव प्रीति तथा वात्सल्य से युक्त था, तो युधिष्ठिर का वात्सल्य प्रीति और सख्य से संपुटित था। नारद का सख्य प्रीति से युक्त था, तो उद्धवजी की प्रीति सख्य से मिश्रित थी। इस प्रकार 'भाव मिश्रण' के भी अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

(५) **माधुर्यरस** के स्थायीभाव का नाम है प्रियता जो श्रीकृष्ण तथा मृगनयनी सुंदरियों के संभोग का आदि कारण माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण को कांतभाव से उपासना करना माधुर्य-

भाव के नाम से अभिहित होता है। यह भक्ति की चरमावस्था माना जाता है क्योंकि इस अवस्था में सब प्रकार की मर्यादा तथा संकोच दूर हो जाते हैं और भगवान् की निरन्तर सेवा अबाधगति से होती है और इस प्रकार सुख का समास्वादन प्रगाढ रूप से होता है। यह मधुररस लौकिक दाम्पत्यरस से सर्वथा भिन्न है। लौकिक रस के जितने संबंध हैं वे सब स्वार्थमूलक होते हैं अर्थात् अपने ही सुख के लिए होते हैं। परंतु श्रीकृष्ण के प्रति जो यह स्नेहभाव है वह स्वार्थभावना से सर्वथा उन्मुक्त अथच अलौकिक है। लौकिक दाम्पत्य-प्रेम अहंकारमूलक है और भगवत्सम्बन्धी माधुर्यरस परसुखमूलक होता है। एक की संज्ञा 'काम' है, तो दूसरे का नाम 'प्रेम' है और दोनों में आकाश-पाताल का, अंधकार-प्रकाश का अंतर है। माधुर्यभाव ही जब इतना प्रगाढ़ तथा बद्धमूल हो जाता है कि अत्यन्त प्रतिकूल दशा में पड़ने पर भी भक्त का चित्त उससे विचलित नहीं होता, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेम बराबर आगे बढ़ता हुआ स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग की अवस्था को पार कर अंत में 'महाभाव' की चरम सीमा को पहुँच जाता है। यही सर्वसमाहारिणी इन्द्रियातीत भावमयी परा स्थिति है जो परमभक्तरूपिणी श्रीराधिका के जीवन तथा आत्मा का स्वरूप है। भक्त का यही परम ध्येय है जिसकी प्राप्ति प्रत्येक साधक का कर्तव्य है और जिसके लिए पूर्वोक्त भावों में से किसी एक भाव का आश्रयण श्रेयस्कर माना जाता है।

—o—

(४)

गोपी-भाव

गोपीभाव रस-साधना की उच्चतम कोटि का नाम है। कुछ लोगों की यह भ्रांत धारणा बनी हुई है कि गोपीभाव की उपासना का अधिकार स्त्री-समाज के भीतर ही सीमित है, गोपीभाव के पूर्ण निर्वाह के लिये पुरुषों को स्त्रियों की वेशभूषा का पूर्ण ग्रहण करना नितांत आवश्यक है और इसी धारणा को कार्य रूप में चरितार्थ करने के लिये हम कतिपय पुरुष भक्तों को मूँछ मुड़ाकर तथा चटकीली लाल साडी, तथा कड़ा छड़ा पहन कर भगवान् के सामने नाचने का स्वांग भरते हुए भी पाते हैं परंतु यह धारणा नितांत भ्रांत है। गोपीभाव स्त्री-सुलभ बाह्य-वेष के ऊपर आश्रित नहीं होता, प्रत्युत एक उदात्त आंतरिक भाव की संज्ञा है। वह भक्ति-साधना की उदात्त-कोटि का उज्ज्वलतम प्रतीक है। भगवान् व्रजनन्दन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में अपने समस्त आचार-व्यवहार, कार्य-कलाप, धर्मकर्म का पूर्ण समर्पण तथा उनके विरह में परम व्याकुलता की भावना—गोपीभाव के ये ही दो परिचायक लक्षण हैं। महर्षि नारद की सम्मति में भक्ति का पूर्ण आदर्श व्रज-गोपिकाओं के जीवन में विकसित तथा प्रफुल्लित हुआ था और भक्ति का पूर्ण आदर्श है क्या ? 'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विरहे परम-व्याकुलता च' अर्थात् भगवान्को अपने समग्र आचारोंका समर्पण तथा उनके विरह में परम व्याकुलता। संसार के समग्र निजी कर्मों, व्यापारों तथा नाना प्रपंचों को छोड़कर चित्त को रसिक-शिरोमणि किशोर-मूर्ति श्रीकृष्ण में सन्तत लगाना जिसमें एक

क्षण का व्यवधान न जनमे और यदि किसी प्रकार उनसे विरह हो, तो इसमें इतनी तड़पन हो, इतनी व्याकुलता हो कि संसार के कार्यों से चित्त सिमिट कर उसी व्याकुलता की दशा में आत्म-विभोर हो उठे।

भक्ति शास्त्र में व्रज गोपिकायें प्रेम की धवल ध्वजा मानी गई हैं तथा उनकी प्रेम गरिमा के चित्रण में भक्तों की तथा कवियों की वाणी ने मूक भाव को ही अपना अलंकार समझा है। भक्ति-शास्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ-रत्न श्रीमद्भागवत गोपिकाओं की प्रेम-माला गूँथने में सबसे अधिक रूपवान् तथा सरस शास्त्र है। भागवत में 'गेह शृंखला' दुर्जर मानी गई हैं। गृहस्थाश्रम की नाना संबंधों की शृंखला मानव को इतनी दृढ़ता से जकड़ी हुई रहती है कि उसे तोड़ देना एक टेढ़ी खीर है—दुर्गम व्यापार है। कलितकलेवरा कामिनी की मंद मुसुकान पर बिकने वाला प्राणी क्या कभी अपने हित का चिंतन करता है? अपने सुकुमार शिशु की तोतली बोली पर रीझकर वह संसार को ही व्यर्थ का ढकोसला समझ बैठता है। रसिया मित्रों की संगति को ही वह जगत् का सार समझकर उसी में चित्त रमाये रहता है। सद्गुरु के उपदेशामृत का एक कण भी किसी क्षण में उसके कर्ण-पुट में यदि पड़ जाता है तो वह अपने को इन प्रपचों से छुड़ाने के लिए जी तोड़ परिश्रम करता है, परन्तु इनके तोड़ने में उसे चाहिये अश्रान्त अध्यवसाय, अक्लांत-परिश्रम तथा सर्वाधिक भगवद्-रसिक हृदय। बिना इस साधना सामग्री के वह गेह-शृंखला को कभी नहीं तोड़ सकता। व्रज गोपियाँ इस दुर्जर गेह शृंखला को अच्छी तरह से तोड़ कर भगवान् की ओर अग्रसर हुई थीं। पति, पिता, माता, भाई, बंधु आपि समस्त संबंधों को तिलांजलि देकर ही ये भगवान् के चरणारविंद के मकरंदपान के लिये

भ्रमरी बनीं थीं। इसलिए श्रीकृष्ण ने स्वयं उनकी स्तुति में कहा था—

> न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
> स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
> या माभजन् दुर्जरगेह-शृंखलाः
> संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
> भागवत १०।३२।२२

भगवान् का कथन है कि गृहस्थी की दुर्जर शृंखलाओं को अच्छी तरह काटकर तुम लोगों ने मेरा भजन किया है, आपकी मैत्री दोषहीन है। उसमें किसी प्रकार के स्वार्थ का गंध नहीं है। देवताओं की आयु पाकर भी मैं इसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता। इसलिए आप लोग स्वयं अपनी उदारता तथा उदाराशयता से मुझे इस ऋण से उन्मुक्त कर दें।

उद्धव जी को व्रज भेजते समय श्रीकृष्ण ने प्रेम-गद्गद कंठ से गोपीभाव की विशुद्धता तथा उच्चता का परिचय दिया है। वे कहते हैं कि उद्धवजी, गोपियों का मन मुझमें रमा हुआ है। उनका प्राण मैं ही हूँ, मेरे लिए उन्होंने समस्त देह-कार्यों का विसर्जन कर दिया है तथा लोकधर्मों का भी परित्याग कर दिया है। मैं उनका आभरण-पोषण करता हूँ। मैं उनके लिए प्रियतमों का भी प्रिय हूँ। जब मैं व्रज से दूर चला जाता हूँ तब ये विरह की उत्कंठा से विह्वल होकर मेरी स्मृति में मूर्च्छित होकर गिर जाती हैं। मेरे व्रज-प्रत्यागमन के संदेशों से ही वे किसी प्रकार अत्यन्त क्लेश से अपना प्राण धारण कर रही हैं। तत्त्व की बात है—वल्लव्यो मे मदात्मिकाः। गोपियों की आत्मा

मेरे साथ एकाकार है तथा मैं गोपियों के साथ एकाकार हूँ। (भागवत १०।४६।४-६)। 'बल्लव्यो में मदात्मिकाः' (भागवत) की 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' से तुलना यही बताती है कि व्रज की गोपियाँ उक्त ज्ञानी भक्ति को प्रतिनिधि हैं जिसे गीता भक्त-चतुष्टय में शिरोमणि मानती है।

सोलहो आने सच्ची बात यह है कि स्वजन का परित्याग नितांत दुष्कर है। भगवान् की मोहिनी माया का पाश इतना ढीला नहीं है कि कोई अपना गला छुड़ाकर झाड़कर अलग हट जाय। वह प्राणी-मात्र के ऊपर इतनी दृढ़ता से रक्खा गया है कि उसको हटाना एक दूभर व्यापार है और इसी पाश को काट डाला गोपियों ने। इसीलिए स्वयं उद्धव जी ने अपनी हृद्यगत अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा था कि मैं चाहता हूं कि वृंदावन के इस वीहड़ कानन में मैं लता, ओषधि या झाड़ियों में किसी रूप रहता जिससे मुझे गोपियों के चरण रजःकण के स्पर्श से से पवित्र होने का अवसर मिलता। इन गोपियों की स्तुति हीं क्या की जाय जिन्होंने कठिनता से छोड़ने योग्य अपने सगे संबन्धियों को तथा आर्यपथ को छोड़कर वेदों के द्वारा खोजे गये मुकुंद की चरण सेवा को स्वीकार किया था:—

आसामहो चरणरेणु-जुषामहं स्याम्
वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
याः दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथ च हित्वा
भेजे मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

आत्म-विस्मृतिकी दशामें भी भगवान् के माहात्म्यकी विस्मृति कभी न होनी चाहिए। गोपियाँ प्रेम की अधिकता के कारण आपा भले ही भूल जाय, परंतु यह याद उन्हें भूल नहीं सकती

कि हमारे प्रेम का आधार, हमारी कामना का निकेतन, हमारे स्नेह का आश्रय वह किशोरमूर्ति श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है, अखिल घट में वास करनेवाला नित्य नूतन प्रेमागार है, जगत् का नियमन करनेवाला अंतर्यामी है। उनका प्रेम किसी मानव के प्रति नहीं है, किसी भौतिक देहधारी के प्रति नहीं है, प्रत्युत जगन्नियंता के प्रति है, षड् ऐश्वर्य से मंडित भगवान् के प्रति है। तभी तो गोपियों ने श्रीमुख से कहा था—

न खलु गोपिका-नन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्व-गुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

आप गोपिका यशोदा के नन्दन नहीं हैं, प्रत्युत संपूर्ण प्राणियों के अंतरात्मा के साक्षी तथा द्रष्टा हैं। यादव कुल में आप का उदय ब्रह्मा की निरंतर प्रार्थना करने पर विश्व की रक्षा के निमित्त हुआ है। अतः आनंदातिरेक की दशा में भी गोपियाँ कृष्ण के अंतर्यामी रूप तथा लोकसंग्रहकारी स्वरूप से भली भाँति परिचित हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो यह प्रेम जार के प्रेम से अधिक महत्व का नहीं होता। जो महिला अपने धर्म पति के प्रेमको तिलांजलि देकर किसी उपपतिको वरण करती है वह समाज में हेय तथा अग्राह्य आदर्श प्रस्तुत करती है। गोपियों के विशुद्ध प्रेम पर छींटाकशी करने वाले आलोचकों का टोटा नहीं है, परंतु उन्हें ध्यान में रखना चाहिए कि गोपियों ने अपना हृदय समर्पण किया था किसी परपुरुष को नहीं बल्कि उस परमपुरुष को जो अंतर्यामी रूप में हृदय के कोने में बैठा हुआ हमारा संचालन किया करता है तथा हमारे समग्र व्यापारों का निरीक्षक

बन कर हमारे पुण्य-पाप का लेखा जोखा किया करता है। इसीलिए महर्षि नारद जी का कहना है—

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानस्मृत्यपवादः' 'तद्विहीनं जाराणामिव'

नारद–भक्तिसूत्र २२, २३

प्रेम तथा काम का तारतम्य

प्रेम तथा काम का तारतम्य समझ लेना इस प्रसंग में नितांत आवश्यक है। प्रेम में त्याग की भावना का प्राबल्य रहता है और काम में स्वार्थ की भावना का प्राधान्य रहता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिए अपने सौख्य तथा सम्पत्ति को न्योछावर करने के लिए उद्यत रहता है, परंतु कामी की दृष्टि अपने ही सौख्य की ओर लगी रहती है। वह केवल अपना ही स्वार्थ चाहता है, अपनी इच्छा की पूर्ति की कामना करता है; उसका दृष्टिबिन्दु प्रियपात्र न होकर स्वयं अपना ही क्षुद्र आत्मा होता है। वह अपने प्रिय की ओर कभी फूटी नजरों से भी नहीं देखता। वह देखता है केवल अपने को, अपने क्षुद्र स्वार्थ को तथा अपने व्यक्तिगत सौख्य को। नारदजी की सम्मति में प्रेम की प्रधान पहिचान है—तत्सुखसुखित्वम् = प्रियतम के सुख में अपने आपको सुखी मानना। परंतु काम में इस भावना का एकदम अभाव रहता है। गोपियों के जीवन में हम प्रेम की ही प्रधानता पाते हैं। उनका एक ही उद्देश्य था कि किसी न किसी प्रकार से कृष्णचंद्र को अपने कार्यों से आनंद पहुँचाना। इसी सेवा से ही उन्हें अपार आह्लाद प्राप्त होता था; उनके हृदय में और किसी भी स्वार्थमूलक वासना का अस्तित्व नहीं था।

भगवान् के प्रति समर्पित जीवन में स्वार्थवासना के लिए कहीं स्थान नहीं होता। भक्त भगवान् से इतना तादात्म्य रखता है कि उसके पृथक् अस्तित्व का कोई मूल्य ही नहीं होता। वह केवल भगवान् की ही सेवा को अपने जीवन का चरम अवसान मानता है। काम दूसरों के द्वारा अपनी तृप्ति चाहता है, परंतु प्रेम अपने द्वारा प्रेमपात्र की तृप्ति चाहता है और उसीके आनन्द से स्वयं आनन्द का अनुभव करता है। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्यचरितामृत' मे प्रेम तथा काम के इस परस्पर पार्थक्य का बड़ा ही सुंदर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका कहना है—

आत्मेन्द्रियप्रीति इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रियप्रीति इच्छा, धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
आत्म दुःखसुख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार॥
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म कर्म।
लज्जा धैर्य देह सुख आत्मसुख मर्म॥
सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन।
कृष्णसुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग।
स्वच्छ धौत वस्त्र जैछे नाहि कौन दाग॥
अत एव, काम प्रेमेर बहुत अन्तर।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अत एव गोपी गणे नाहि काम गन्ध।
कृष्णसुख हेतु-मात्र कृष्णेर सम्बन्ध॥

आशय है कि अपनी ही इंद्रियों की जो इच्छा होती है उसी का नाम है काम और श्रीकृष्ण की इंद्रियों को प्रसन्न करने की इच्छा की संज्ञा है प्रेम। काम हृदय की सकुचित वृत्ति है जिसका तात्पर्य केवल अपने ही सुख तथा संयोग की भावना रहती है। इसके विपरीत प्रेम हृदय की उदात्त वृत्ति है जिसका अभिप्राय केवल प्रेमपात्र श्रीकृष्ण को ही सुख पहुँचाना होता है। गोपियों का जीवन प्रेम का उज्ज्वल प्रतीक है। इसलिए गोपियाँ कभी अपने सुख की ओर ध्यान ही नहीं देतीं। उन्होंने लोकधर्म वेदधर्म, लज्जा, धैर्य आदि समस्त वस्तुओं को छोड़कर केवल भगवान् श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने का दृढ़ नियम तथा निश्चय ले रखा था। प्रेम उस स्वच्छ धोए हुए वस्त्र के समान है जिसके ऊपर एक भी काला छींटा या दाग नहीं रहता। काम अंधा होता है, परंतु प्रेम सूय के समान प्रकाशमान तथा निर्मल होता है। गोपियाँ प्रेम की ध्वजा थीं। अतः उनके जीवन में काम का गंध भी देखने को नहीं मिल सकता। कृष्ण के साथ उनका संबंध इतना ही था कि वे व्रजनन्दन कृष्ण के हृदय में आनद उत्पन्न करने का कारण बनती थीं।

इस प्रकार गोपीभाव के परिचायक चार गुणों की सत्ता माननी चाहिए—(१) समग्र स्वत्व तथा संपत्ति को भी कृष्ण के प्रति समर्पण कर देना; (२) एक क्षण के लिए भी कृष्ण की विस्मृति में नितांत व्याकुलता, (३) श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा यश की गरिमा का पूर्ण ज्ञान, (४) श्रीकृष्ण के सुख में अपना सुख मानना तथा उनके आनंदित होने पर स्वतः आनंदित होना। इन चारों महनीय गुणों का विलास जिस प्रेम में झलकता है वही गोपीभाव का चरम आदर्श है। अष्टछाप के मान्य कवि परमानन्ददास की यह श्लाघनीय स्तुति सचमुच यथार्थ है—

ये हरिरस ओपी गोपी सब तिय तें न्यारी।
कमल नयन गोविंद चँद की प्रान पियारी।
निरमत्सर जे संत तिनहिं चूड़ामनि गोपी।
निर्मल प्रेम प्रवाह सकल मरजादा लोपी।
जे ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावैं।
क्यों नहिं परमानंद प्रेम-भगती–सुख पावैं॥

इस प्रकार गोपीभाव साधनाके एक उत्कट कोटि का नामांतर है। वह बाह्य आलंबन पर आश्रित न होकर आंतरभाव ऊपर अवलंबित होता है।

(५)

रससाधना

साधना के विविध मार्गों को सुभीते के लिए तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रवर्तक दशा, (२) साधक दशा तथा (३) सिद्ध दशा। ये तीनों दशायें साधक की विशिष्ट स्थिति की द्योतिका हैं। प्रवर्तक दशा में साधक अपनी साधना का प्रारंभ करता है। इसके भी साधन की विभिन्नता से दो भेद होते हैं—नामसाधना और मन्त्र साधना। भगवान् के स्वरूप के समान ही उनका नाम भी चिन्मय, विशुद्ध तथा अप्राकृत होता है। भगवन्नाम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, वह अप्राकृतिक वस्तु है और अचिन्त्य शक्ति-संपन्न है। नाम तथा नामी का नित्य संबंध होता है। साधक अपने उपास्य-देवता के अभीष्ट नाम का सन्तत उच्चारण तथा जप करता हुआ नामी की प्राप्ति में कृतकार्य होता है। स्फोट शब्द से ही अर्थ की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, परंतु स्फोट 'अन्त्यबुद्धि-निर्ग्राह्य' होता है अर्थात् अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ स्फोट शब्द की पूर्णता होती है और तब अर्थ की अभिव्यक्ति स्वतः बिना किसी बाह्य कारण की सहायता से होती है। उदाहरण के लिए 'राम' शब्द की पूर्णता तभी संपन्न होती है जब रेफ, आकार और मकारके अनन्तर अकारका भी उच्चारण किया जाता है। जब तक इस अंतिम ध्वनिका उच्चारण नहीं होता, तब तक राम शब्द के द्वारा द्योत्य अर्थ की स्फूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार नाम-साधक का कर्तव्य है कि वह नाम की साधना में पूर्ण निष्ठा से लगा रहे। जब अन्तिम नाम का उच्चारण पूर्ण होगा, तब नामी की अभिव्यक्ति आप से आप एक क्षण में हो

जावेगी। नामोच्चारण में भी साधक का कर्तृत्वाभिमान किसी प्रकार कृतकार्य नहीं होता, अपि तु नामी की कृपा से ही किसी भाग्यशाली पुण्यवान् के कण्ठ से नाम फूट उठता है।

दीर्घकाल तक नियमित रूप से नाम साधना करते रहने से यथासमय भगवान् की करुणा का उद्रेक होता है और वे पथ-प्रदर्शक गुरु के रूप में नाम-साधक भक्त के सामने आविर्भूत होते हैं और मंत्रोपदेश करते हैं। मन्त्र की यथावत् साधना से बीज-मंत्र की अभिव्यक्ति होती है तथा साधक का चित्त मलिनता का पूर्ण परिहार कर नितांत शुद्ध सात्त्विक रूप में विद्योतित हो जाता है। साधक का पूर्वसंचित अशुद्ध काम विगलित हो जाता है तथा वह अपने भाव के अनुसार शुद्ध सात्त्विक देहको धारण करता है। इस विशुद्ध शरीर का पारिभाषिक नाम होता है—भाव देह। यह देह निर्मल, अजर तथा अमर होता है। भौतिक-देह से संबद्ध भूख-प्यास, काम-क्रोध, आदि प्राकृत धर्म इसे स्पर्श तक नहीं करते। इस भावदेह का उदय प्रवर्तक दशा के अवसान तथा साधक दशा के आरंभ का सूचक होता है। अब सच्ची साधना का आरंभ होता है, क्योंकि अब तक की गई साधना साधक को केवल आरंभिक योग्यता प्रदान करने के लिए ही कृतकार्य होती है। स्थूल देह में अभिनिवेश या तादात्म्यपूर्वक जो उपासना साधारण रीति से की जाती है, वह वस्तुतः साधना ही नहीं है। सच्ची साधना तो भाव का साधन है। इस साधन को अग्रसर करने के लिए नाम तथा मंत्र दोनों साधक की आरंभिक चेष्टायें होती हैं।

साधक दशा में भावभक्ति का उदय होता है। इस भक्ति के आविर्भाव के कारण की समीक्षा करते समय आचार्यों ने दो कारण बतलाये हैं। भाव का उदय कर्म से या कृत्रिम उपायों से

(क) भगवान् की आनंदरूपा तथा सृष्टि करने वाली शक्ति का रूप; (ख) कान्ताभाव से भगवान् के उपासक अनन्य भक्तों का प्रतीक।

निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभी सम्प्रदायों में भगवल्लीला के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। चैतन्य मतानुसार भगवान श्री कृष्ण अपनी ही स्वरूपशक्ति के साथ लीला किया करते हैं। जीव का लीला में प्रवेश का अधिकार केवल द्रष्टा रूप से ही है, क्योंकि वह तटस्थ शक्ति ठहरा। ताटस्थ्यवृत्ति के आश्रय होने वाले जीव के साथ भगवान् की लीला कथमपि नहीं हो सकती। भगवान् आह्लादिनी शक्तिभूता श्री राधारानी तथा उनकी सेविका गोपीजनों के साथ ही लीला किया करते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार इस लीला की तुलना बालक की क्रीडा के साथ की जा सकती है। बालक दर्पण में प्रतिबिंबित अपने ही प्रतिबिंबों से खेलता है। भगवान् भी अपनी स्वरूपशक्ति के साथ स्वाभाविक रीति से लीला किया करते हैं, तब जीव केवल साक्षी या द्रष्टा रूप से अवलोकन करता है। दूसरे प्रकारसे जीवके साथ भगवल्लीला हो भी सकती है। जीव मजरी[1]

---

[1] मंजरी गोपियों की सेविकायें मानी जाती हैं। एक एक सखी के साथ एक एक मंजरी रहती है। चैतन्य मतानुसार इन मंजरियोंके नाम ये हैं—रूपमंजरी, जीवमंजरी, अनंगमंजरी, रसमंजरी, विलासमंजरी, ी, रागमंजरी, लीलामंजरी तथा कस्तूरीमंजरी। अष्ट सखियों रूप तथा काम में भी पर्याप्त मतभेद है।
ाणों में भी इस विषय में विशेष मतभेद है। चैतन्यमतानुसार इन यों के नाम ये हैं—ललिता, विशाखा, सुमित्रा, चंपकलता, रंग-

के पास पहुँच कर उन्हीं के समान गोपिकायों की सेवा में संलग्न होने से उनका कृपापात्र बन सकता है और गोपियों की कृपा से वह राधा के पास पहुँच सकता है। महाभावमयी राधा की कृपा से ही जीव भगवल्लीला का आस्वाद ग्रहण कर सकता तथा उसमें सम्मिलित भी हो सकता है परंतु तब वह जीव नहीं रहता—ताटस्थ्यशक्ति का प्रतीक नहीं रहता; अपि तु राधा की कृपा से वह स्वरूपशक्ति के रूप में ही परिणत हो जाता है। ऐसी ही दशा में जीव भी लीलारस के आस्वादन का अधिकारी बनता है, अन्यथा नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की सब अवस्थायें—बाल्य, पौगण्ड, कैशोर तथा यौवन—एक साथ ही होती हैं और ये सबही नित्य होती हैं। तथापि अधिकांश भक्तगण भगवान् के कैशोर रूप के उपासक होते हैं। अनादि होने के कारण भगवान् प्रत्नतम हैं, किन्तु दर्शन में नित्य नवीन हैं। ऋग्वेद में इसीलिए विष्णु को 'नवीयस्' अर्थात् अत्यन्त नवीन बतलाया गया है—

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे।
समुज्जानये विष्णवे दिदाशति॥
(ऋ० १।१५६।२)

भगवान सदा कैशोर वय में रहते हैं; भागवत इसका स्पष्टतया समर्थक है—

देवी, सुन्दरी, तुंगदेवी, इन्दुरेखा। विशेष के लिए देखिए भारतेंदु बाबू-हरिश्चंद्र लिखित 'युगल सर्वस्व' (प्रकाशक खड्गविलासप्रेस, पटना; १६११)

सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रह—कातरम् ।

(भाग० ३।२८।१७)

जहाँ भगवान् 'तरुण' बतलाये गये हैं (भाग० ४।८।४६), वहाँ भी इसी कैशोर वय से ही तात्पर्य मानना चाहिए। क्योंकि यौवन से भी अधिक माधुर्य इस कैशोर में है। यौवन में पूर्णता की सिद्धि अवश्य है, परंतु उसमे नव-नवोन्मेषशालिता कहाँ है जो हमें कैशोर में दृष्टिगोचर होती है। भगवान् के समान भगवद्धाम के निवासी भगवत्पार्षद भी 'नूत्नवयसः' अर्थात् कैशोर वयः प्राप्त है[1]। यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य ने भगवान में 'नित्य यौवन' के द्वारा कैशोर का ही संकेत किया है[2]। रूप गोस्वामी ने तो स्पष्ट ही कहा है कि श्री भगवान प्रायः किशोर रूप में ही सब भक्तों को दिखलाई पड़ते हैं—प्रायः किशोर एवायं सर्वभक्तेषु भासते।

किशोर कृष्ण की दो लीलायें मुख्य हैं—कुंजलीला तथा निकुंजलीला, जिनमें पहिली की अपेक्षा दूसरी लीला अंतरंगतम है। व्रजलीला के सभी उपासकों ने गोपीभाव से अपने को अनुभावित कर व्रजवधूवल्लभ श्रीकृष्ण को परमाराध्य तथा परमोपास्य माना है। कुंजलीला में स्थायिभाव श्रीकृष्ण रति है; विषयालंबन श्रीकृष्ण है तथा आश्रयालंबन व्रजगोपिकायें हैं

सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।

—भाग० ६।१।३५

२ अचिन्त्यदिव्याद्भुत—नित्ययौवनम्

—स्तोत्ररत्न

अर्थात् श्रीकृष्ण-चरण की ही प्रधान उपासना है। यहाँ रसकी समृद्धि तथा परिपक्वता के लिए विरह स्वीकार किया गया है। अतः विप्रलंभ शृंगार की मुख्यता है। गोपियों को कुछ आचार्य परकीया मानते हैं। किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने नित्य संयोग शृंगार की उपासनामें स्वकीयाका भी विधान किया है, परंतु इष्ट तत्त्व श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया है।

निकुंजलीला उपर्युक्त कुंजलीलासे रस की दृष्टि से तथा उपकरणकी दृष्टिसे नितांत भिन्न तथा अंतरंग है। इस निकुंजोपासना को राधावल्लभीय आचार्य श्रीहित हरिवंश जी 'वृंदावन रस' के नाम से अभिहित करते हैं। यह लीला नितांत गुह्य, गोप्य तथा रहस्यभूत है और इसीलिए यहाँ न तो नंद यशोदा का और न सुबल सुबाहु आदि सखाओं का भी प्रवेश है; न शुक आदि महावैष्णवों को गोचर है। और तो क्या? स्वयं व्रज-गोपिकाओं का भी वहाँ प्रवेश नहीं है। श्री गोस्वामी दामोदर वर की 'हस्तामलक' में यह उक्ति है--

गोपी जन सब भक्तन में श्रेष्ठ हैं। काहे ते जु किशोर रूप को भजी हैं अरु उद्धव, विधि उनकी चरणरज वांछी हैं, ते व्रज देवी श्री जुगल किशोर के स्वरूप कौ जो 'निजु विहार' है ताके दरसवे कौं अधिकारी नाहीं[1]।

---

१ नारदादि सनकादि सब ऊद्धव अरु ब्रह्मादि।
गोपिन कौ सुख देखि किय भजन आपनौ बादि॥

तिन गोपिन कौ दुर्लभ भाई।
नित्य बिहार सहज सुखदाई॥

—श्रीध्रुव वाणी।

परमरसामृतमूर्ति सकल सौंदर्य-निकेतन श्री रसरूप भगवान् रसास्वादन के निमित्त दो रूप धारण करते हैं जिनमें एक रूप है श्रीकृष्ण तथा दूसरी है राधा। इनका रंग, रुचि, वय, स्नेह, शील तथा स्वभाव एक ही होता है। ये दोनों रसिककिशोर निकुंज में आनंदार्णव में गोते लगाते हुए रसकेलि में निमग्न रहते हैं। कभी प्रियतम प्रिया बन जाता है और कभी प्रिया प्रियतम बन जाती है और दो रूप होकर भी एकाकार संपन्न होकर रस में प्रतिष्ठित बन जाते हैं। निकुंजोपासनाके इस नित्य वृंदावन की रसकेलि में मान, विरह तथा वियोग का गंध तक नहीं है। यहाँ एक अखण्ड माधुर्य-रस अपनी भव्य शुभ्रता के साथ उच्छलित होता रहता है। इस निकुंजलीला में चैतन्य वैष्णव लोग श्री कृष्ण को विषय तथा श्री राधिका को आश्रय मानते हैं।

परंतु श्रीराधावल्लभी संप्रदाय के अनुसार इस 'वृंदावन-रस' में राधारति ही स्थायीभाव है; श्रीराधा विषय तथा श्रीकृष्ण आश्रय हैं। तात्पर्य यह है कि राधा जी आराध्य है और लालजी उनके अनन्य आराधक हैं। इस प्रकारकी उपासनामें श्रीराधाचरण प्रधान है, कृष्ण-चरण नहीं। संयोग में प्रेम की चटपटी चाह तो रहती है, परंतु वेदना का भय लगा रहता है। उधर वियोग में हृदय की विचित्र गति रहती है। नित्य लीला का यह रस संयोग तथा वियोग उभय दशाओं से भिन्न अथच उदात्ततर है। हितहरिवंश जी ने चकई तथा सारस के परस्पर कथोपकथन के द्वारा अपने सिद्धांत को पुष्ट करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अनवरत रसपान की दशा में भी रसपान की चिरपिपासा रस की चरमोत्कृष्ट दशा है और इसी का प्राधान्य रहता है इस निकुंजलीला में। इस उपासना का अधिकारी वही भाग्यशाली

हो सकता है जो अनन्यभाव से, विशुद्ध मन, विशुद्ध कर्म तथा विशुद्ध वचन से भी राधाजी के शरणापन्न होता है।

यहाँ महाभाव की पूर्णता रहती है और श्रीराधा और कृष्ण-चंद्र का नित्य मिलन संपन्न होता है जो पूर्ण रस तथा सामरस्य का सूचक होता है—

परस्परं प्रेमरसे निमग्नमशेषसंमोहनरूपकेलि।
वृन्दावनान्तर्नवकुञ्जगेहे तन्नीलपीतं मिथुनं चकास्ति॥
(राधासुधानिधि)

७

उपासना-तत्त्व

उपासक उपासना के द्वारा ही भगवत्प्राप्ति में कृतकार्य होता है। उपासना एक महनीय शक्ति है जिसका उपयोग सद्यः फल-प्रद तथा अवश्यमेव कार्यसाधक होता है। उपासना शब्द का अर्थ है 'उप समीपे आसनं स्थितिः' अर्थात् भगवान् के पास में उपासक की स्थिति वा अवस्थान। भगवान् अनंत अलौकिक शक्तियोंका निकेतन है। उसी अलौकिक शक्तिकेन्द्रके साथ अपना साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करना 'उपासना'का लक्ष्य है। बिजुलीका बल्ब पासमें विद्यमान भले ही, परंतु यदि विद्युत्-गृहके साथ संपर्क नहीं स्थापित होता, तो वह बल्ब क्या प्रकाश करने में समर्थ हो सकता है? अल्पशक्ति-संपन्न जीव को सर्वशक्तिमान् विभु परमात्मा के साथ बिना साक्षात् संपर्क स्थापित किये उसका न तो ऐहिक मंगल सिद्ध हो सकता है और न आमुष्मिक कल्याण।

साधक को अपने विशिष्ट भाव के अनुसार ही देवता का निर्वचन तथा ध्यानादिका विधान करना सर्वथा उचित होता है।

परंतु वैष्णव शास्त्रों का एक मान्य सिद्धांत है कि शक्ति-विशिष्ट शक्तिमान् की ही उपासना अपने कार्य में सफल तथा जागरूक होती है। संमोहनतंत्र के अनुसार किशोरी राधारानी के संग में ही कृष्णचंद्र के ध्यान का विधान है। जो साधक गौर तेज के बिना केवल श्याम तेज का ही ध्यान धरता है, उसे वैष्णव तंत्र पातकी बतलाते हैं—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत् ।
जपेद्वा ध्यायते वाऽपि स भवेत् पातकी शिवे ॥
(सम्मोहनतंत्र)

श्रीनिंबार्कमतीय औदुंबराचार्य ने इस युगलमूर्ति की उपासना की ओर इस पद्य में संकेत किया है—

जयति जयति राधायुग्मतत्त्वं वरिष्ठं
व्रतसुकृत-निदानं यत् सदैतिह्यमूलम् ।
विरल–सुजन–गम्यं सच्चिदानन्दरूपं
व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम् ॥

(१) अतः युगल उपासना के ऊपर वैष्णव शास्त्रों का परम आग्रह है। इस आग्रह का रहस्य यह है कि जीव स्वतः विभु परमात्मा के सामने उपस्थित होने पर उसके प्रकृष्ट तेज सहने की क्षमता नहीं रखता। भला अल्पशक्तिमान् अणु जीव आकाश में हजारों एक साथ चमकने वाले सूर्यों के प्रभापुंज के समान तेजस्वी ब्रह्म के सान्निध्य में जाकर कभी अपनी व्यक्तिगत सत्ता की रक्षा में सक्षम हो सकता है? इसकी रक्षा का एकमात्र उपाय है मातृशक्ति के द्वारा सुरक्षित होकर ही पितृस्थानीय भगवान्

के सान्निध्य में आना। ऐसी दशा में उभयतेज में परस्पर संमिलन कर एक दूसरे को सहिष्णु बनाते हैं तथा माता की गोद में हँसते हुए बालक के समान जीव अपनी सुरक्षा में कृत-कार्य होता है।

(२) शक्ति तथा शक्तिमान् में सर्वथा ऐक्य है। तुलसीदास के शब्दों में जानकी गिरा-रूपिणी हैं तथा राम अर्थरूप हैं। जिस प्रकार संगमर्मर के एक खड के ऊपर कलावंत रामकृष्ण की मूर्ति गढ़ने में कृतकार्य होता है, उसी प्रकार अर्थ के ऊपर गिरा के प्रभाव से समग्र जगत् उद्भासित तथा उन्मीलित होता है। शब्द के द्वारा ही सृष्टि होती है, यह वैदिक धर्म का ही मूल तत्त्व नहीं है, अपि तु ईसाई धर्म का भी। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने कहा कि प्रकाश उत्पन्न होवे और प्रकाश तुरंत उत्पन्न हो गया—

God said let there be light and there was light.

शब्द तथा प्रकाश का अन्योन्याश्रय संबंध है। वाक्रूपा शक्ति, राधा या सीता के द्वारा ही अर्थमय आश्रय के ऊपर यह विराट विश्व उन्मीलित होता है। फलतः जगत् की सृष्टि में शक्तिरूपा सीता की कार्य-कारिता विशेषरूप से विद्यमान है।

(३) नारद पांचरात्र के अनुसार श्रीलक्ष्मी जी भगवान् की प्राप्ति में पुरुषकार का कार्य करती है अर्थात् घटक बनती हैं। लक्ष्मीपति भगवान् अपनी प्राप्ति में स्वयं उपायरूप है और उसकी प्राप्ति से योग करने वाली, घटक का कार्य करने वाली स्वयं श्रीलक्ष्मी जी हैं। वही जीवों के अपराध के क्षमापन के निमित्त नारायण से प्रार्थना किया करती हैं। माता का हृदय

अधिक आर्द्र तथा कोमल ठहरा। वह बालक के क्लेशों से अधिक उद्विग्न बन जाती है और लक्ष्मीपति से सद्यः प्रार्थना करती है[1]—

> पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने
> हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित् कलुषधीः।
> किमेतद् ? निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
> रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥
> (भट्टार्यस्वामी—गुणरत्नकोष)

आशय है कि अपराधी जीव के ऊपर भगवान् के क्रोध करने पर लक्ष्मी स्वयं पैरवी करती है कि भगवन्! आप क्रुद्ध क्यों हैं? क्या इस जगत् में कोई भी प्राणी अपराधरहित है? इस प्रकार उन्हें समझा बुझाकर हम जीवों को अपनाती हो। माता का तो यही कार्य होता है।

भगवान् के शरण में जाना साधक की एक क्रिया है, परंतु जानकी जी के लिए किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं होती। वह तो अपराधी जीवों को हरि-शरणागति का अधिकारी न देखकर अपने मृदुल चित्त से उनकी ओर से पैरवी (पुरुषकार) करती हैं। वह केवल प्रणामसे प्रसन्न होकर मनोरथ पूर्ण कर देती हैं—

---

१ अहं मत्प्राप्त्युपायो वै साक्षात् लक्ष्मीपतिः स्वयम्।
लक्ष्मीः पुरुषकारेण वल्लभा प्राप्तियोगिनी॥
—नारदपांचरात्र

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्।
—वाल्मीकीय सुंदर काण्ड।

गोस्वामी तुलसीदास जी जानकी जी के इसी कार्य की ओर यहाँ संकेत कर रहे हैं—

कबहुँक अंब अवसर पाई।
मोरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाई॥
—विनयपत्रिका

(४) सीता का स्वभाव निर्हेतुक क्षमामय तथा कृपामय है। वह उपासित होने पर श्रीराम जी से जीवों के ऊपर क्षमा करने के लिए स्वयं आग्रह करती हैं। श्री सीता जी का रूप भी तो यही है। 'सिनोति वशं करोति स्वचेष्टया भगवन्तं सा सीता' अर्थात् अपनी चेष्टा से भगवान् को वश में करनेवाली। भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होते हैं। फलतः वह जीवों के अपराधों को शीघ्र जान लेते हैं और उसे दंड देने के लिए झटसे उद्यत हो जाते हैं, परंतु श्री सीता जी ही अपने नैसर्गिक कारुण्य-भाव से जीवों की ओर से इतना पुरुषकार करती हैं कि भगवान् के दोनों गुण—सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता—निरुद्यम हो जाते हैं। कृपालुता भगवान् का सहज गुण है। भगवान् सोचते हैं कि समग्र प्राणियों की रक्षा करने में मैं ही समर्थ हूँ। इस प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसन्धान को भगवान् की कृपा कहते हैं—

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः।
इति सामर्थ्यसन्धाना कृपा सा पारमेश्वरी॥

कृपा का निवास हृदय है, सर्वज्ञता का निवास मस्तिष्क तथा सर्वशक्तिमत्ता का निवास बाहु रहता है। समीपवर्तिनी होने से कृपादेवी हृदयस्थ भगवान् के ऊपर शीघ्रता से प्रभाव डालती है। अन्य दोनों शक्तियों के दूर वर्तिनी होने से उनका उतना प्रभाव नहीं होता[1]।

इस प्रकार जीवों के प्रति भगवान् की नैसर्गिकी कृपा को जागरूक होने के लिए जानकी जी सदा पुरुषकार करती हैं। वह राम के साथ सदा त्रिपाद विभूति साकेत नामक परमधाम में निवास करती हैं। अतः अपना कल्याण चाहने वाले उपासक को युगल मूर्ति की उपासना करनी चाहिए तथा दोनों का नाम-जप एक साथ करना चाहिए।

१ विशेष द्रष्टव्य कल्याण वर्ष २७; संख्या ५ तथा ६; मई तथा जून १९५३।

साहित्य-निर्देश

(मूल ग्रंथ के नाम ग्रंथ के भीतर निर्दिष्ट हैं। यहाँ प्रमुख आधुनिक ग्रंथों के नाम दिए जाते हैं।)

सामान्य ग्रंथ

R. G. Bhandarkar—Vaisnavism, S'aivism and Minor Sects, Poona, 1928

Rai Choudhary—Early History of the Vaisnava Sect (Calcutta University, Calcutta, 1920)

Bhagavat Kumar Goswami—Bhakti cult in Ancient India, Calcutta. 1922

दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री—वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती), बंबई, १९३९.

बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, काशी १९४५.

„ —धर्म और दर्शन, काशी, १९४४.

Dr. J. N. Farquhar—An Outline of the Religious Literature of India, Oxford, 1920.

Ramananda to Ramatirtha (Natesan, Madras.)

J. P. Carpentar—Theism in Mediaeval India, Oxford.

गोपीनाथ कविराज—'भक्ति रहस्य'; 'कल्याण' का 'हिंदू संस्कृति-अंक', पृ० ४३६-४४४.

गोपीनाथ कविराज—'दीक्षा रहस्य' (कल्याण सं० १५, अंक ४)

रामानुज मत

J. S. M. Hooper—Hymns of the Alvars (Heritage of India Series, Calcutta 1929)

'Nammalvar' (Natesan, Madras)

A. Govindacharya—Life of Ramanuja-charya, Madras, 1906

Otto Schrader—Introduction to the Pancharatra and theAhirbudhnya Samhita, Adyar Library, Madras, 1916.

V. Rangachary—Heritage of Indian Culture, (Vol II pp. 69-103) Calcutta

माध्वमत

Padmanabhacharya—Life and Teachings of Sri Madhva, Natesan, Madras.

Nagaraja Sharma—Reign of Realism in Indian Philosophy, Madras.

C. R. krishna Rao—Sri Madhva : Life and Teachings, Madras.

वल्लभसंप्रदाय

Bhai Manilal Parekh—Shri Vallabhacharya, Shri Bhagavata Dharma Mission, Rajkot, 1943.

—Shri Swami Narayan Rajkot, 1941.

दीनदयालु गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, सं० २००४

सहजिया वैष्णवधर्म

Manindra Mohan Bose—Post - chaitanya Sahajia Cult of Bengal (Calcutta University, 1930)

Dr. S. Dasgupta—Obscure Religious Sects of Bengal (Calcutta University, 1940)

चैतन्यमत

D. C. Sen—Vaishnava Litrature of Mediaeval Bengal (Calcutta, 1917)

" —Chaitanya and his Companions (Calcutta 1917)

Jadunath Sarkar—Chaitanya's Pilgrimages and Teaching (Calcutta, 1911)

M. T. Kennedy—The Chaitanya Movement, The Religions Life of India Series, Calcutta, 1925.

हरिदास दास—श्री गौडीय वैष्णव साहित्य (बँगला), हरिबोल कुटीर नवद्वीप, ४६२ चैतन्याब्द ।

G. N. Mallick—Philosophy of the Vaishnva Religion. Lahore, 1923,

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—चैतन्य चरितावली (५ भाग), गीता प्रेस गोरखपुर ।

S. K. De.—Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal, General Printers and Publishers, Calcutta.

भक्ति विनोद—जैवधर्म (बंगला), श्री सनातन गौडीय मठ, कलकत्ता

उत्कल में वैष्णव धर्म

Nagendra Nath Vasu—Modern Buddhism and its followers in Orissa, Calcutta 1911.

Prabhat Mukerjee—Mediaeval Vaishnavism in Orissa, Calcutta. 1940

प्रो० चित्तरंजन दास—उत्कल साहित्य में पंचसखा, जनवाणी पत्रिका काशी, १९५० अप्रैल।

महापुरुषिया धर्म

Harmohan Das—Shankerdeva : A Study

मेधी—'असम के व्रजबुलि साहित्य का दार्शनिक स्वरूप'—संमेलन पत्रिका, भाग ३०, सं० ६-७ और ११-१२। सं० १९९९ तथा सं० २०००, प्रयाग।

महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म

R. D. Ranade—Mysticism in Maharashtra, Poona, 1933.

पांगारकर—ज्ञानेश्वर चरित्र, गीताप्रेस, गोरखपुर

" —एकनाथ चरित्र "

" —तुकाराम चरित्र "

यशवन्त देशपांडे—महानुभावीय मराठी वाङ्मय
„ „—महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, भाग १८
(महानुभाव पंथ)
दाण्डेकर—महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, भाग २० (वारकरी पंथ)
Baldeva Upadhyaya—Varkaris, thc foremost Vaishnava Sect of Maharashtra.
(I. H. Q. Vol XV, 1939)

———

नामानुक्रमणिका